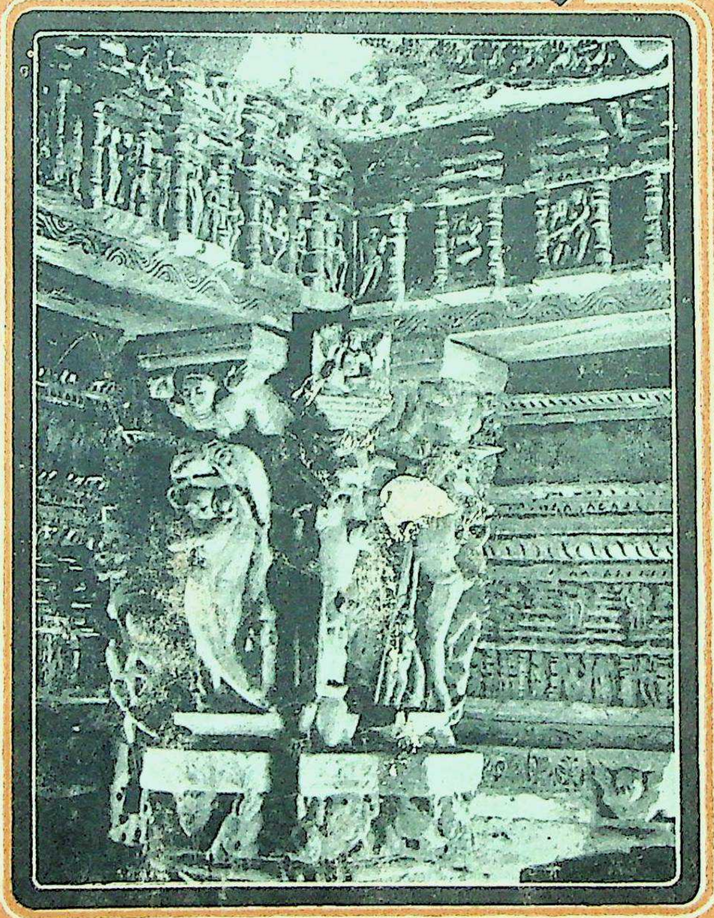
मध्य देश



डा॰ धीरेन्द्र वर्मा

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना

मध्यदेश

ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन

धीरेंद्र वर्मा



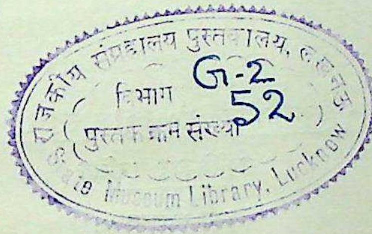
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना


राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
विभाग G-2
पुस्तक क्रम संख्या 52
State Museum Library, Lucknow

मध्यदेश

ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन

धीरेंद्र वर्मा



बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

Rs. 7.00

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

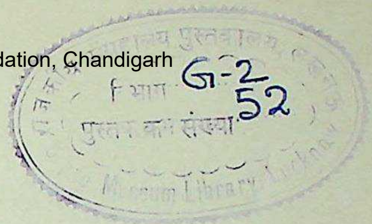
प्रथम संस्करण; वि० सं० २०१२, सन् १९५५ ई०

मूल्य सजिल्द ७)

934

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

अपने अत्यंत उज्वल इतिहास
तथा
असाधारण शक्ति के प्रति उदासीन
मध्यदेश
के
जनपदवासियों
को
एक मध्यदेशवासी
द्वारा



वक्तव्य

बिहार-राज्य के शिक्षा-विभाग के अन्तर्गत बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से प्रतिवर्ष विशिष्ट विद्वानों के भाषण उन विषयों पर कराये जाते हैं, जिनका अध्ययन-मनन उन्होंने विशेष अभिरुचि से किया है।

प्रयाग-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागाध्यक्ष डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा बहुत दिनों से मध्यदेश के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक महत्व के सम्बन्ध में गवेषणा कर रहे थे। जब परिषद् ने अपनी भाषण-माला में व्याख्यान देने के लिए उन्हें आमंत्रित किया तब उन्होंने अपने अधिकृत विषय पर भाषण करना स्वीकार कर लिया। तदनुसार उन्होंने पटना पधारकर, सन् १९५४ ई० के १४--१५ नवम्बर को, बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभा-भवन में, अपने अन्वेषित विषय पर जो भाषण किया, वही इस पुस्तक में प्रकाशित है। इस पुस्तक के पढ़ने से स्वभावतः ऐसी धारणा होती है कि जिस प्रकार इस पुस्तक में भारत राष्ट्र के हृदय 'मध्यदेश' का अध्ययन उपस्थित किया गया है, उसी प्रकार यदि भारत के अन्यान्य प्रदेशों अथवा जनपदों का भी हिन्दी में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सिंहावलोकन किया जाय, तो समस्त राष्ट्र का आध्यात्मिक रूप साहित्य के दर्पण में झलक सकता है। विद्वान् लेखक ने भी, इस पुस्तक के आरम्भ में ही, इस बात की ओर संकेत किया है। उन्होंने मध्यदेश को प्राचीन आर्यावर्त्त का मध्यभाग अथवा हिन्दीप्रदेश लिखा है। 'शब्दकल्पद्रुम' में भी आर्यावर्त्त का अर्थ 'विन्ध्य-हिमालयोर्मध्यदेशः' है और 'अमरकोष' भी यही अर्थ बतलाता है—'आर्यावर्त्तः पुण्यभूमि-र्मध्यं विन्ध्यहिमालयोः'। यह अर्थ-परम्परा भगवान मनु के समय से ही प्रचलित है। मनुस्मृति के दूसरे अध्याय का बाईसवाँ श्लोक है—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥२२॥

किन्तु इक्कीसवें श्लोक में मध्यदेश की परभिाषा और भी स्पष्ट है—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेवप्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः॥२१॥

इसमें जो 'विनशन' शब्द है, उसका अर्थ संस्कृतकोशकारों ने 'हस्तिनापुर से उत्तर-पश्चिम का देश' माना है। उस (विनशन) देश से पूर्व का और प्रयाग से पश्चिम का देश (हिमाचल-विन्ध्याचल के बीच में) मध्यदेश कहलाता है। इस पुस्तक के आरम्भ में मध्यदेश के प्रधान जन-पदों का जो विभाजन उनकी बोलियों के आधार पर किया गया है उससे 'हिन्दीप्रदेश' नाम भी सार्थक

प्रमाणित होता है। साथ ही, आर्यावर्त्त और मध्यदेश में कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता। यहाँ तक कि भगवान मनु के कहे हुए 'ब्रह्मर्षि' और 'ब्रह्मावर्त्त' देश भी पूर्वोक्त परिभाषाओं के अन्तर्गत दीख पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में मनु जी का यह प्रसिद्ध श्लोक मध्यदेश पर भी लागू होता है——

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥२०॥

ऐसे महत्वपूर्ण देशखण्ड के जनपदों, साम्राज्यों, राजवंशों, प्रजावर्ग के सामाजिक जीवन की विशेषताओं और साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उत्कर्षों का विशद वर्णन करने में लेखक को जो सफलता मिली है, वह प्रशंसनीय तो है ही, अनुकरणीय भी है।

आशा है कि यह पुस्तक अपनी प्रामाणिक पाठ्यसामग्री और स्वाभाविक रोचकता के कारण हिन्दी-पाठकों के ज्ञानवर्द्धन तथा मनोरंजन में सहायक होगी। यदि इससे विद्वानों को अन्यान्य प्रदेशों के भी ऐसे ही अध्ययन हिन्दी में उपस्थित करने की प्रेरणा मिली, तो परिषद् अपने इस प्रयास को सार्थक समझेगी।

शिवपूजन सहाय
(परिषद्-मंत्री)

विजयादशमी, संवत् २०१२

प्राक्कथन

नवंबर १९५४ में विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् म दिए गए मेरे चार व्याख्यान प्रस्तुत पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं। इस पुस्तक के संबंध में नवीन सामग्री अथवा मौलिक खोज का दावा करना अनुचित होगा। अधिकांश सामग्री का आधार प्रकाशित साहित्य है। किंतु विशेष दृष्टिकोण उपस्थित करने का इसमें अवश्य प्रयास किया गया है। इनमें निम्न-लिखित मुख्य हैं—

१. भारतवर्ष की इकाई अनेक इकाइयों से बनी है। इस पुस्तक में पहली वार मध्यदेश अथवा हिंदी-प्रदेश की इकाई की ओर इतने स्पष्ट और क्रमबद्ध रूप में हिंदी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया गया है।

२. मध्यदेश की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सामग्री का चार युगों में विभाजन भी कुछ विशेषता रखता है, अर्थात् १. जनपद-युग, २. साम्राज्य-युग, ३. राजवंश-युग तथा ४. विदेशी संघर्ष-युग। यह विभाजन भारतवर्ष के इतिहासों में पाए जाने वाले काल विभाजनों की अपेक्षा कदाचित् अधिक तर्कपूर्ण तथा तथ्य के अधिक निकट है।

३. पुस्तक में वर्णित प्राचीन सांस्कृतिक जीवन से संबंध रखने वाली सामग्री का संकलन मौलिक साहित्य से सीधे किया गया है। अंग्रेजी अथवा हिंदी अध्ययनों से यह नहीं ली गई है। संहिताओं तथा पाली साहित्य के विशेष पारायण का परिणाम पुस्तक में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होगा।

४. प्राचीन साहित्य से विस्तृत उदाहरण पुस्तक में जानबूझ कर दिए गए हैं, विशेषतया ऐसे साहित्य से जिससे वर्तमान पठित समाज का संपर्क प्रायः छूट-सा गया है। इसी दृष्टिकोण के कारण संहिताओं से समकालीन जीवन से संबंधित विस्तृत उदाहरण दिए गए हैं, उपनिषदों से नहीं। इसी प्रकार पाली-बौद्ध-साहित्य से बहुत-सी सामग्री दी गई है, संस्कृत-काव्य-साहित्य से नहीं।

५. पुस्तक में मध्यदेशीय संस्कृति के भिन्न-भिन्न अंगों—राजनीति, धर्म, साहित्य, समाज आदि—को अधिक संतुलित रूपरेखा देने का प्रयास किया गया है और इन अंगों का अन्योन्य संबंध भी स्पष्ट करने का यथासंभव यत्न किया गया है।

६. मध्यदेश के इतिहास के दिग्दर्शन में लेखक का दृष्टिकोण स्पष्टतया एक आधुनिक मध्यदेशवासी का है। भारत अथवा भारत के भिन्न-भिन्न भागों के इतिहास प्रायः अंग्रेजों अथवा अंग्रेजी पढ़े भारतीयों के दृष्टिकोण से लिखे गए हैं। इतिहास का उद्देश्य निःसंदेह सत्य का अन्वेषण करना है; किंतु इस अन्वेषण के संबंध में अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं। शिकार

प्रमाणित होता है। साथ ही, आर्यावर्त्त और मध्यदेश में कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता। यहाँ तक कि भगवान मनु के कहे हुए 'ब्रह्मर्षि' और 'ब्रह्मावर्त्त' देश भी पूर्वोक्त परिभाषाओं के अन्तर्गत दीख पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में मनु जी का यह प्रसिद्ध श्लोक मध्यदेश पर भी लागू होता है—

एतद्देशप्रसूतस्य - सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।२०।।

ऐसे महत्वपूर्ण देशखण्ड के जनपदों, साम्राज्यों, राजवंशों, प्रजावर्ग के सामाजिक जीवन की विशेषताओं और साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उत्कर्षों का विशद वर्णन करने में लेखक को जो सफलता मिली है, वह प्रशंसनीय तो है ही, अनुकरणीय भी है।

आशा है कि यह पुस्तक अपनी प्रामाणिक पाठ्यसामग्री और स्वाभाविक रोचकता के कारण हिन्दी-पाठकों के ज्ञानवर्द्धन तथा मनोरंजन में सहायक होगी। यदि इससे विद्वानों को अन्यान्य प्रदेशों के भी ऐसे ही अध्ययन हिन्दी में उपस्थित करने की प्रेरणा मिली, तो परिषद् अपने इस प्रयास को सार्थक समझेगी।

शिवपूजन सहाय
(परिषद्-मंत्री)

विजयादशमी, संवत् २०१२

प्राक्कथन

नवंबर १९५४ में विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् म दिए गए मेरे चार व्याख्यान प्रस्तुत पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं। इस पुस्तक के संबंध में नवीन सामग्री अथवा मौलिक खोज का दावा करना अनुचित होगा। अधिकांश सामग्री का आधार प्रकाशित साहित्य है। किंतु विशेष दृष्टिकोण उपस्थित करने का इसमें अवश्य प्रयास किया गया है। इनमें निम्न-लिखित मुख्य हैं—

१. भारतवर्ष की इकाई अनेक इकाइयों से बनी है। इस पुस्तक में पहली वार मध्यदेश अथवा हिंदी-प्रदेश की इकाई की ओर इतने स्पष्ट और क्रमवद्ध रूप में हिंदी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया गया है।

२. मध्यदेश की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सामग्री का चार युगों में विभाजन भी कुछ विशेषता रखता है, अर्थात् १. जनपद-युग, २. साम्राज्य-युग, ३. राजवंश-युग तथा ४. विदेशी संघर्ष-युग। यह विभाजन भारतवर्ष के इतिहासों में पाए जाने वाले काल विभाजनों की अपेक्षा कदाचित् अधिक तर्कपूर्ण तथा तथ्य के अधिक निकट है।

३. पुस्तक में वर्णित प्राचीन सांस्कृतिक जीवन से संबंध रखने वाली सामग्री का संकलन मौलिक साहित्य से सीधे किया गया है। अंग्रेजी अथवा हिंदी अध्ययनों से यह नहीं ली गई है। संहिताओं तथा पाली साहित्य के विशेष पारायण का परिणाम पुस्तक में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होगा।

४. प्राचीन साहित्य से विस्तृत उदाहरण पुस्तक में जानबूझ कर दिए गए हैं, विशेषतया ऐसे साहित्य से जिससे वर्तमान पठित समाज का संपर्क प्रायः छूट-सा गया है। इसी दृष्टिकोण के कारण संहिताओं से समकालीन जीवन से संबंधित विस्तृत उदाहरण दिए गए हैं, उपनिषदों से नहीं। इसी प्रकार पाली-बौद्ध-साहित्य से बहुत-सी सामग्री दी गई है, संस्कृत-काव्य-साहित्य से नहीं।

५. पुस्तक में मध्यदेशीय संस्कृति के भिन्न-भिन्न अंगों—राजनीति, धर्म, साहित्य, समाज आदि—को अधिक संतुलित रूपरेखा देने का प्रयास किया गया है और इन अंगों का अन्योन्य संबंध भी स्पष्ट करने का यथासंभव यत्न किया गया है।

६. मध्यदेश के इतिहास के दिग्दर्शन में लेखक का दृष्टिकोण स्पष्टतया एक आधुनिक मध्यदेशवासी का है। भारत अथवा भारत के भिन्न-भिन्न भागों के इतिहास प्रायः अंग्रेजों अथवा अंग्रेजी पढ़े भारतीयों के दृष्टिकोण से लिखे गए हैं। इतिहास का उद्देश्य निःसंदेह सत्य का अन्वेषण करना है; किंतु इस अन्वेषण के संबंध में अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं। शिकार

का शिकारी की दृष्टि से वर्णन सत्यका एक पहलू है, किंतु बेचारे हिरन अथवा सिंह की दृष्टि से वर्णन सत्य का ही एक दूसरा पहलू हो सकता है।

मध्यदेश की संस्कृति के अध्ययन की प्रेरणा विद्यार्थी-जीवन में ही मुझे अपने पूज्य पिता जी से मिली थी। इसी के फलस्वरूप मैंने उसी समय दो निबंध लिखे थे :—१. मध्यदेश का विकास, और २. हिंदी की बोलियां तथा प्राचीन जनपद। ये 'विचारधारा' शीर्षक मेरे निबंध-संग्रह में संकलित हैं। "हिंदी राष्ट्र अथवा सूबा हिंदुस्तान" शीर्षक मेरे लेखों का संकलन भी इसी प्रेरणा का एक परिणाम था। मेरा विचार मध्यदेश का एक विस्तृत सांस्कृतिक इतिहास लिखने का था। कई वर्ष पूर्व मैंने इसकी रूपरेखा तैयार की थी तथा कुछ सामग्री एकत्र की थी, किंतु यह ग्रंथ पूरा नहीं हो सका। प्रस्तुत पुस्तक इसी रूपरेखा तथा अधूरी सामग्री का सुसंबद्ध रूप मात्र है।

प्राचीन साहित्य के हिन्दी-उद्धरण मैंने प्रायः आवश्यक संशोधनों के साथ प्रकाशित प्रामाणिक हिंदी अनुवादों से लिये हैं, जैसे ऋग्वेद का पं० रामगोविन्द त्रिवेदी तथा पं० गोपीनाथ झा का अनुवाद, पाली-साहित्य के श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा किए गए तथा महाबोधि-सभा (सारनाथ) द्वारा प्रकाशित अनुवाद इत्यादि। ऐसे अनेक अन्य हिंदी अनुवादों के नाम यथास्थान दे दिए गए हैं। संभव है, कुछ का उल्लेख न हो सका हो। पुस्तक के प्रूफ़ देखने में मेरे प्रिय मित्र श्री रामचन्द्र टंडन ने अपना अमूल्य समय देकर मेरा हाथ बंटाया। पुस्तक में दिए चित्रों में से कुछ प्रोफेसर लेवी की फ्रेंचमें प्रकाशित चित्रावली 'ओजेंद सैंक्तुएर' से लिये गए हैं, हिमालय का प्रथम चित्र श्रीरामचन्द्र टंडन से प्राप्त हुआ तथा गंगा जी के कुछ चित्र स्वामी शिवानन्द जी के आश्रम से मेरे शिष्य श्री हरिदत्त डेवरानी ने प्राप्त करके भेजे। इस सहायता के लिए मैं उपर्युक्त सब सज्जनों का अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

मध्यदेश के इस राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन को प्रकाश में लाने का मुख्य श्रेय बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को है। पटना में व्याख्यान देने के लिए परिषद् के स्नेहपूर्ण निमंत्रण को मैं बारबार टाल नहीं सका। इन व्याख्यानों का आयोजन करने तथा इन्हें प्रकाशित करने के लिए मैं परिषद् के प्रति आभार प्रदर्शन करता हूँ।

पुस्तक में मध्यदेश से संबंधित कुछ मानचित्र भी दिए गए हैं। आशा है, पाठकगण इन्हें उपयोगी पाएंगे।

प्रयाग
अक्तूबर, १९५५

धीरेन्द्र वर्मा

विषय-सूची

चित्र

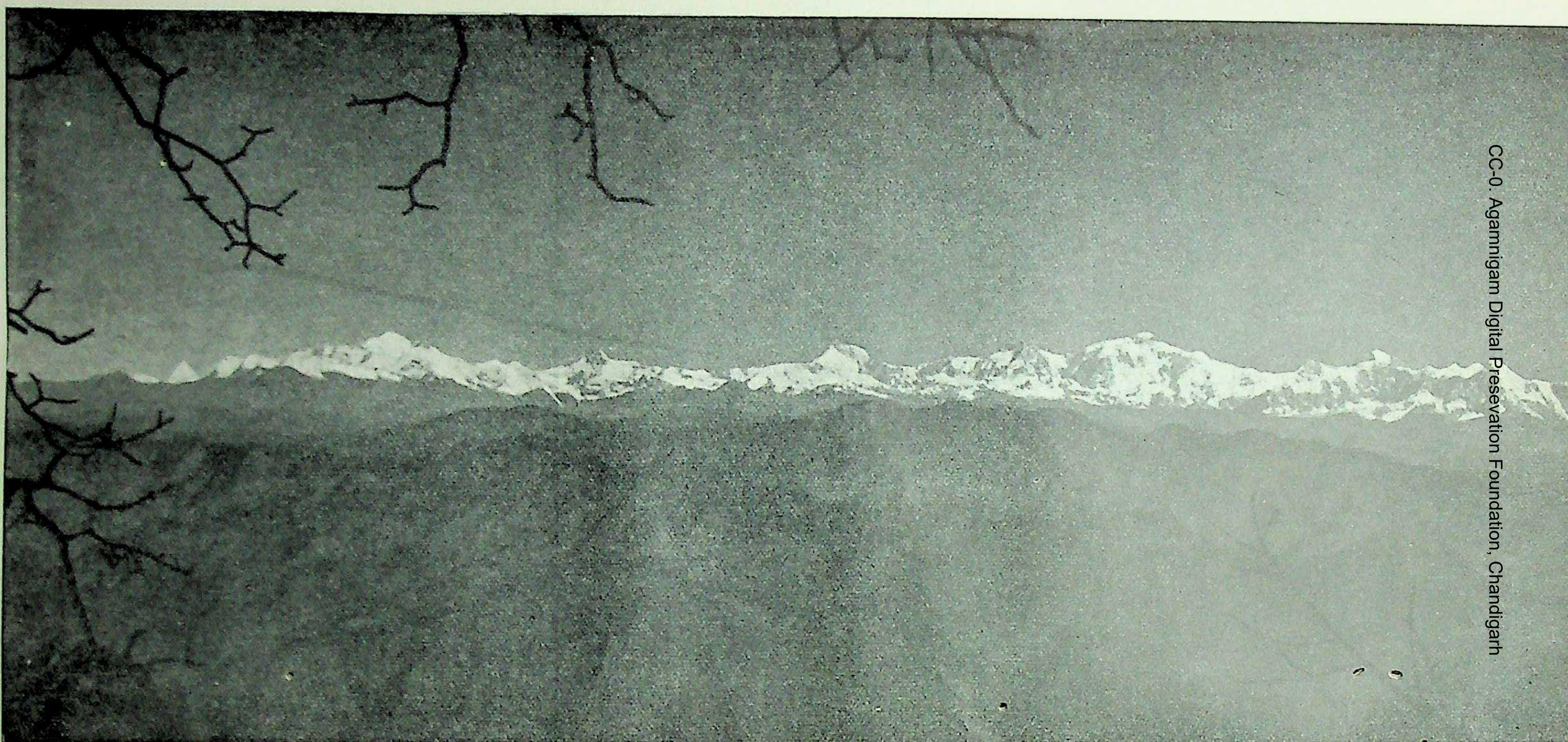
पृष्ठ

मानचित्र


मध्यदेश
प्राकृतिक मानचित्र
कैलाश
मानसरोवर
नन्दादेवी
धवलागिरि
गौरीशंकर
घग्घर
सरस्वती
यमुना
रामगंगा
गङ्गा
सरयू
राप्ती
गण्डक
गोमती
कोसी
लूनी
आबू
चम्बल
सिन्ध
बेतवा
केन
सोन
नर्मदा
सतपुरा
महानदी
पहाड़ी भाग - १००० फुट से अधिक
मैदान - १०० फुट तक
मध्यदेश की सीमा

मध्यदेश

ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन



हिमालय की अखंड शृंखला

विषय-प्रवेश

भारतवर्ष के प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास में उत्तरभारत आर्यावर्त के नाम से प्रसिद्ध था। मनुस्मृति के अनुसार आर्यावर्त का विस्तार उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विंध्य-पर्वत, तथा पूर्व और पश्चिम में समुद्र तक था। आर्यावर्त के पाँच स्वाभाविक भौगोलिक भाग माने जाते थे—उदीची (उत्तर), प्रतीची (पश्चिम), प्राची (पूर्व), दक्षिण और मध्य। आर्यावर्त का यह मध्यभाग ही मध्यदेश कहलाता था। लगभग बारहवीं शताब्दी तक के साहित्य में इस नाम का प्रयोग निरंतर हुआ है। इसके बाद इसका प्रयोग कम होता गया।

उत्तरभारत में आर्य-संस्कृति के विस्तार के साथ आर्यावर्त की सीमाओं का भी विस्तार हुआ था और उसी के साथ आर्यावर्त के मध्यदेश की सीमाएँ भी स्थिर नहीं रहीं। ऐतरेय ब्राह्मण (३८, ३) में आर्यावर्त के उपर्युक्त पाँच भागों का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है और इसके अनुसार 'मध्यदिशा' के अंतर्गत केवल कुरु, पंचाल, वश और उशनीर जनपद थे। इसका तात्पर्य यह है कि प्रारंभ में मध्यदेश वर्तमान कानपुर तक की गंगा की घाटी का द्योतक था। मनुस्मृति (२, २१) के अनुसार मध्यदेश की पूर्वी सीमा प्रयाग थी। विनयपिटक (महावग्ग ५, १३, १२) के अनुसार मध्यदेश का विस्तार पश्चिम में थानेश्वर से लेकर पूर्व में भागलपुर के निकट तक था। उत्तर और दक्षिण में बराबर हिमालय और विंध्य-पर्वत मध्यदेश की सीमा-स्वरूप रहे।

वराहमिहिर की बृहत्संहिता (संवत् ६४४) में मध्यदेश के मुख्य जनपद कुरु, पंचाल, शूरसेन, मत्स्य और वत्स गिनाये गये हैं। वत्स जनपद की राजधानी कौशांबी थी, जो इलाहाबाद ज़िले में पड़ती है। इस समय के विदेशी यात्रियों ने भी मध्यदेश का उल्लेख किया है। फ़ाहियान (संवत् ४५७) के अनुसार मध्यदेश मथुरा जनपद से प्रारंभ हो जाता है, किंतु उसने मध्यदेश की पूर्वी सीमा का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। अलबेरुनी (संवत् १०८७) ने कन्नौज के चारों ओर के देश को मध्यदेश कहा है। मध्यदेश की निश्चित सीमाओं को उसने भी स्पष्ट नहीं किया है। इसके उपरांत मुसलमान शासकों ने मध्यदेश के स्थान पर भागलपुर तक की गंगा की घाटी के लिए 'हिंदुस्तान' शब्द का प्रयोग किया है। 'हिंदुस्तान' के अंतर्गत वे साधारणतया पंजाब, बंगाल अथवा दक्खिन को सम्मिलित नहीं करते थे।

आधुनिक काल में मध्यदेश के स्थान पर कोई नवीन नाम प्रचलित नहीं हो सका। आजकल इसे हम साधारणतया 'हिंदीप्रदेश' कह सकते हैं। अंग्रेज़ी शासकों ने मध्यदेश अथवा हिंदीप्रदेश को धीरे-धीरे जीता था और उसी क्रम से वे इसके अनेक छोटे-बड़े प्रांत बनाते गये थे जिनके पीछे कोई प्राचीन सांस्कृतिक परंपरा अथवा तर्क नहीं था। ये शासन-संबंधी विभाग अभी भी लगभग उसी

रूप में चल रहे हैं और निम्नलिखित हैं:—विहार, उत्तरप्रदेश, विंध्यप्रदेश, मध्यप्रदेश, मध्य-भारत, भूपाल, राजस्थान, अजमेर, दिल्ली, पूर्वी पंजाब और हिमांचल-प्रदेश। मध्यदेश के इन राज्यों की जनसंख्या लगभग १५ करोड़ है। विधान के अनुसार इन सब राज्यों की राजभाषा हिंदी मानी गई है। मध्यदेश अथवा वर्तमान हिंदीप्रदेश के इन लगभग एक दर्जन राज्यों को अधिक स्वाभाविक रूप में संगठित करने के संबंध में अभी तक गंभीर विचार नहीं हुआ है, यद्यपि भारतवर्ष की अन्य भाषाओं के प्रदेशों के स्वाभाविक राज्यों के निर्माण की चर्चा निरंतर होती है और उनमें से कुछ के पृथक् राज्य बन भी चुके हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से मध्यदेश भारतीय आर्य-संस्कृति का अत्यंत प्राचीन केंद्र है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार आर्य-राजवंशों के मूलपुरुष मनु थे, जिनकी राजधानी अयोध्या थी। मनु सूर्यवंश के संस्थापक माने जाते हैं। दूसरे प्रसिद्ध आर्य-राजवंश—चंद्रवंश—के संस्थापक पुरुरवा थे, जिनकी राजधानी प्रतिष्ठानपुर वर्तमान प्रयाग के निकट थी। पुराणों के अनुसार सूर्यवंश तथा चंद्रवंश से ही भारतवर्ष के समस्त आर्य-राजवंशों का विकास हुआ, अर्थात् अयोध्या तथा प्रयाग के केंद्रों से आर्यराज्य समस्त आर्यावर्त तथा भारतवर्ष में फैले। पौराणिक अनुश्रुति की अपेक्षा वैदिक साहित्य में पाये जाने वाले उल्लेख अधिक प्राचीन और प्रामाणिक माने जा सकते हैं। उनके अनुसार आर्यों का प्रारंभिक निवास-स्थान मध्यदेश के मध्य में न होकर उसकी पश्चिमोत्तर सीमा पर सरस्वती नदी के निकटवर्ती प्रदेश से गंगा की घाटी के उत्तरी भाग तक फैला था। यही प्रदेश बाद को कुरुपंचाल जनपदों के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रदेश से आर्य-संस्कृति चारों ओर फैली।

यूरोपीय विद्वानों का यह मत अत्यंत चिंत्य है कि आर्यों का मूल निवास-स्थान भारत में पंजाब में था, तथा पंजाब में वे भारत के बाहर से मध्य-एशिया अथवा पूर्वी यूरोप से आये थे। ऋग्वेद के लगभग १००० सूक्तों में से केवल दो-तीन सूक्तों में पंजाब की नदियों के उल्लेख हैं, और यदि इन सूक्तों को ध्यान से पढ़ा जाय तो यह मालूम होता है कि मध्यदेश से ही कोई आक्रमण पंजाब की ओर हुआ था और उसी की स्मृति इन सूक्तों में सुरक्षित है। इन दो-तीन सूक्तों के विरुद्ध ऋग्वेद में सैकड़ों सूक्त ऐसे हैं जिनके ऋषि तथा जिनमें उल्लिखित राजा अनुश्रुति के अनुसार मध्यदेश से संबंध रखते थे। इसके अतिरिक्त यूरोपीय विद्वानों के अनुसार भी आर्यों की संस्कृति का प्राचीनतम तथा शुद्धतम रूप भारत में मध्यदेश में ही मिलता है। इसकी तुलना में ईरानी अथवा यूरोपीय आर्य अवशेष बहुत बाद के हैं, और आर्यावर्त के मध्यदेश से जितने ही वे दूर होते जाते हैं उतने ही वे अधिक विकृत अवस्था में पाये जाते हैं। ईरानी संस्कृति मध्य-देशीय संस्कृति के अधिक निकट है, ग्रीक उससे दूर, जर्मन और भी अधिक दूर। इससे भी साधारणतया यही अनुमान होता है कि आर्य-संस्कृति का केंद्र भारत में मध्यदेश में था और इसका प्रभाव पश्चिम में तथा अन्य दिशाओं में यहां से ही फैला था।

भारत तथा आर्यावर्त में भी प्राचीनतम काल से आर्य-संस्कृति का प्रधान केंद्र मध्यदेश ही रहा है। वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रंथों तथा उपनिषदों की रचना यहां ही हुई। रामायण

और महाभारत का संबंध मध्यदेश से ही है। राम और कृष्ण की क्रीडा-स्थलियां—अयोध्या और व्रज—मध्यदेश में ही हैं। आदिकवि वाल्मीकि का आश्रम उत्तरप्रदेश में बाँदा ज़िले में तमसा (टोंस) के तट पर था। गीता का उपदेश कुरुक्षेत्र में दिया गया था। महाभारत तथा पुराणों की कथा अनुश्रुति के अनुसार नैमिषारण्य (उत्तरप्रदेश, ज़िला सीतापुर) में कही गई थी। बौद्ध तथा जैन सुधारों के प्रवर्तक गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी ने पूर्व-मध्यदेश में जन्म लिया, प्रचार किया तथा निर्वाण को प्राप्त हुए। वर्तमान विहार उनका प्रधान कार्यक्षेत्र रहा। मौर्य तथा गुप्त साम्राज्य मध्यदेश के ही साम्राज्य थे। विदेशी, तुर्की, मुग़ल तथा अंग्रेज़ शासकों को भी अपने साम्राज्यों का केंद्र मध्यदेश में ही दिल्ली (प्राचीन इंद्रप्रस्थ) को बनाना पड़ा और आज भी भारतवर्ष की राजधानी यहां ही है। प्रधान साहित्यिक आर्य भाषाओं, जैसे संस्कृत, पाली, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, व्रजभाषा आदि का घर मध्यदेश में था। खड़ीबोली हिंदी का संबंध भी यहां ही से है। अतः किसी भी दृष्टि में से देखा जाय तो भारतीय आर्य-संस्कृति के इतिहास में मध्यदेश का असाधारण महत्व है।

प्राचीन मध्यदेश अनेक जनपदों में बँटा था। इनका अस्तित्व आज भी है। इनका व्यक्तित्व हिंदी की प्रधान बोलियों की सीमाओं के रूप में स्पष्टतया दिखलाई पड़ता है। बोली के अतिरिक्त ये विशेषताएं प्रादेशिक जातियों, रस्म-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, आदि में भी दिखलाई पड़ती हैं। इनका अध्ययन अभी नहीं हुआ है। मध्यदेश के प्रधान जनपद निम्नलिखित थे। प्रत्येक के आगे कोष्ठक में वर्तमान बोली का नाम भी दे दिया गया है:—१. कुरु (खड़ीबोली), २ पंचाल (कन्नौजी), ३. शूरसेन (व्रजभाषा), ४. कोसल (अवधी), ५. काशी (भोजपुरी), ६. विदेह (मैथिली), ७. मगध (मगही), ८. अंग, ९. दक्षिण कोसल (छत्तीसगढ़ी), १०. वत्स (बघेली), ११. चेदि (बुंदेली), १२. अवंति (मालवी), १३. मत्स्य (जयपुरी)। पहाड़ी भाषाओं तथा मारवाड़ी और मेवाती बोलियों के प्राचीन जनपदों के नाम कुछ संदिग्ध हैं। अतः वर्तमान समय में हिंदी की बोलियों के क्षेत्रों में जो प्रादेशिक भावना जाग्रत् हो रही है उसके पीछे कुछ ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक कारण भी हैं। मध्यदेश के प्राचीन इतिहास को समझ कर इस भावना को ठीक दिशा में अग्रसर करने की आवश्यकता है। प्राचीन जनपदों के समान आज प्रत्येक हिंदी की बोली का पृथक् राज्य बने, यह वर्तमान देशकाल की दृष्टि से अवश्यंभावी नहीं होना चाहिए।

जो हो भारतवर्ष में मध्यदेश अर्थात् वर्तमान हिंदीप्रदेश की एक ऐसी इकाई है जिसका देश के इतिहास में असाधारण महत्व है और जिसका एक अपना विशेष व्यक्तित्व है। इस दिशा में यह पुस्तक एक प्रारंभिक प्रयास के रूप में है। यदि भारतवर्ष के बंगाल, गुजरात, असम, महाराष्ट्र, आंध्र, तमिल आदि प्रदेशों का पृथक् अध्ययन उचित है, तो भारतवर्ष के हृदय मध्यदेश के इतिहास और संस्कृति के अध्ययन से संबंधित यह प्रथम प्रयास अनुचित नहीं समझा जाना चाहिए।

जनपद-युग

(लगभग २४०० पू० ई० से ६०० पू० ई० तक)

मध्यदेश

प्राचीन स्थान

कुरुक्षेत्र
स्थानेश्वर
पानीपत
हस्तिनापुर
इन्द्रप्रस्थ
संभल
अहिच्छत्र
श्रावस्ती
नैमिषारण्य
कपिलवस्तु
कुशीनार
राप्ती
गण्डक
यमुना
वृन्दावन
मथुरा
गङ्गा
आमर
काम्पिल
अयोध्या
सरयू
कान्यकुब्ज
जनकपुर
काल्पी
वैशाली
कोसी
गोमती
प्रतिष्ठानपुर
काशी
पाटलिपुत्र
गङ्गा
नरवर
बेतवा
कौशाम्बी
प्रयाग
नालन्द
राजगृह
चम्पा
चित्तौड़
चम्बल
सिन्ध
केन
चित्रकूट
कालिञ्जर
गया
बोधगया
सोन
रांची
भिलसा
सांची
उज्जैन
नर्मदा
ताप्ती
महानदी
पश्चिम समुद्र
पूर्व समुद्र
हि मा ल य
अ र व ली
प
म ध्य दे श
वि न्ध्या च ल

मध्यदेश की सीमा

१. जन, जनपद, महाजनपद

प्राचीनतम ऐतिहासिक उल्लेखों के अनुसार मध्यदेश के आर्य लोग 'जन' अथवा समुदायों या गिरोहों में संगठित थे। एक आर्य जन के सब लोग अपने को 'सजात' अर्थात् किसी एक मूल पुरुष से उत्पन्न समझते थे। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'पंचजन' शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि आर्यों के मूल प्रधान 'जन' केवल पाँच कदाचित् पुरु, यदु, अनु, द्रुह्यु और तुर्वश थे। बाद को धीरे-धीरे ये ही अनेक आर्य जनों के रूप में विकसित हुए। कुछ गौण जनों के उल्लेख भी साथ-साथ मिलते हैं।

जनों की राष्ट्रीय भूमियां 'जनपद' कहलाने लगीं। जनपद की साधारण जनता 'विश्' कहलाती थी। यह 'ग्रामों' अर्थात् अनेक कुलों के समूहों में संगठित थीं। किसी जन के ये ग्राम जहां बस जाते थे वे स्थान भी ग्राम कहलाने लगते थे। युद्ध के लिए एकत्र ग्रामों के समूह से ही युद्ध के लिए 'संग्राम' संज्ञा पड़ी। ग्रामों का मुखिया 'ग्रामणी' कहलाता था। प्रत्येक ग्राम में अनेक 'कुल' होते थे। वर्तमान 'वैश्य' 'गाँव' और 'कुल' शब्द इन प्राचीन 'विश्', 'ग्राम' और 'कुल' संस्थाओं के ही परिवर्तित रूप हैं। प्रत्येक जनपद का एक 'पुर' अथवा प्रधान नगर होता था जहां जनपद का राजा रहता था, फलस्वरूप जनपद की शक्ति तथा संस्कृति का यही केंद्र होता था। प्रत्येक जन या विश् को राजनीतिक संगठन की दृष्टि से 'राष्ट्र' की संज्ञा दी जाती थी।

जनपद का राजा प्रायः दो संस्थाओं तथा कुछ अधिकारियों की सहायता से जनपद की रक्षा तथा न्याय की व्यवस्था करता था। राजा को सहायता देनेवाली ये संस्थायें वैदिक साहित्य में 'सभा' और 'समिति' कहलाती थीं। 'सभा' कदाचित् पुरवासियों की संस्था थी जो बाद को संभवतः 'पौर' कहलाने लगी थी। 'समिति' जनपद के ग्रामों के प्रतिनिधियों की संस्था थी और यह आगे चल कर 'जानपद' के नाम से पुकारी जाने लगी। नित्यप्रति की शासन-व्यवस्था में सहायता देने के लिए एक प्रकार का मंत्रिमंडल होता था जिसके प्रधान सदस्य पुरोहित, सेनापति और ग्रामणी थे। मंत्रिमंडल के सदस्यों की संख्या आवश्यकतानुसार धीरे-धीरे बढ़ती गई थी।

राजा का बड़ा पुत्र प्रायः जनपद के शासन का उत्तराधिकारी होता था, किंतु उसका निर्वाचन मंत्रिमंडल तथा पौर और जानपद के परामर्श और स्वीकृति से होता था। प्राचीन साहित्य में इस बात के अनेक उदाहरण मिलते हैं कि जनपद की जनता ने अन्यायी राजा को हटा दिया अथवा ज्येष्ठ पुत्र के उपयुक्त न होने पर किसी छोटे भाई अथवा राजकुल के किसी अन्य व्यक्ति को राजा के स्थान पर निर्वाचित किया। मध्यदेश के प्राचीन जनपद स्वाभाविक इकाई वाले छोटे-छोटे जीवित राष्ट्र थे। अतः इनके संबंध में निरंकुश शासक अथवा विदेशी शासक

की कल्पना करना भी असंभव है। मध्यदेश के सीमाप्रांत के प्रदेशों में कुछ 'गण-राज्य' अथवा पंचायती शासन-प्रणाली रखनेवाले जन भी थे।

धीरे-धीरे मध्यदेश के जनपद अधिक शक्तिशाली और संपन्न होते गये। प्रसिद्ध शासकों के नामों पर इनके नामों में भी कभी-कभी परिवर्तन हुए। बौद्ध-साहित्य में आर्यावर्त के सोलह महाजनपदों का अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है। इनके अतिरिक्त अनेक साधारण जनपद भी थे। ये सोलह महाजनपद प्रायः निम्नलिखित आठ जोड़ियों में गिनाये जाते थे—कुरु-पंचाल शूरसेन-मत्स्य, कोसल-काशी, वृजि-मल्ल (विदेह), मगध-अंग, चेदि-वत्स, अवंति-अश्मक तथा गांधार-कंबोज। अंतिम तीन को छोड़ कर, जिनका संबंध मध्यदेश से नहीं था, शेष तेरह महाजनपदों का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता है।

मध्यदेश के महाजनपदों में प्राचीनतम कुरु-पंचाल थे। कुरु जनपद की राष्ट्रीय भूमि गंगा और यमुना की घाटियों के ऊपरी भाग में थी। इस जनपद के मूल संस्थापक कदाचित् वैदिककालीन 'पुरु' जन थे। ये लोग 'भरत' जन के नाम से भी प्रसिद्ध थे। पुराणों की अनुश्रुति के अनुसार कुरु शासकों का संबंध पुरुरवा द्वारा स्थापित ऐल या चंद्रवंश से था। कुरु जनपद की राजधानी मेरठ के निकट गंगा के किनारे हस्तिनापुर या आसंदीवंत थी। बाद को पश्चिम कुरु या कुरु जांगल की पृथक् राजधानी यमुना के किनारे इंद्रप्रस्थ हो गई थी। आधुनिक दिल्ली नगर इंद्रप्रस्थ के स्थान पर ही बसा है। ब्राह्मण-ग्रंथों, महाभारत तथा पुराणों में अनेक प्रसिद्ध पौरव अर्थात् कुरु जनपद के राजाओं के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें नहुष, ययाति, दुष्यंत, भरत, हस्ती, अजमीढ़, कुरु, शांतनु, धृतराष्ट्र, परीक्षित् तथा जनमेजय प्रधान थे।

महाभारत में वर्णित युद्ध का मूल कारण कुरुजनपद के चचेरे भाइयों के झगड़े से ही है। दुर्योधन आदि कौरव धृतराष्ट्र के पुत्र थे। युधिष्ठिर आदि पांडव धृतराष्ट्र के छोटे भाई पांडु के पुत्र थे। कुरु जनपद के राज्य के लिए इन दोनों में झगड़ा हुआ और अंत में कुरुक्षेत्र का प्रसिद्ध युद्ध हुआ जिसमें अनुश्रुति के अनुसार आर्यावर्त के लगभग समस्त जनपदों के राजाओं ने एक या दूसरी ओर भाग लिया था। श्रीकृष्ण ने युद्ध बचाने के संबंध में बहुत यत्न किया था और इस प्रयत्न में असफल होने पर स्वकर्तव्य-विमुख मोहग्रस्त अर्जुन को भगवद्गीता के रूप में सुरक्षित कर्मयोग का उपदेश दिया था।

कुरु-जनपद आजकल अंबाला, दिल्ली, मेरठ तथा बिजनौर के आसपास का खड़ीबोली का प्रदेश है और उसकी बोली, रहन-सहन तथा उपजातियों का एक विशेष व्यक्तित्व है। उदाहरण के लिए ब्राह्मणों में गौड़ ब्राह्मण कुरु-जनपद से संबंध रखते हैं। गंगा की बाढ़ के कारण हस्तिनापुर के नष्ट हो जाने पर बाद में कुरु-शासकों ने प्रयाग के निकट यमुना के किनारे कौशांबी को अपनी राजधानी बना लिया था। पंचाल, काशी तथा मगध जनपदों के शासक कदाचित् मूल कुरु जन से संबद्ध थे अतः ये जनपद कुरु-जनपद की शाखाएँ माने जा सकते हैं।

कुरु के पूर्व में पंचाल जनपद था। यह आजकल के रोहिलखंड का अधिकांश भाग तथा कनौज के निकट का प्रदेश कहा जा सकता है। बोली की दृष्टि से इसे आजकल की कनौजी या

पूर्वी ब्रज के रूप में हम पाते हैं। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार पंचाल के शासक भी पुरुरवा ऐल या चंद्रवंश की शाखा से संबद्ध थे। पंचाल के प्राचीन राजाओं में सृञ्जय, च्यवन, पिंजवन, सुदास, सहदेव तथा सोमक के उल्लेख विजयों तथा दान आदि के संबंध में वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। पंचाल जनपद बाद में दो भागों में विभक्त हो गया था। गंगा के उत्तर का भाग उत्तर-पंचाल कहलाता था और उसकी राजधानी वर्त्तमान बरेली ज़िले में अहिक्षेत्र थी। दक्षिण-पंचाल की राजधानी कंपिला थी जो फ़र्रुखाबाद ज़िले में पड़ती है। द्रौपदी उत्तर-पंचाल के राजा द्रुपद की कन्या थी। द्रोणाचार्य और उनके पुत्र अश्वत्थामा ने पंचाल का कुछ भाग अपने अधिकार में कर लिया था। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार पंचाल जन का पुराना नाम क्रिवि था। संभव है कुछ अन्य छोटे-छोटे जन जिनकी संख्या पाँच रही हो मिल कर पंचाल के रूप में परिणत हो गये हों। ऐतिहासिक काल में पंचाल जनपद ही कान्यकुब्ज नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका अवशेष अब कन्नौज नगर या कान्यकुब्ज ब्राह्मणों तथा कुछ अन्य उपजातियों के रूप में हम पाते हैं। जनपद-काल में कुरु-पंचाल विशुद्ध भाषा, यज्ञ-संबंधी नियम, धर्म, शील और आचार की दृष्टि से आदर्श जनपद माने जाते थे। यह इस बात की ओर संकेत करता है कि कदाचित् ये प्राचीनतम आर्यजनों के प्रतिनिधि थे।

कुरु जनपद के दक्षिण में प्रसिद्ध शूरसेन जनपद था। इसकी राजधानी मथुरा थी जो आजतक इसी नाम से प्रसिद्ध है। शूरसेन आजकल का आगरा कमिश्नरी या ब्रजप्रदेश कहा जा सकता है। शूरसेन यदु-जन का जनपद था, इसी कारण यहां के शासकों का नाम यादव पड़ा। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यदुवंश का संबंध कोसल के मानव या सूर्यवंश से है। चेदि-वंश भी यादवों की ही एक शाखा सिद्ध होती है। महाभारत के समकालीन राजा उग्रसेन, कंस तथा श्रीकृष्ण यादव-वंशी ही थे। वर्तमान माथुर ब्राह्मण तथा अनेक माथुर नामधारी उपजातियाँ शूरसेन जनपद की प्रतिनिधि कही जा सकती हैं।

शूरसेन जनपद के दक्षिण-पश्चिम में मत्स्य जनपद था। इसकी सीमाएं आधुनिक जयपुर तथा अलवर राज्यों से मिलती-जुलती थीं। यहाँ की बोली जयपुरी-मेवाती आज भी पृथक् है। मत्स्य जनपद की राजधानी विराट नगरी थी, जिसके खँडहरों पर जयपुर राज्य में आजकल वैराट नाम की छोटी-सी बस्ती बसी है।

जिस तरह मध्यदेश के पश्चिम में कुरु, पंचाल, शूरसेन, मत्स्य ये चार प्रसिद्ध जनपद थे, उसी प्रकार मध्यदेश के पूर्वी भाग में कोसल, काशी, मगध और विदेह के चार प्रसिद्ध जनपद थे, जिसमें प्रमुख और सब से अधिक प्राचीन कोसल जनपद था।

कोसल वर्तमान अवध के रूप में आज भी बहुत-कुछ स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। इसकी प्राचीन राजधानी अयोध्या आज सरयू के किनारे प्रसिद्ध तीर्थस्थान के रूप में मौजूद है। अयोध्या का एक पुराना नाम साकेत भी था। पुराणों के अनुसार अयोध्या की स्थापना स्वयं मनु ने की थी। अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं का अधिक क्रमबद्ध वर्णन पुराणों में सुरक्षित है। कोसल जनपद के राजाओं में सब से अधिक प्रसिद्ध मनु के अतिरिक्त इक्ष्वाकु, मान्धाता, हरिश्चंद्र, सगर, दिलीप,

रघु, अज, दशरथ तथा राम थे। वाल्मीकि-रचित रामायण की कथा का संबंध कोसलेश राम के यशोगान से ही है। बौद्धकाल में कोसल की राजधानी श्रावस्ती हो गई थी, जो गोंडा ज़िले में राप्ती के किनारे थी। वर्तमान अवध का प्रधान नगर लखनऊ है। कोसल जनपद से संबंध रखनेवाली जातियों में सरयूपारीण ब्राह्मण तथा श्रीवास्तव कायस्थों का उल्लेख किया जा सकता है। यहां की बोली अवधी आज भी पृथक् है।

कोसल के पूर्व में गंडक के आगे विहार का वर्तमान मिथिला प्रदेश प्राचीन काल में विदेघ या विदेह जनपद के नाम से प्रसिद्ध था। पुराणों के अनुसार यह कोसल जनपद की ही एक शाखा थी। यहां आर्यजन बाद को जा बसे थे। 'शतपथ-ब्राह्मण' में इस संबंध में एक उल्लेख भी मिलता है। कोसलाधिपति राम की स्त्री सीता विदेहाधिपति जनक की कन्या थी। प्रसिद्ध ऋषि याज्ञवल्क्य भी विदेह जनपद के निवासी थे। विदेह जनपद के शासकों ने उपनिषद् की विचारावली के विकास में विशेष भाग लिया था। बौद्धकाल में विदेह जनपद वृजि (वज्जि) गण के रूप में परिवर्तित हो गया था। इसके अंतर्गत आठ जन थे जिनमें विदेह और लिच्छवि प्रधान थे। वृजिगण की राजधानी वैशाली हो गई थी। बौद्धकाल में वृजिगण के उत्तर-पश्चिम में हिमालय की तलहटी में एक दूसरा प्रसिद्ध गण मल्ल था। इसकी दो शाखाएँ थीं जिनकी राजधानियाँ कुशीनर और पावा थीं। यह गण वर्तमान गोरखपुर ज़िले का प्रदेश था। इस समय मैथिली भाषा, मैथिल ब्राह्मण तथा दरभंगा के रूप में विदेह जनपद का पृथक् अस्तित्व आज भी स्मरण हो आता है।

पूर्व-मध्यदेश का तीसरा प्रसिद्ध जनपद काशी था। यह वर्तमान भोजपुरी प्रदेश कहा जा सकता है। काशी जन के ही नाम से काशी जनपद का तथा बाद को काशी नगर का भी नाम पड़ा था जो आजतक चल रहा है। काशी नगर का अधिक प्रसिद्ध नाम वाराणसी हो गया था, जिसका अपभ्रंश रूप आज का बनारस है। पुराणों के अनुसार काशी का वंश पुरुरवा द्वारा स्थापित चंद्रवंश से संबंध रखता है। काशी के प्राचीन राजाओं में दिवोदास का नाम और बाद के शासकों में अजातशत्रु का नाम बहुत प्रसिद्ध है।

काशी जनपद के पूर्व में वर्तमान दक्षिण बिहार में प्रसिद्ध मगध जनपद था। मगध में भी आर्यजन बाद को जाकर बसे थे, इसी कारण बहुत समय तक यह प्रदेश आर्यों के आदर्श आचरण की दृष्टि से बहुत अच्छा नहीं समझा जाता था। महाभारत में उल्लिखित बृहद्रथ के पुत्र महत्वाकांक्षी जरासंध मगध के ही शासक थे। मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह थी। बाद को गंगा के किनारे पाटलिपुत्र राजधानी बसाई गई। वर्तमान मगही बोली प्राचीन मगध जनपद की सीमाओं की ओर संकेत करती है। मागधी शब्द आज भी मगही पान के नाम में चल रहा है।

पूर्वी मध्यदेश के सीमाप्रांत का जनपद अंग था। यह वर्तमान बिहार प्रांत का पूर्वी भाग था। अंग का संबंध कदाचित् अनुजन या आनवों से था जो पंजाब के केकय जनपद के भी संस्थापक थे। मध्यदेश के सीमाप्रांत पर होने के कारण यह आर्य-संस्कृति के केंद्र से दूर माना जाता था। राजनीतिक दृष्टि से मगध जनपद ने बाद को इसे दबा दिया था। इसकी प्राचीन राजधानी चंपा या मालिनी वहां ही थी जहाँ आज भागलपुर बसा है।

मध्यदेश के दक्षिण भाग में चेदि, वत्स तथा अवंति के तीन प्रसिद्ध जनपद थे। वत्स या वंश जनपद वर्तमान बघेलखंड प्रदेश समझा जा सकता है। इसकी राजधानी कौशांबी के खँडहर यमुना के किनारे इलाहाबाद से तीस मील ऊपर की ओर आज भी मौजूद हैं। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है यहां के शासकों का संबंध कुरु जनपद की ही एक शाखा से था। उदयन यहां के अंतिम प्रसिद्ध राजा थे जो भगवान बुद्ध के समकालीन थे।

चेदि जनपद वर्तमान बुंदेलखंड के प्रदेश से मिलता-जुलता था। यह भी यदु जन की शाखा थी, यद्यपि बाद को इसके कुछ शासक कुरु से संबंध रखने वाले हुए। महाभारत काल में शिशुपाल यहां का शासक था। चेदि की राजधानी सुक्तिमती थी।

अवंति जनपद वर्तमान पश्चिमी मालवा था। इसकी राजधानी प्रसिद्ध उज्जयनी नगरी थी जो आज भी वर्तमान है। दक्षिण अवंति के हैहय-वंश की राजधानी माहिष्मती कार्तवीर्य अर्जुन हैहय-वंश के अंतिम प्रसिद्ध राजा थे। अवंति के संस्थापक भी कदाचित् यदु जन थे। मालवा प्रदेश तथा मालवी बोली का अस्तित्व आज भी पृथक् है।

यह स्पष्ट है कि जनपद-काल के अंत में पाये जाने वाले मध्यदेश के उपर्युक्त महा-जनपदों का विकास धीरे-धीरे हुआ। प्रारंभिक जनपदकाल में इनकी संख्या भी कम थी और इनकी सीमा तथा शक्ति भी सीमित रही होगी। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि वैदिक साहित्य के उल्लेखों के अनुसार मध्यदेश के अधिकांश जनपद पंचजन से संबंध रखते हैं। इनमें से अनेक जनपद पंचजनों के दो प्रधान जनों अर्थात् पुरु और यदु की शाखाएँ मात्र हैं। कुरु, पंचाल, वत्स, काशी तथा मगध अर्थात् गंगा के किनारे बसे हुए जनपदों का संबंध पुरुजन से और शूरसेन, चेदि, अवंति तथा कदाचित् मत्स्य अर्थात् यमुना या उसकी शाखाओं के किनारे बसे हुए जनपदों का संबंध यदु जन से था। अंग का संबंध वैदिक कालीन अनु जन से माना जाता है। वैदिक पंचजनों में से शेष द्रुह्यु जन की परंपरा मध्यदेश से बाहर पश्चिमोत्तर आर्यावर्त्त के गांधार जनपद के रूप में चली है। पाँचवाँ तुर्वश जन का उल्लेख आगे चल कर विशेष नहीं मिलता है। वैदिककालीन तुर्वश जन यदु या पुरु जन में कदाचित् सम्मिलित हो गया। सरयू के किनारे बसे हुए कोसल तथा उसके पूर्व के विदेह जनपद के मूल वैदिक जनपद कौन थे यह स्पष्ट नहीं है। कदाचित् इनका संबंध यदु जन से था। इनका महत्व उत्तर-वैदिक साहित्य तथा पौराणिक अनुश्रुति में विशेष है।

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार मध्यदेश के जनपदों के शासक दो वर्गों में विभक्त होते हैं, पहले मनु द्वारा स्थापित कोसल के सूर्यवंश से संबंध रखनेवाले तथा दूसरे पुरुरवा द्वारा स्थापित चंद्र या ऐल वंश से संबंध रखने वाले। पहले वर्ग में कोसल और विदेह के शासक प्रधान माने गये हैं तथा दूसरे वर्ग से मध्यदेश के कुरु आदि शेष समस्त जनपदों के शासकों का संबंध है।

जो हो मध्यदेश के प्रधान मूल जनपद कुरु-पंचाल तथा कोसल-काशी कहे जा सकते हैं। अधिकांश शेष जनपद इनकी शाखा-प्रशाखाएं मात्र हैं। समस्त प्राचीन पौराणिक उल्लेख यही सिद्ध करते हैं कि पौरव या कुरु और मानव या कोसल ये दो कदाचित् प्राचीनतम प्रधान आर्य-शाखाएं थीं। इन्हीं का इतिवृत्ति रामायण और महाभारत के काव्यमय इतिहासों के रूप में सुर-

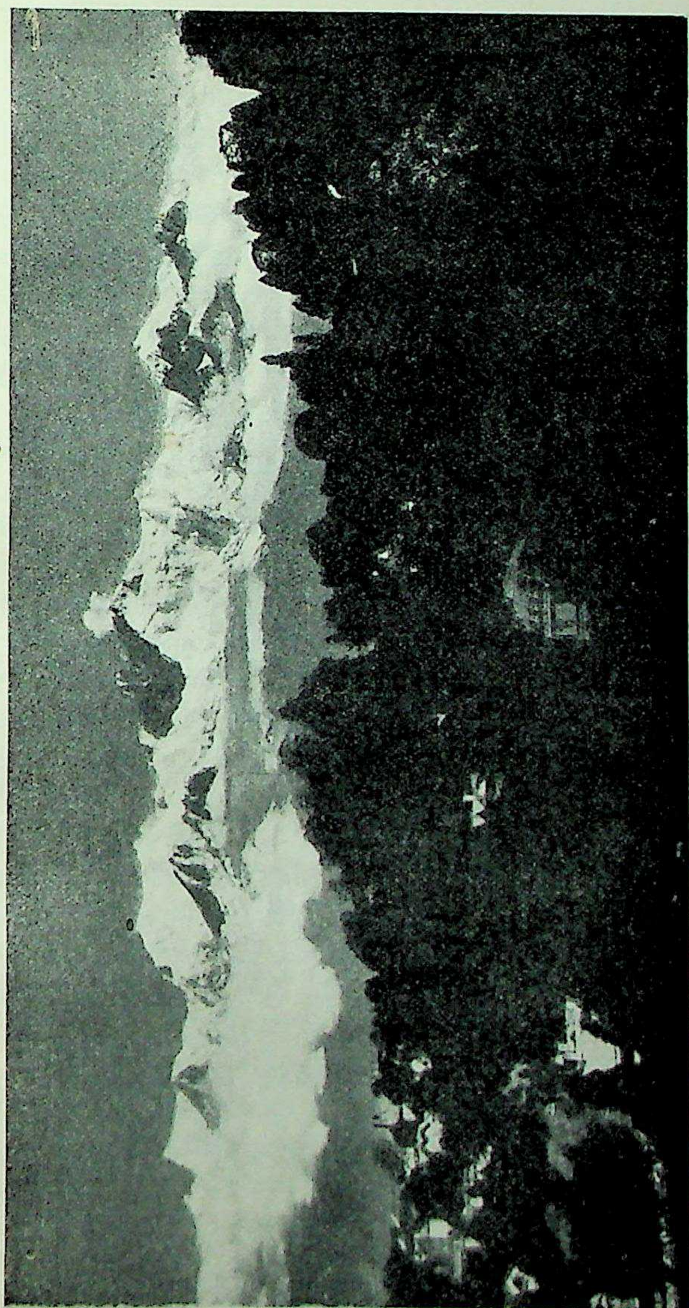
क्षित है। आज भी मध्यदेश की जनता महाभारत और रामायण के रूप में कोसल और कुरु जनपदों की गाथाओं की स्मृति बनाये हुये हैं। ऐतिहासिक काल के वीरों की अपेक्षा अब भी मध्यदेश की जनता जनपद-काल के इन महापुरुषों का अधिक आदर से स्मरण करती है। मध्यदेश के प्राचीन जनपदों के प्रतिनिधि महापुरुष राम और कृष्ण हैं।

लगभग २४०० पू० ई० से ६०० पू० ई० तक मध्यदेश के जनपद अनेक परिवर्तनों के होते हुए भी संपन्न तथा स्वतंत्र-रूप में वर्तमान रहे। गत ढाई हज़ार वर्षों के साम्राज्यों, राजवंशों और विदेशी आक्रमणकारियों की उथल-पुथल में यद्यपि इन जनपदों का स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व आज नहीं रह गया है, किंतु इनका व्यक्तित्व प्रादेशिक बोली, संस्कृति तथा सामाजिक संगठन के रूप में आज भी वर्तमान है। इसका कुछ संकेत ऊपर किया जा चुका है। विदेशी दृष्टिकोण के फलस्वरूप हमारे इतिहास जनपदों के अस्तित्व की उपेक्षा कर देते हैं, किंतु वास्तविकता यह है कि इनका अस्तित्व आज भी पृथक्-पृथक् विद्यमान है। प्रत्येक जनपद के प्राचीन क्रमबद्ध इतिहास तथा वर्तमान अवस्था के संबंध में पूर्ण खोज होने पर बहुत कुछ नवीन ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हो सकती है।

यहां यह स्मरण दिला देना अनुचित न होगा कि मध्यदेश के प्राचीन जनपद एक बृहत् आर्य-कुटुंब की अनेक शाखा-प्रशाखाओं के समान थे। समस्त जनपदों की जनता तथा शासक आर्य थे। जनपदों में आपस में शिक्षा, वाणिज्य तथा विवाह आदि का संबंध स्वतंत्रतापूर्वक होता था। इसके प्रचुर उदाहरण संस्कृत तथा पाली साहित्य में सुरक्षित हैं।

जनपदों के स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व को नष्ट करने का उद्योग जनपद युग में नहीं हुआ। यह प्रवृत्ति अगले साम्राज्य युग में हम पाते हैं। जनपद युग के चक्रवर्ती राजा या सम्राट् का तात्पर्य केवल इतना होता था कि पड़ोस के जनपदों के राजा उस विशेष राजा को अपना अग्रणी मान लेते थे। इसके लिए अश्वमेध यज्ञ की प्रणाली प्रचलित हो गई थी। इसे हम मध्यदेश के आर्य राजन्यवर्ग की महत्वाकांक्षा का प्रदर्शनमात्र कह सकते हैं। जनपद की जनता पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था।

मध्यदेश की इस जानपदिक संस्कृति का विकास आर्यावर्त के मध्यदेश तक ही सीमित नहीं रह सका बल्कि इसी काल में मध्यदेश से आर्यजन भारतवर्ष के उत्तर, पश्चिम, पूर्व और दक्षिण भागों में सब ओर फैल गए। इसी कारण आगे चलकर धीरे-धीरे मध्यदेश के स्थान पर आर्यावर्त तथा अंत में भारतवर्ष की सांस्कृतिक एकता की भावना प्रमुख हो गई। आर्यावर्त के उत्तर-पश्चिम के जनपदों में मद्र, कैकय, गांधार और कंबोज मुख्य थे। भारतवर्ष के बाहर पश्चिमोत्तर में ईरान मध्यदेश का उपनिवेश मालूम होता है। वहां की संस्कृति मध्यदेशीय संस्कृति के बहुत निकट है। ईरान के पश्चिम में प्राचीन एशिया-माइनर, ग्रीस और रोम तथा साधारणतया समस्त यूरोप तक गंगा की घाटी की संस्कृति का प्रभाव भाषा, धर्म तथा समाज आदि पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। पूर्व में पुंड्र, सुह्म, बंग, कलिंग, प्राग्ज्योतिष के प्रसिद्ध जनपद विकसित हुए। दक्षिण-पश्चिम में सौराष्ट्र, विदर्भ, अश्मक तथा अपरांत तक मध्यदेशीय संस्कृति का विस्तार हो गया। धीरे-धीरे धुरदक्षिण में मध्यदेश की आर्य-संस्कृति का प्रवेश हुआ और आंध्र, चोल, चेरा तथा पांड्य तक इसका विस्तार हुआ।



हिमालय का एक निकटवर्ती दृश्य

२. वैदिक तथा आर्ष साहित्य

जनपद-युग के राजनीतिक संगठन की संक्षिप्त रूपरेखा पिछले अध्याय में दी गई है। वास्तव में इस युग के राजनीतिक इतिहास के लिए प्रचुर मात्रा में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। धार्मिक वैदिक साहित्य के फुटकर उल्लेख तथा रामायण, महाभारत और पुराणों में सुरक्षित अनुश्रुतियां ही इसके प्रधान आधार हैं। किंतु जनपद-युग की धार्मिक और दार्शनिक विचारावली के पूर्ण विस्तार इस काल के साहित्य के रूप में आज भी विद्यमान हैं। जनपदकालीन साहित्य वैदिक तथा आर्ष साहित्य कहलाता है। इसके विस्तार को समझने के पहले इस काल के धार्मिक जीवन के रूप को समझ लेना आवश्यक है।

जनपदकालीन आर्यों के धार्मिक जीवन का केंद्र याग या यज्ञ था। इन यागों के तीन प्रधान रूप थे। कुछ याग तो आर्यमात्र के लिए—चाहे वह ब्राह्मण, राजन्य या वैश्य किसी भी वर्ग का हो—नित्य या नैमित्तिक कर्म के रूप में अनिवार्य थे। ये हविर्याग और पाकयाग कहलाते थे। इनमें हवि (घृत) की अथवा जौ आदि के पाकों की आहुतियां देवताओं के आह्वान-युक्त मंत्रों के साथ अग्नि में दी जाती थीं। इस प्रकार के यागों में सायं-प्रातः का अग्निहोत्र, अमावस्या और पूर्णिमा के पर्व पर किए जानेवाले दर्श पूर्णमास याग, नया अन्न होने पर आग्रयणेष्टि तथा ऋतुओं के आरंभ में चातुर्मास्य इष्टि तथा पिंडपितृ याग मुख्य थे। यागों की दूसरी तथा मुख्य श्रेणी सोमयागों की थी जिनमें घृत या पाक के स्थान पर सोमरस से अग्नि में यज्ञ करना प्रधान क्रिया थी। सोमयागों में मुख्य अग्निष्टोम तथा वाजपेय थे। सोमयाग प्रधानतया ब्राह्मण और राजन्य वर्ग तक सीमित थे। आगे चलकर धीरे-धीरे यज्ञों की एक तीसरी श्रेणी विकसित हुई जो विशेष रूप से राजन्य-वर्ग के लिए निर्धारित थी। इसमें राजसूय तथा अश्वमेध मुख्य थे।

अधिकांश वैदिक साहित्य का संबंध इस जनपदकालीन प्रधान धार्मिक संस्था अर्थात् यज्ञ से है। यह साहित्य वेद अर्थात् ज्ञान अथवा यज्ञ-संबंधी ज्ञान के नाम से प्रसिद्ध था। अनुश्रुति के अनुसार वेदव्यास ने इस मौलिक परंपरागत धार्मिक साहित्य को क्रमबद्ध कर पृथक्-पृथक् संहिताओं के रूप में विभाजित किया। यज्ञों में देवताओं की प्रशंसा में जो स्तुतियां तथा प्रार्थनाएं की जाती थीं उनकी संहिता ऋक् कहलाई, यज्ञों में जो गद्यात्मक मंत्रभाग प्रयुक्त होता था उसका संग्रह यजुर्संहिता के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिन ऋचाओं का सोमयागों में गायन होता था वे सामवेद संहिता के नाम से एक जगह कर ली गईं। इन हवि, सोम तथा अन्य विशेष यागों की विस्तृत कर्मकांड-विधि तथा उससे संबंधित अर्थवाद अर्थात् कल्पित व्याख्या बाद को ब्राह्मण-ग्रंथों के नाम से प्रसिद्ध हुई। क्योंकि बड़े यज्ञों में तीन प्रधान यज्ञकर्ता होते थे—ऋत्विक्, अध्वर्यु और उद्गातृ—जो क्रम से ऋक्, यजु और साम-संबंधी पाठ के लिए उत्तरदायी होते थे, अतः प्रत्येक से

संबंध रखनेवाले कर्मकांड की दृष्टि से प्रत्येक संहिता का ब्राह्मण-ग्रंथ अर्थात् कर्मकांड-विधि पृथक् संकलित की गई। यज्ञों के समाप्त हो जाने पर प्रायः दार्शनिक चर्चा भी हुआ करती थी। ये वादविवाद ब्राह्मण-ग्रंथों के अंत में आरण्यक तथा उपनिषदों के रूप में सम्मिलित किए गए।

इस साहित्य के अध्ययन के सुभीते के लिए बाद को छः वेदांगों की रचना हुई जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष के नाम से प्रसिद्ध हैं। क्योंकि यह सहायक साहित्य मात्र था अतः यह उतना पवित्र नहीं माना जाता था। फलस्वरूप वेदांग साहित्य उस परिश्रम के साथ सुरक्षित नहीं किया गया जिस परिश्रम के साथ मूल वैदिक साहित्य किया गया। छः वेदांगों में शिक्षा (वैदिक ध्वनिशास्त्र), व्याकरण, निरुक्त, (शब्द-व्युत्पत्ति) तथा छंद का संबंध वैदिक भाषा के अध्ययन से है। वैदिक यज्ञों के निमित्त आवश्यक ज्योतिष का अध्ययन भी किया गया था और यह ज्ञान ज्योतिष वेदांग के रूप में सुरक्षित है। कल्प अथवा श्रौतसूत्रों में ब्राह्मणग्रंथों के आधार पर वैदिक यज्ञों की कर्मकांड-विधि का संक्षेप सूत्ररूप में किया गया है। वेदांग-साहित्य में ये सब से अधिक संख्या में मिलते हैं। मुख्य छः वेदांगों के अतिरिक्त शुल्वसूत्रों में यज्ञवेदी आदि की रचना के संबंध में आवश्यक रेखागणित के नियमों का विधान है।

इस प्रकार ऋक्, यजु, साम संहिताओं तथा इनसे संबद्ध ब्राह्मण-ग्रंथ आरण्यक व उपनिषदों और समस्त वेदांगों व शुल्वसूत्रों का संबंध स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप में जनपदकालीन यज्ञ-संस्था से है। वैदिक साहित्य में सैकड़ों स्थलों पर ऐतिहासिक तथा पौराणिक उल्लेख संयोगवश बिखरे पड़े हैं। ये निश्चित रूप से यह सिद्ध करते हैं कि इस समस्त साहित्य की रचना जनपद युग में तथा प्रधानतया मध्यदेश में हुई। वैदिक साहित्य जनपदकाल के पहले का पूर्व-ऐतिहासिककाल का साहित्य नहीं है और न इसका संबंध पश्चिमोत्तर भारत अथवा मध्य एशिया से है।

यज्ञों के अतिरिक्त आर्य-परिवार में कुछ गृहकर्म भी होते थे जिनका संबंध नित्यप्रति के साधारण जीवन से था। इनमें बालक के गर्भ में पड़ने से लेकर संन्यास तक के सोलह संस्कार तथा अंत्येष्टिकर्म मुख्य थे। इन संस्कारों के अतिरिक्त रोग तथा उनका निदान, गृह-निर्माण तथा गृह-प्रवेश, गोशाला-निर्माण आदि के अवसरों से संबंध रखनेवाले कृत्य, पुत्रोत्पत्ति की कामना, विजय-कामना, वाणिज्य तथा कृषि से संबंध रखनेवाले विशेष कृत्य, वर्षा के लिए उपाय, परिवार तथा सभा या समिति में एकता स्थापित करने के उपाय आदि मुख्य थे। इनसे संबंध रखनेवाले मंत्र यज्ञ-संबंधी मंत्रों के बराबर तो महत्वपूर्ण नहीं समझे जाते थे किंतु इनकी उपेक्षा भी नहीं हो सकती थी। इन मंत्रों का संकलन अथर्ववेद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही कारण है कि वेद आरंभ में तीन ही माने जाते थे, बाद को अथर्ववेद की गणना करके वेदों की संख्या चार कर ली गई। अथर्ववेद के ब्राह्मणग्रंथ गोपथ का रूप अन्य ब्राह्मण-ग्रंथों से भिन्न होना स्वाभाविक है। इसमें यज्ञों की विधि का निर्देश प्रधान विषय नहीं है। गोपथब्राह्मण की अपेक्षा कौषिक-सूत्र से अथर्ववेद से संबद्ध कर्मकांड की आवश्यकताओं की पूर्ति विशेष होती है। गोपथ-ब्राह्मण तो अथर्ववेद के ब्राह्मण-ग्रंथ के स्थान की पूर्ति के लिए कदाचित् बाद को बनाया गया।

जनपदकालीन गृह्यधर्म तथा सामाजिक धर्म से संबंध रखनेवाले कृत्यों को क्रमबद्ध

निश्चित रूप देने के उद्देश्य से कल्प या श्रौतसूत्रों के अनुकरण में क्रम से गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों की रचना हुई। ये सूत्रग्रंथ वास्तव में अथर्ववेद में सुरक्षित कृत्यों की परंपरा से संबंध रखते हैं। क्योंकि भिन्न-भिन्न जनपदों में यज्ञसंबंधी कर्मकांड, गृह्यकर्मों के नियम तथा सामाजिक विधान थोड़े-बहुत भिन्न होते थे अतः प्रत्येक प्रकार के सूत्रग्रंथ के मिलते-जुलते अनेक प्रादेशिक रूप मिलते हैं।

जनपदकालीन साहित्य की तीसरी परंपरा का संबंध उस काल के प्रधान जनपदों से संबंध रखनेवाले राजवंशों तथा राजाओं के इतिहास से है। यह धारा बहुत दिनों तक मौखिक रीति से चलती रही और इसकी रक्षा के लिए इस प्रकार यत्न नहीं किया गया जिस प्रकार कि उपर्युक्त दो साहित्यिक धाराओं के संबंध में किया गया। बाद को यह मौखिक परंपरा कोसल जनपद के प्रसिद्ध शासक महाराज राम से संबंधित आदिकाव्य रामायण, कुरु जनपद से संबंध रखनेवाले प्रसिद्ध युद्ध के वर्णन महाभारत तथा आगे चलकर अन्य राजाओं तथा समस्त राजवंशों से संबंधित पुराणों की अनुश्रुतियों के रूप में ग्रंथबद्ध की गई। बाद को अनेक फुटकर ऐतिहासिक आख्यानों, गाथाओं, नाराशंसियों को महाभारत में स्थान दिया गया और यह ग्रंथ मध्यदेश के जनपदों के इतिहास का एक प्रकार से विश्वकोष सा हो गया। यही कारण है कि महाभारत को कभी-कभी महाभारतसंहिता अथवा पंचम वेद भी कहते हैं।

इस प्रकार जनपदकालीन साहित्य को हम तीन भागों में विभक्त पाते हैं, जिन्हें सुविधा के लिए (१) त्रयी साहित्य, (२) अथर्व तथा गृह्य-धर्मसूत्रों का साहित्य और (३) इतिहास-पुराण साहित्य कह सकते हैं। प्रथम दो वर्गों का साहित्य निश्चित रूप से जनपदयुग का समकालीन साहित्य है तथा उसी रूप में आज तक सुरक्षित चला आ रहा है। तीसरे वर्ग के साहित्य की जड़ें तो जनपदकाल में पहुँचती हैं तथा इसमें से दोनों ऐतिहासिक काव्यग्रंथों के मूल-रूप भी इसी काल के हैं किंतु इनमें बाद को भी अनुश्रुति मिश्रित होती रही। पुराणों के वर्तमान रूपों का संकलन तो निश्चित रूप से बाद को हुआ। अतः पुराणों को छोड़ कर शेष साहित्य को हम साधारणतया वैदिक तथा आर्ष नाम से पुकार सकते हैं तथा इसे जनपद कालीन साहित्य मान सकते हैं। इसका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

ऋक्, यजु, साम इन तीन संहिताओं में विस्तार तथा महत्व की दृष्टि से प्रधान ऋक् संहिता है। इसका संकलन कुछ सिद्धांतों के अनुसार किया गया है। ऋग्वेद के १०१७ सूक्त प्रायः यज्ञों के अवसरों पर पढ़ने के लिए देवताओं की स्तुतियों से संबंध रखनेवाले गीतात्मक काव्य हैं। ये १० मंडलों में विभक्त हैं। २ से ७ तक के मंडलों में क्रम से गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज तथा वसिष्ठ ऋषिवंशों के सूक्त हैं। इन मंडलों में से प्रत्येक का विषय समान ही है। यह असंभव नहीं कि इन ऋषियों का संबंध भिन्न-भिन्न जनपदों से रहा हो और प्रत्येक जनपद की ऋषि-परंपरा की यज्ञ-संबंधी रचना पृथक्-पृथक एकत्र की गई हो। इन छः मंडलों के अंदर सूक्तों का निश्चित क्रम मिलता है। सब से पहले अग्नि सूक्त, इसके बाद इंद्र-संबंधी सूक्त तथा बाद को अन्य गौण देवताओं अथवा देवता-समूहों से संबंध रखनेवाले सूक्त मिलते हैं। गौण देवताओं में उषा,

मित्र, वरुण, सूर्य, सविता, अश्विनी, मरुत, वात, द्यावापृथिवी, ऋभु और बृहस्पति मुख्य हैं। उदाहरण के लिए वसिष्ठ ऋषि के छठे मंडल में निम्नलिखित देवताओं के संबंध में सूक्त हैं—१ से १६ अग्नि,१७ से ४६ इंद्र,४७ से ५२ विश्वेदेवा तथा कुछ अन्य देवता ५३ से ५८ पूषा, ५९-६० इंद्राग्नी, ६१ सरस्वती, ६२ अश्विनी, ६४-६५ उषा, ६६ मरुत, ६७ मित्रावरुणी, ६८ इंद्रावरुणी, ६९ इंद्राविष्णू, ७० द्यावापृथिव्यौ, ७१ सविता, ७२ इंद्रासोमौ, ७३ बृहस्पति, ७४ सोमारुद्रौ तथा ७५ फुटकर युद्धसामग्री-संबंधी। ऋक्संहिता के अन्य मुख्य मंडलों में भी लगभग इन्हीं देवताओं से संबंध रखनेवाले सूक्त हैं। नवें मंडल में सोम से संबंध रखनेवाले समस्त ऋषियों के सूक्त एकत्र दिये गये हैं। १, ८ और १० मंडलों में भिन्न-भिन्न ऋषियों की रचनाएं हैं। दसवें मंडल में प्रसिद्ध वैदिक देवताओं के सूक्तों के अतिरिक्त मिश्रित विषयों से संबंध रखनेवाले कुछ अत्यंत रोचक सूक्त सुरक्षित हैं।

क्योंकि ऋक्संहिता का मुख्य विषय उस काल के प्रधान धार्मिक कृत्य यज्ञों में पढ़े जानेवाली देवता-संबंधी स्तुतियों से है अतः उसमें राजनीतिक तथा सामाजिक उल्लेख संयोगवश ही मिलते हैं। ऋग्वेद में जिन दानदाता आर्य-राजाओं तथा सूक्तों के रचयिता ऋषियों का उल्लेख मिलता है उनसे यह सिद्ध होता है कि इस संहिता के अधिकांश की रचना स्वयं मध्यदेश में जनपदकाल के अंतर्गत ही हुई। अनेक सूक्तों में ऋषियों ने अपने नाम उसी प्रकार दिए हैं जिस प्रकार सूर, तुलसी, कबीर आदि ने अपने नामों की छापें स्वरचित भाषा-पदों में रक्खी हैं।

ऋग्वेद में प्रयुक्त सैकड़ों शब्द आज भी अपने तत्सम-रूप में हिंदी तथा अन्य आधुनिक भाषाओं में व्यवहृत हो रहे हैं, जैसे अग्नि, अमृत, माता, कवि, ऋषि, पिता, वीर, पृथिवी, यश, धन, मृग, रथ, पर्वत, राजा, मन, पुर, मित्र, दान इत्यादि। यदि तद्भव-रूपों की दृष्टि से देखा जाय तब तो समस्त भारतीय आधुनिक भाषाओं का मूलाधार ऋग्वेद की ही भाषा है। सूक्तों में प्रयुक्त छंदों के आधार पर ही बाद के संस्कृत काव्यों के छंद प्रचलित हुए। रामायण, महाभारत, पुराण आदि का प्रसिद्ध अनुष्टुभ् छंद तथा संस्कृत महाकाव्यों के इंद्रवज्रा आदि छंदों का पूर्व-रूप ऋग्वेद में व्यवहृत हुआ है।

संयोगवश कुछ नदियां तथा कुछ पशुओं आदि के नाम भी सूक्तों में आए हैं, किंतु इनसे तत्कालीन भौगोलिक परिस्थिति पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। दस मंडलों में विभक्त १०१७ सूक्तों की ऋक्संहिता में १०५८० मंत्र अथवा छंद हैं।

सामवेद का अधिकांश ऋग्वेद के ऐसे मंत्रों का संकलन मात्र है जो साम-यागों में वीणा आदि के साथ गाए जाते थे। केवल ७५ मंत्र मौलिक हैं। यागों के दृष्टिकोण से अग्नि, इंद्र, सोम ये तीन प्रधान देवता थे क्योंकि अग्नि में इंद्र के लिए सोम की आहुतियां दी जाती थीं अतः सामसंहिता में अग्नि, इंद्र तथा सोम पवमान संबंधी मंत्रों का ही प्राधान्य है। इस संहिता के पूर्वार्चिक अर्थात् पूर्वार्द्ध में अग्नि, इंद्र तथा सोम पवमान संबंधी मंत्र तीन पृथक् कांडों में विभक्त हैं, तथा उत्तरार्चिक के २१ अध्यायों में से प्रत्येक में तीनों से संबंध रखनेवाले मंत्र एकत्र दिये गये हैं। कुछ थोड़े-से मंत्र अन्य देवताओं से भी संबंधित हैं। संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से

सामसंहिता का विशेष महत्व नहीं है। मध्यदेशीय संगीतकला का प्राचीनतम आधार यह संहिता अवश्य है।

यजुर्वेद यज्ञों में कर्मकांड के संबंध में पढ़े जानेवाले गद्य तथा पद्य मंत्रों का संग्रह है। इन मंत्रों में बहुत से ऋक्संहिता के हैं, कुछ अथर्वसंहिता के हैं तथा कुछ मौलिक भी हैं। यज्ञों के सिलसिले में यजुर्वेद में नाजों, पशुओं तथा पेशों की पूर्ण सूचियां मिलती हैं। अध्याय ३२ में परमात्मा का सुंदर वर्णन है तथा अध्याय ४० प्रसिद्ध ईशोपनिषद् है। किंतु यजुःसंहिता के अधिकांश में प्रधान यज्ञों के अनुसार मंत्र-संग्रह है, जैसे अध्याय १, २ दर्शपूर्णमास इष्टि संबंधी, अध्याय ३ में अग्न्याधान अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य संबंधी, अध्याय ४ से ८ में अग्निष्टोम संबंधी, ९, १० में वाजपेय तथा राजसूय संबंधी, ११ से २१ में अग्निचयन आदि संबंधी, २२ से २५ अध्याय में अश्वमेध संबंधी, २६ से ४० अध्याय तक फुटकर विषयों के अतिरिक्त सौत्रामणि, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि संबंधी मंत्रसामग्री हैं।

ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि ब्राह्मण-ग्रंथों में श्रौत यज्ञों की कर्मकांड की विधि विस्तारपूर्वक दी गई है तथा विधि के साथ अर्थवाद अर्थात् विधि के संबंध में कल्पित कारणों का समावेश भी कर दिया गया है। प्रत्येक संहिता के कर्मकांड से संबंध रखनेवाले एक या अधिक ब्राह्मण-ग्रंथ हैं। उदाहरणार्थ ऋक्-संहिता का मुख्य ब्राह्मण ऐतरेय है। यजुर्वेद का शतपथ और सामवेद का पंचविंश या तांडय। क्योंकि यजुर्वेद का संबंध कर्मकांड से विशेष है अतः समस्त ब्राह्मण-ग्रंथों में इस संहिता से संबद्ध शतपथब्राह्मण सब से अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में एक ही विषय अर्थात् श्रौत यज्ञों के कर्मकांड का विवेचन प्रत्येक ब्राह्मण-ग्रंथ में मिलता है। उदाहरणार्थ शतपथब्राह्मण के पहले दो कांडों में हविर्यज्ञ तथा पाकयज्ञ-संबंधी कर्मकांड का वर्णन है, अर्थात् कांड १ में दर्शपूर्णमास इष्टि संबंधी, कांड २ में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, पिंडपितृ यज्ञ, अग्रयणेष्टि तथा चातुर्मास्य संबंधी, कांड ३ से ५ का संबंध सोमयज्ञों से है, अर्थात् कांड ३, ४ में अग्निष्टोम तथा ५ में वाजपेय तथा राजसूय की विधि मिलती है। ६ से १० कांडों में अग्निचयन अर्थात् यज्ञवेदी की रचना के विस्तृत कर्मकांड का विधान है। कांड ११ में दर्शपूर्णमास आदि के संबंध में फिर कुछ फुटकर सामग्री है। कांड १२ में गवामयन अर्थात् एक वर्ष चलने वाला सत्र तथा सौत्रामणि याग का विस्तार है। कांड १३ में अश्वमेध का विषय प्रधान है किंतु संक्षेप में पुरुषमेध, सर्वमेध तथा अंत्येष्टि का उल्लेख भी है। अंतिम कांड १४ में सोमयाग से संबद्ध प्रवर्ग्य का विषय है। शतपथब्राह्मण की उपर्युक्त विषय-सूची से अन्य ब्राह्मण-ग्रंथों के विषयों का भी अनुमान किया जा सकता है।

ब्राह्मण-ग्रंथों के समान प्रत्येक संहिता के श्रौतसूत्र भी पृथक् पृथक् हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद के मुख्य श्रौतसूत्र आश्वलायन तथा शांखायन हैं। सामवेद के लाट्यायन तथा द्राह्यायण, कृष्ण-यजुर्वेद के बौधायन तथा आपस्तंब हैं जो दक्षिण भारत की रचनाएं हैं तथा शुक्ल-यजुर्वेद का मुख्य श्रौतसूत्र कात्यायन है। नीचे आश्वलायन श्रौतसूत्र की विषय-सूची संक्षेप में दी जाती है जिससे श्रौतसूत्रों और ब्राह्मण-ग्रंथों का संबंध भी स्पष्ट हो जायगा। अन्य श्रौतसूत्रों के संबंध में

भी अनुमान हो सकेगा—अध्याय १, २ दर्शपूर्णमास आदि इष्टि, ३ से ९ अग्निष्टोम, राजसूय, वाजपेय आदि सोमयाग, १०, ११ अश्वमेध आदि।

श्रौतसूत्रों के परिशिष्ट-स्वरूप शुल्वसूत्र हैं जिनमें बौधायन, आपस्तंब तथा कात्यायन के शुल्वसूत्र मुख्य हैं।

जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है अथर्वसंहिता का संबंध श्रौतयज्ञों से न होकर गृह्य तथा अन्य सामाजिक कृत्यों से है। ऋग्वेद के समान इस संहिता में भी कुछ अग्नि, इंद्र तथा सोम आदि देवताओं से संबंधित मंत्र मिलते हैं क्योंकि गृह्यकार्यों में इनकी भी आवश्यकता पड़ती थी। किंतु ये अंश इस संहिता में अत्यंत गौण हैं। औषधियों आदि की सहायता से चिकित्सा (भैषज्य) तथा मणिबंधन आदि के द्वारा अभिचारविधि-संबंधी मंत्र इस संहिता में प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। कुछ मंत्र ब्रह्म आदि के संबंध में रहस्यमय भी हैं। किंतु अथर्ववेद के अधिकांश में निम्नलिखित प्रकार के विषय मिलते हैं—राज्याभिषेक, युद्ध में विजय की प्रार्थना, सभा तथा समिति, वाणिज्य, कृषि, वर्षा के लिए प्रार्थनाएं, गौओं की प्रशंसा, परिवार में सौहार्द्य, विवाह, पति-पत्नी में प्रेम, अतिथि-सत्कार, ब्रह्मचारी की महिमा, अंत्येष्टि-क्रिया। ये अंश जनपद-कालीन सामाजिक व्यवस्था का जीता-जागता चित्र उपस्थित करते हैं।

इसका उल्लेख हो चुका है कि अथर्वसंहिता का ब्राह्मण गोपथ तथा श्रौतसूत्र वैतान केवल स्थानपूर्ति के लिए बाद को इसलिए बनाए गए कि यदि तीन संहिताओं के ब्राह्मण-ग्रंथ और श्रौतसूत्र हैं तो इस चौथी संहिता के भी होने चाहिए। वास्तव में ये दोनों महत्व नहीं रखते क्योंकि अथर्वसंहिता का संबंध श्रौतयज्ञों से विशेष था ही नहीं। इनकी अपेक्षा कौषिक सूत्र में अथर्ववेद-संबंधी कर्मकांड के वास्तविक विस्तृत नियम तथा वर्णन सुरक्षित हैं। इस दृष्टि से यह सूत्रग्रंथ विशेष महत्वपूर्ण है। ब्राह्मण-ग्रंथों के अंतिम अंश अर्थात् उपनिषदों में १० प्रसिद्ध हैं—ईश (शुक्ल यजु, अध्याय ४०), बृहदारण्यक (शतपथब्राह्मण), ऐतरेय (ऐतरेयब्राह्मण), कौषीतिकी (कौषीतिकी-ब्राह्मण), केन (सामवेदीय उपनिषद ब्राह्मण), छांदोग्य (सामवेदीय छांदोग्य ब्राह्मण), तैत्तरीय (तैतरीय ब्राह्मण), कठ (मैत्रायणीय ब्राह्मण), मुंडक, मांडूक (अथर्वसंहिता)। उपनिषदों में आध्यात्मिक विचारावली प्रारंभिक बनती हुई अवस्था में मिलती है। दर्शनसूत्रों में इसके आधार पर निश्चित सिद्धांत बन गए थे।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अथर्ववेद की परंपरा में गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र आते हैं, यद्यपि ये अन्य संहिताओं की परंपराओं से संबद्ध ऋषियों द्वारा निर्मित होने के कारण अन्य संहिताओं से भी संबंध रखते हैं। गृह्यसूत्रों में मुख्य निम्नलिखित हैं—आश्वलायन, शांखायन (ऋग्वेद) खादिर (साम), आपस्तंब, हिरण्यकेशिन् (यजुः कृष्ण), पारस्कर (यजुःशुक्ल)। उदाहरणार्थ आश्वलायन गृह्यसूत्र में निम्नलिखित विषयों का विवेचन है—

अध्याय १—पाकयज्ञ (खंड १) हविष्यहोम, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, (२, ३), विवाह (४, ६), गृह्याग्नि-पार्वण स्थालीपाक (७, ८), पशुकल्प, चैत्ययज्ञ (९, १०), गर्भलयन पुंसवन (११),

सीमंतोन्नयन (१२), जातकरण, नामकरण (१३), अन्नप्राशन (१४), चौल (१५), गोदान (१६), उपनयन (१७, १६), ऋत्विक् वरण (२०, २१)।

अध्याय २—सर्पवलि आदि विशेषयज्ञ (१, ५), रथारोहण (६), गृहपरीक्षण वास्तु-परीक्षा (७, १०)।

अध्याय ३—पंचमहायज्ञ (१), स्वाध्याय-विधि (२), देवतातर्पण (३), समावर्तन (४, ८), युद्धसन्नाहन (९)।

अध्याय ४—रोग संबंधी (१), प्रेतकर्म (२, ७), श्राद्धविधि (८, ९), शूलगव द्रद्र यज्ञ (१०)।

धर्मसूत्रों में प्रधान वसिष्ठ (ऋक्), गौतम (साम), आपस्तम्ब और बौधायन (यजुः कृष्ण) हैं। इनमें वसिष्ठ और बौधायन अधिक प्राचीन हैं। गौतम और आपस्तंब बहुत पुराने नहीं हैं। आपस्तंव की रचना आंध्रदेश में हुई थी। नारद और बृहस्पतिसूत्र बहुत बाद के हैं और इनमें न्यायसंबंधी विस्तार-विशेष है। वसिष्ठधर्मसूत्र की निम्नलिखित सूची में धर्मसूत्रों के विषय का कुछ अनुमान हो सकेगा—अध्याय १. उपोद्घात, २. वर्णाश्रमधर्म तथा कर्म, ३. अध्ययन धर्म तथा आह्निक आचार, ४. अशौच-निर्णय तथा द्रव्यशुद्धि, ५. स्त्रीधर्म, ६. आचारादर्श, ७. ब्रह्मचारी-धर्म, ८. गृहाश्रमधर्म, ९. वानप्रस्थधर्म, १०. सन्यासिधर्म, ११. आतिथ्य-सत्कार, तथा श्राद्धोपकरण, १२. स्नातकधर्म, १३. आचार्य-लक्षण, १४. भोजनविधिनिषेध, १५. दत्तक-पुत्र निर्णय, १६. दंडविधान, १७. धन-विभाग, १८. विविध उत्पत्ति, १९. राजधर्म, २०. कृच्छ्र, २१. चांद्रायण, २२. से २८. प्रायश्चित्त—ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्णस्तेय आदि संबंधी, २९, कूप, आराम, तड़ाग आदि दान, ३०. शास्त्र-अध्ययन-फल।

वसिष्ठधर्मसूत्र के अनुसार आर्यावर्त में प्रचलित धर्म तथा आचार को आदर्श बताया गया है और आर्यावर्त की सीमाएं वास्तव में बौद्धकालीन मध्यदेश की सीमाएं हैं, अर्थात् पश्चिम में सरस्वती, पूर्व में कालकवन (भागलपुर), उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में विंध्य-पर्वत।

तीनों संहिताएं, ब्राह्मणग्रंथ तथा श्रौतसूत्र जनपदकालीन यज्ञसंबंधी वैदिक आर्षसाहित्य है। अथर्व, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र गृह्यकर्म तथा सामाजिक धर्म-संबंधी वैदिक आर्षसाहित्य कहा जा सकता है।

उपनिषदों की आध्यात्मिक विचारावली की परंपरा से संबंध रखनेवाला वैदिक आर्ष-साहित्य दर्शन सूत्रों के रूप में पृथक् विकसित हुआ। दर्शनसूत्रों में कणादि-कृत वैशेषिकसूत्र, पतंजलि-कृत योगसूत्र, गौतम-कृत न्यायसूत्र, कपिल-कृत सांख्यदर्शनसूत्र, जैमिनि-कृत मीमांसासूत्र तथा वादरायण-कृत वेदांतसूत्र प्रसिद्ध हैं। दर्शन-सूत्रों में दार्शनिक तथ्यों के संबंध में सूक्ष्म विश्लेषण है तथा भिन्न-भिन्न आचार्यों के दृष्टिकोण के अनुसार सिद्धांतों का प्रतिपादन है। किंतु मूल ध्येय समस्त दर्शनसूत्रों का एक ही है, अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि, अध्यात्म की प्रसन्नता, मोक्ष की प्राप्ति, दुःख की अत्यंत निवृत्ति, धर्म का आदर्श अथवा मुक्ति।

इस ध्येय की प्राप्ति के उपाय के संबंध में प्रत्येक आचार्य ने अपने अनुभव और ज्ञान के अनुसार पृथक् मार्ग का निर्देश किया है। भिन्न-भिन्न मनुष्यो के आत्मिक विकास तथा शक्ति के अनुसार एक के लिए एक मार्ग सुलभ हो सकता है और दूसरे के लिए दूसरा।

गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों के समान अधिकांश दर्शनसूत्रों की रचना जनपदयुग के बाद बौद्धकाल के आरंभ में हुई। दर्शनसूत्र प्रायः छठी शताब्दी पूर्व ईसवी से दूसरी शताब्दी पूर्व ईसवी के बीच में रचे गए माने जाते हैं। वैदिक आर्षसाहित्य की परंपरा से संबंध रखने के कारण इनका भी उल्लेख यहां कर दिया गया है।

श्रौतयज्ञों, गृह्य-संस्कारों तथा अन्य विशेष अवसरों पर प्रायः जनपदो के प्राचीन इतिहास से संबंध रखनेवाली कथाएं होती थीं। यद्यपि ये ऐतिहासिक कथाएं जनपदकालीन उपर्युक्त शेष साहित्य के समान विशेष यत्न से सुरक्षित नहीं की गईं किंतु तो भी दो ग्रंथों का मूल-रूप निश्चित रूप से इसी काल का है। ये कोसल जनपद के आंशिक इतिहास वाल्मीकि-कृत रामायण और कुरु-पंचाल के आंशिक इतिहास व्यास-कृत महाभारत हैं। जनपदकालीन इन दो इतिहास-ग्रंथों को हम लौकिक आर्षसाहित्य की श्रेणी में रख सकते हैं। यद्यपि इन दोनों ग्रंथों में साम्राज्य-युग तक प्राचीन अनुश्रुतियाँ तथा समकालीन धार्मिक विचारावली प्रचुर मात्रा में सम्मिलित की गई किंतु मूल-रूप में जनपदकालीन ग्रंथ होने के कारण इनका उल्लेख इस काल के साहित्यिक इतिहास के सिलसिले में ही किया जा रहा है।

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार राम का समय कोसल के राजाओं की ६५ वीं पीढ़ी में पड़ता है और इस प्रकार की गणना के आधार पर अनुमान से ये १९०० पू० ई० के लगभग हुए होंगे। यह असंभव नहीं कि इस मर्यादा पुरुषोत्तम महापुरुष के चरित्र को संक्षेप में महर्षि वाल्मीकि ने लगभग उसी समय आदिकाव्य के रूप में रचा हो। इस मूल रामायण में केवल ५ कांड अर्थात् २ से ६ तक के कथा-संबंधी अंश रहे होंगे। किंतु सैकड़ों वर्ष कुशीलव अथवा चारणों द्वारा गाए जाने के कारण इसकी भाषा, भाव और आकार सभी में थोड़े-बहुत परिवर्तन हुए। रामायण के आकार में विशेष वृद्धि ३०० पू० ई० से २०० ईसवी के बीच में हुई। गौतमबुद्ध के व्यक्तित्व की प्रतियोगिता में वैष्णव सुधार ने इस प्राचीन महाकाव्य का उपयोग किया। फलतः इस महापुरुष को विष्णु के अवतार का रूप दे दिया और इस ग्रंथ को वैष्णव-भक्ति का एक प्रधान माध्यम बना डाला। इस प्रकार की सामग्री प्रथम बालकांड और अंतिम उत्तरकांड में विशेष बढ़ाई गई। बीच के कांडों में भी थोड़े बहुत परिवर्द्धन हुए। इस समय वाल्मीकि-रामायण के मूल तथा परिवर्द्धित अंशों को अलग करना कठिन है किंतु दोनों अंशों के दृष्टिकोण में भेद पढ़ते समय स्पष्टरूप में मालूम पड़ जाता है।

अधिकांश भारतीय विद्वानों के अनुसार महाभारत का प्रसिद्ध युद्ध १४०० पू० ई० के लगभग हुआ होगा। इस युद्ध का इतिहास भी बहुत दिनों तक मौलिक रूप में चलता रहा और कदाचित् जनपदकाल के अंत में ५०० पू० ई० के लगभग काव्य के रूप में क्रमबद्ध किया गया। इसकी श्लोक-संख्या लगभग ८८०० थी। महाभारत का यह मूल-रूप 'जय' काव्य कहलाता था।

३०० पू० ई० से ईसवी सदी के आरंभ के बीच में 'जय' काव्य का 'भारत' नाम पड़ा और इसकी श्लोक-संख्या बढ़कर लगभग २४००० हो गई। इसके उपरांत समकालीन शैव और वैष्णव-संप्रदायों ने इसमें अपनी विचारावली का विशेष समावेश किया। राम की तरह कर्मयोगी कृष्ण को भी विष्णु के मुख्य अवतार के रूप में चित्रित किया गया और इस तरह यह ग्रंथ भी एक जनपद-संबंधी इतिहास के स्थान पर वैष्णव-काव्य हो गया। ३५० ईसवी तक महाभारत में नल-दमयंती, सावित्री-सत्यवान्, दुष्यंत-शकुंतला आदि के अनेक आख्यान और उपाख्यान जोड़े गए और मध्यदेश के जनपदों से संबंध रखनेवाली अन्य प्रसिद्ध कथाएं, जो मौखिक रीति से चली आती थीं, इसमें समाविष्ट की गईं। इसके अतिरिक्त धर्मशास्त्र तथा राजनीति का भी इसे विश्व-कोष सा बना दिया गया। कृष्णभक्ति-संबंधी अंशों में भी और परिवर्द्धन हुआ। इस तरह 'भारत' अब 'महाभारत' हो गया और इसकी श्लोक-संख्या लगभग एक लाख हो गई। वर्तमान महाभारत में इन उपाख्यानों से संबंध रखनेवाली सामग्री का आकार ७५ से ८० हज़ार श्लोकों के बीच में होगा।

यदि रामायण और महाभारत के मूल अंश पृथक् किए जा सकें तो वे जनपदकालीन इन ऐतिहासिक काव्यों के सच्चे रूप का परिचय दे सकते हैं और उस समय की संस्कृति पर प्रकाश डालने में भी विशेष सहायक हो सकते हैं। इन ग्रंथों के वर्तमान रूप में जनपदयुग और साम्राज्य-युग की संस्कृतियों की खिचड़ी हो गई है किंतु यत्न करने से दाल और चावल अभी भी अलग करना असंभव नहीं है।

रामायण और महाभारत जनपद-युग से संबंध रखनेवाली अंतिम प्रसिद्ध रचनाएं हैं। मध्यदेश की भाषा और साहित्य के इतिहास में इनके बाद नए युग का आरंभ होता है। मिश्रण के कारण नए युग का पूर्वरूप इन इतिहास-ग्रंथों में ही दिखलाई पड़ने लगता है।

३. प्राचीन आर्यजीवन

मध्यदेश के जनपदों के संक्षिप्त वर्णन के आधार पर उस काल की राजनीतिक परिस्थति का चित्र बहुत-कुछ स्पष्ट हो गया होगा । इसी प्रकार वैदिक तथा आर्षसाहित्य के प्रधानतया धार्मिक होने के कारण उसकी रूपरेखा से आर्यजीवन के इस पहलू पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। इस संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि जनपदकालीन साहित्य का संबंध विशेषतया राजन्य तथा ब्राह्मण वर्ग से है, किंतु क्योंकि विश् अथवा साधारण व्यक्ति के लिए ब्राह्मण और राजन्य के कृत्य ही आदर्श-स्वरूप थे इसलिए कम से कम आर्यजीवन के आदर्शों की दृष्टि से यह साहित्य जनपदकालीन संपूर्ण आर्यजीवन का द्योतक कहा जा सकता है। जनपदकालीन आर्यजीवन को समझने के लिए यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उस समय मध्यदेश के जनपदों की जनता ऐसी घनी नहीं बसी होगी जैसी आज है। प्रायः जंगलों को काट कर बीच-बीच में दूर-दूर आबादी थी। सीमाप्रांतों पर तो कदाचित घने जंगल थे। आज की तरह सहारनपुर से भागलपुर तक की गंगा की घाटी एक विशाल खेत के रूप में नहीं थी। आज के मालवा तथा दक्षिण के प्रदेशों को देखकर उस समय के गंगा के मैदान के वातावरण का कुछ-कुछ अनुमान हो सकता है। इसके अतिरिक्त उस समय गंगा, यमुना, सरयू आदि मध्यदेश की बड़ी नदियों से नहरें नहीं निकली थीं अतः वे जल से पूर्ण बहती थीं। नदियों के किनारे बड़े नगर बहुत संख्या में न होने तथा नदियों को पवित्र मानने की भावना के कारण ये निर्मल शुद्ध जल से पूर्ण रहती थीं। वनों के अधिक होने के कारण वर्षा भी अधिक होती होगी। कुछ इस प्रकार के वातावरण में संपूर्ण मध्यदेश में आर्य-जन बसे हुए थे।

वैदिक तथा आर्षसाहित्य के, प्रधानतया ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के, कुछ महत्वपूर्ण उद्धरणों की सहायता से आगे आर्यजीवन का चित्र स्पष्ट रूप में सामने रखने का यत्न किया गया है।

जनपदकालीन धार्मिक वातावरण में आरंभ में मध्यदेश की आर्य-जनता में देवताओं की कल्पना प्रमुख थी, धीरे-धीरे इन देवताओं के निमित्त किए गए यज्ञ प्रधान हो गए और अंत में इन यज्ञों की समाप्ति पर होनेवाली दार्शनिक विचारावली सब से अधिक महत्वपूर्ण समझी जाने लगी। प्राकृतिक अमर शक्तियां देवता मानी जाती थीं। उनकी तुलना में मनुष्य तथा अन्य प्राणी मर्त्य की श्रेणी में थे। इन देवताओं की संख्या साधारणतया ३३ मानी गई है। **जो देव द्युलोक में ११ हैं, पृथ्वी पर ११ हैं, अंतरिक्ष में रहते हैं तब भी ११ हैं, वे अपनी महिमा से यज्ञ की सेवा करते हैं।'** (ऋ० १, १३९, ११)। द्युलोक के देवताओं में वरुण, विष्णु और उषा प्रधान हैं। अंतरिक्ष के देवताओं में इंद्र, रुद्र और मरुत तथा पृथिवी के देवताओं में अग्नि, सोम और पृथिवी।

ऋग्वेद के सूक्तों की संख्या की दृष्टि से वैदिक देवताओं में प्रथम तीन स्थान क्रम से इंद्र, अग्नि और सोम को मिलेंगे। यज्ञ की दृष्टि से ये ही तीन सब से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

इन्द्र

समस्त देवताओं में इंद्र आर्यों के प्रतिनिधि राष्ट्रीय देवता माने जा सकते हैं। इंद्र प्रकृति का शक्तिशाली स्वरूप है जो अनेक रूपों में वर्तमान है। यह वर्षाकाल में बादलों की गरज और बिजली की चमक के रूप में प्रकट होता है। सूर्य की प्रखरता में भी इंद्र की शक्ति सन्निहित है। इसके अतिरिक्त प्रकृति में या मनुष्य के जीवन में जहां भी बल, तेज और ऐश्वर्य का संचार दिखलाई पड़े वहां ही इंद्र की शक्ति को वर्तमान समझना चाहिए। इसी कारण युद्धों के संबंध में इंद्र का विशेष महत्व माना जाता था। शत्रुओं का नाश आर्यजन इंद्र की कृपा से ही कर सकते थे, या यों कहा जा सकता है इंद्र ही इन शत्रुओं का नाश करते थे। नीचे इंद्र की महिमा-संबंधी सूक्तों के कुछ अंश दिए जाते हैं।

जो उत्कृष्ट नीति द्वारा तुर्वश और यदु को दूरदेश में लाए थे, वही युवा इंद्र हमारे सखा बनें।

जो व्यक्ति इंद्र की स्तुति नहीं करता उसे भी इंद्र अन्न प्रदान करते हैं।

इंद्र मंथरगति अश्व पर चढ़कर शत्रुओं के बीच निहित धन को जीतते हैं।

इंद्र की नीतियां उत्कृष्ट और महान् हैं। इनकी स्तुतियां भी नाना प्रकार की हैं। इनकी रक्षा का कथन कभी क्षीण नहीं होता।

बंधुओ, मंत्र द्वारा आवाहन के योग्य इन्हीं इंद्र की पूजा करो और इन्हीं की स्तुति करो, क्योंकि वे ही हमें वस्तुतः प्रकृष्ट बुद्धि प्रदान करते हैं।

वृत्र विनाशक इंद्र, तुम एक व दो स्तोताओं के रक्षक हो। तुम्हीं हमारे जैसे लोगों के रक्षक हो।

इंद्र, हमारे पास से विद्वेषियों को दूर करो और स्तोताओं को समृद्धि दो। इंद्र, तुम वीर पुत्र देनेवाले हो अतः मनुष्य तुम्हारी स्तुति करते हैं।

मैं स्तोत्र के बल से मित्र, महान, मंत्रद्वारा आह्वान के योग्य और स्तुतिपात्र इंद्र को धेनु की तरह अभीष्ट दुहने के लिए बुलाता हूं।

वीर्यवान और शत्रु-सेना को पराजित करनेवाले इंद्र के दोनों हाथों में दिव्य और पार्थिव धन है, ऐसा ऋषि लोग बराबर कहा करते हैं।

हे वज्रधारक और यज्ञपति इंद्र, तुम शत्रुओं के दृढ नगरों को निर्मूल करते हो। हे सर्वोन्नत इंद्र, तुम शत्रुओं की मायाओं को नष्ट करते हो।

हे सत्यस्वभाव, सोमपायी, और अन्नरक्षक इंद्र, हम अन्नाभिलाषी होकर ऐसे गुणों से संयुक्त तुम्हें ही बुलाते हैं।

इंद्र, तुम पहले आह्वान के योग्य थे और इस समय शत्रुओं के बीच रखे हुए धन की प्राप्ति के लिए आहूत होते हो। हम तुम्हें बुलाते हैं, तुम हमारा आह्वान सुनो।

इंद्र, हमारे स्तोत्र को सुनकर तुम्हारे प्रसन्न होने पर तुम्हारी कृपा से हम अश्वों के द्वारा शत्रुओं के अश्व, उत्कृष्ट अन्न और गूढ़ धन को जीतने में समर्थ हों।

(ऋ० ६, ४५; १ से १२)

इंद्र के चाहने पर शशक भी आते हुए सिंह आदि का सामना कर सकते हैं। दूर से ढेला फेंक कर पर्वत तोड़ा जा सकता है, क्षुद्र के वश में महान् भी आ जाता है और बछड़ा भी साँड़ के साथ लड़ने को जाता है।

(ऋ० १०, २८; ९)

स्वर्ग, पृथ्वी, जल, पर्वत आदि सबपर इंद्र का आधिपत्य है। बली और बुद्धिमान व्यक्तियों पर इंद्र का ही आधिपत्य है। नई वस्तुएं पाने के लिए और प्राप्त वस्तुओं की रक्षा के लिए इंद्र की प्रार्थना करनी होती है।

रात्रि, दिन, आकाश, जलधारक सागर, विशाल वायु, पृथ्वी की सीमा, नदी मनुष्य आदि से इंद्र बड़े हैं। इंद्र सब का अतिक्रम किए हुए हैं।

(ऋ० १०, ८९; १०, ११)

हे सूर इंद्र, पुरोडाश नामक अन्न को स्वीकार कर सौ और सहस्त्र गाएं हमें दो।

इंद्र, तुम हमें गाय, अश्व और तेल दो। साथ ही मनोहर और हिरणमय अलंकार भी दो।

शत्रुओं को रगड़नेवाले और वासदाता, इंद्र, तुम्हीं सुने जाते हो। तुम हमें बहुसंख्यक कर्णाभरण प्रदान करो।

शूर इंद्र, तुम्हारे सिवा अन्य वर्द्धक नहीं है, तुम्हारे सिवा संग्राम में कोई उत्तम दाता भी नहीं है, तुम्हारे सिवा ऋत्विकों का कोई नेता भी नहीं है।

इंद्र किसी का तिरस्कार भी नहीं करते, इंद्र किसी से हार नहीं सकते, वे संसार को देखते और सुनते हैं।

इंद्र का वध मनुष्य नहीं कर सकते, वे क्रोध को मन में स्थान नहीं देते, निंदा करने पर भी निंदा को स्थान नहीं देते।

मेरा मन जौ, गौ, सुवर्ण और अश्व का अभिलाषी होकर तुम्हारे ही पास आता है।

(ऋ० ८, ६८; १-६, ९)

अग्नि

इंद्र के बाद जनपद युग के देवताओं में दूसरा स्थान अग्नि का है। ऋग्वेद का प्रथम सूक्त ही अग्नि-संबंधी है। उदाहरण के लिए इसका भावानुवाद नीचे दिया जा रहा है।

यज्ञ के पुरोहित, दीप्तमान, देवों को बुलाने वाले ऋत्विक् के समान और रत्नधारी अग्नि की मैं स्तुति करता हूं।

प्राचीन ऋषियों ने जिसकी स्तुति की थी, आधुनिक ऋषि जिसकी स्तुति करते हैं, वह अग्नि देवताओं को यज्ञ में बुलाते हैं।

अग्नि की कृपा से धन मिलता है, वह प्रतिदिन बढ़ता है, उससे कीर्ति फैलती है तथा उससे वीर पुरुषों की नियुक्ति होती है।

हे अग्नि, जिस यज्ञ को तुम चारों ओर से घेरे रहते हो वह ही देवताओं को प्राप्त होता है।

हे अग्नि, तुम होता, बुद्धिमान, सत्यपरायण, तथा अत्यंत कीर्तिमान हो। हे देव, तुम देवताओं के साथ यहां आओ।

हे अग्नि, तुम हविष्य देनेवाले यजमान का कल्याण करते हो। हे अङ्गिरः, वह कल्याण तुम्हारा प्रीतिसाधक है।

हे अग्नि, हम प्रतिदिन दिनरात हृदय से तुम्हें नमस्कार करते हुए तुम्हारे पास आते हैं।

हे अग्नि, तुम प्रकाशमान, यज्ञ-रक्षक, कर्मफल के द्योतक तथा यज्ञशाला में बढ़नेवाले हो।

जिस तरह पुत्र पिता को आसानी से पा जाता है उस तरह हम भी तुम्हें पा सकें। हमारा मंगल करने के लिए हमारे पास निवास करो।

सोम

जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है वैदिककालीन देवताओं में ऋग्वेद में तीसरा स्थान सोम का है। नीचे एक सोम-संबंधी सूक्त का अनुवाद दिया जा रहा है।

हे सोम, इंद्र के पान के लिए तुम अभिषुत होकर स्वादुतर और अत्यंत मदकर धारा से बहो।

राक्षसों के नाशक और सब के दर्शक सोम लोहे से पीसे जाकर, ३२ सेरवाले कलश से युक्त होकर अभिषाण स्थान में बैठते हैं।

हे सोम, तुम प्रचुर दान करो, सारे पदार्थों को दान करो और विशेषरूप से वृत्र का वध करो। धनी शत्रुओं का धन हमें दो।

तुम महान हो, अन्न के साथ देवों के यज्ञ की ओर जाओ, (हमें) बल और अन्न दो।

हे इंद्र, हम तुम्हारी सेवा करते हैं, प्रतिदिन यही हमारा काम है।

सूर्य की पुत्री श्रद्धा तुम्हारे क्षरणशील रस को विस्तृत और नित्य दशा पवित्र के द्वारा पवित्र करती है।

अभिषव (सोम निचोड़ने) के समय यज्ञ में बहिनों के समान दस उँगली रूपी स्त्रियां उस सोम को सब से पहले ग्रहण करती हैं।

उँगलियां उसी सोम को प्रेरित करती हैं। यह सोमात्मक मधु तीन स्थानों में रहता है और शत्रुओं को रोकता है।

इंद्र के पान के लिए न मारने योग्य गाएं इस शिशु सोम को दूध के द्वारा संस्कृत करती हैं।

शूर इंद्र इस सोमपान से मत्त होकर सारे शत्रुओं का विनाश करते और यजमान को धन देते हैं।

(ऋ० ९, १)

नीचे दो-तीन अन्य प्रमुख देवताओं से संबद्ध सूक्तों के कुछ अंश दिए जा रहे हैं। वैदिक-कालीन देवताओं की भावना को स्पष्ट करने में ये सहायक होंगे।

वायु

जो वायु रथ के समान वेग से दौड़ती है उसकी महिमा का मैं वर्णन करता हूं। इसका शब्द वज्र के समान है। यह वृक्ष आदि को तोड़ते-फोड़ते आती है। यह चारों ओर रक्तवर्ण करके आकाश-पथ का अवलंबन करके और इस पृथिवी पर धूल बिखेर कर जाती है।

(ऋ० १०, १६८; १)

ओषधि के समान होकर वायु हमारे हृदय में आवे। वह कल्याणकर और सुखकर हो। वह हमारी आयु बढ़ावे।

हे वायु, तुम हमारे पिता, भ्राता और बंधु हो। तुम हमारे जीवन के लिए ओषधि करो।

हे वायु, तुम्हारे घर में यह जो अमृत की निधि स्थापित है उससे हमारे जीवन के लिए अमृत दो।

(ऋ० १०, १८६)

उषा

हे उषा, तेज के साथ तुम आओ। परिपूर्ण स्तन के साथ गाएं मार्ग पर चली हैं।

उत्तम स्तोत्र ग्रहण करने को तुम आओ। यज्ञकर्ता उत्तम दान-सामग्री लेकर यज्ञसंपादन कर रहा है।

अन्नसंग्रह करके हम उत्तम दान करने को उद्यत हैं। सूत्र के समान हम यज्ञ का विस्तार करते हैं। तुम्हारे लिए हम यज्ञ करते हैं।

उषा ने अपनी बहिन रात्रि का अंधकार दूर किया। उत्तम रूप से वृद्धि प्राप्त करके अपने रथ का संचालन किया।

(ऋ० १०, १७२)

वरुण

राजा वरुण, तुम्हारे मिट्टी के घर को मैं न पाऊं। शोभनधन वरुण, मुझे सुखी करो, दया करो।

आयुधवाले वरुण, मैं काँपता हुआ वायुचालित बादल की तरह जाता हूं। शोभनधन वरुण, मुझे सुखी करो, दया करो।

धनी और निर्मल वरुण, दीनता और असमर्थता के कारण अनुष्ठानों की मैंने प्रतिकूलता की है। सुधन वरुण, मुझे सुखी करो-दया करो।

वरुण हम मनुष्य हैं, इसलिए देवों का जो हमने अपकार किया है और अज्ञानता के कारण तुम्हारे जिस कार्य में हमने असावधानी की है उन सब पापों के कारण हमें मत मारना।

(ऋ० ७, ८९)

सामाजिक जीवन में भिन्न-भिन्न पहलुओं से संबंध रखनेवाले स्थल ऋग्वेद दशम मंडल में तथा अथर्ववेद में विशेष पाए जाते हैं। कुछ रोचक संकलन दोनों संहिताओं से चयन करके नीचे दिए जा रहे हैं।

अन्नप्राशन

दो दाँत निकल आने पर अन्नप्राशन के बाद बच्चे को क्या भोजन दिया जाता था यह निम्नलिखित मंत्र से स्पष्ट है:--

चावल खाओ, जौ खाओ, (उरद की) दाल खाओ और तिल खाओ। तुम्हारा यह भाग उत्तम फलप्राप्त करने के लिए नियत किया गया है। ऐ दाँतो, माता-पिता को (काट कर) कष्ट न देना।

(ऋ० ६, १४०, २)

नाई व बाल बनवाने के संबंध में

अथर्ववेद में एक सूक्त में (कां० ३, १५) केश बनाने के संबंध में रूपक बाँधा गया है:—

सविता छुरा लेकर आए हैं, हे वायु, गरम जल लेकर आओ। आदित्य रुद्र वसु बालों को गीला करें। हे उत्कृष्ट ज्ञानवाले, राजा सोम के केश बनाओ।

अदिति दाढ़ी बनावें, जल उसे अच्छी तरह गीला करें, प्रजापति दीर्घायु करें और देखने की शक्ति बढ़ावें।

जिस छुरे से सविता ने राजा सोम और विद्वान वरुण के केश बनाये थे, हे ब्राह्मणो, उसी से इसके केश बनाओ जिससे यह व्यक्ति गौवाला, अश्ववाला और संततिवाला हो।

विवाह तथा पतिपत्नी-संबंधी

सूर्या के विवाह के रूपक की सहायता से विवाह के आदर्शों का ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध सूक्त में उल्लेख किया गया है। इस सूक्त के कुछ स्थल (ऋ० १०, ८५; २५-२७, ३३, ३६. ४२-४७) निम्नलिखित हैं:—

मैं कन्या को पितृकुल से छुड़ाता हूं, दूसरे स्थान से नहीं। भर्तृगृह में इसे भलीभाँति स्थापित करता हूं। वर्षक इंद्र, यह सौभाग्यवती और सुपुत्रवाली हो।

तुम्हें हाथ में धारण करके पूषा यहां से ले जावें, अश्विद्वय तुम्हें रथ द्वारा ले जावें, गृह में जाकर गृहिणी बनो। पति के वश में रहकर भृत्यादि का व्यवस्थापन करो।

इस गृह में संतान उत्पन्न करके प्रसन्न होओ, यहां सावधान होकर कार्य करना। स्वामी के साथ अपने शरीर को सम्मिलित करो, वृद्धावस्था तक अपने गृह में प्रभुता करो।

यह वधू शोभन कल्याणवाली है, सभी आशीर्वादकर्ता आवें और इसे देखें, इसे स्वामी की प्रिय पात्री बनने का आशीर्वाद देकर सब लोग अपने-अपने घर चले जावें।

... ...

तुम्हारे सौभाग्य के लिए मैं तुम्हारा हाथ पकड़ता हूं, मुझे पति पाकर तुम वृद्धावस्था में पहुंचना। भग, अर्यमा और पूषा ने मुझे गृहधर्म चलाने के लिए दिया है।

... ...

वर-वधू, तुम दोनों यहीं रहो, परस्पर पृथक् न होना। नाना प्रकार के खाद्य भक्षण करना। अपने घर में रह कर पुत्र-पौत्रों के साथ आमोद, आल्हाद और क्रीडा करना।

प्रजापति हमें संतति दें और अर्यमा बुढ़ापे तक हमें साथ रक्खें। वधू, तुम मंगलमयी होकर पतिगृह में रहना। हमारे मनुष्यों और पशुओं के लिए तुम कल्याणकारी रहना।

तुम्हारी दृष्टि निर्दोष हो, तुम पति के लिए मंगलमयी होओ, पशुओं के लिए मंगुलकारिणी होओ, तुम्हारा मन सुंदर हो, तुम्हारा सौंदर्य शुभ हो। तुम वीरप्रसविनी और देवों की भक्त होओ। हमारे मनुष्यों और पशुओं के लिए कल्याणमयी होओ।

वर्षक इंद्र, इस नारी को उत्तम पुत्र और सौभाग्यवाली करो। इसके गर्भ में दस पुत्र स्थापित करो। पति को लेकर इसे ग्यारह व्यक्ति वाली बनाओ।

हे वधू, तुम सास, ससुर, ननद और देवरों की सम्राज्ञी बनो।

सारे देवता हम दोनों के हृदयों को मिला दें। जल, वायु, धाता और सरस्वती हम दोनों को संयुक्त करें।

अथर्ववेद में दो लंबे सूक्तों में (कां० १४, सू० १, २) विवाह के आदर्श का सुंदर वर्णन है। उदाहरण के लिए प्रथम सूक्त से दो मंत्र नीचे दिए जाते हैं। आर्य-परिवार में नव-वधू के सामने क्या आदर्श रक्खा जाता था यह इससे स्पष्ट होता है:--

उत्तम चित्त, संतान, सौभाग्य और धन की आशा करती हुई, हे वधू, तुम अपने पति के अनुकूल बर्तने वाली होकर सुख के लिए कटिबद्ध हो। (४२)

हे वधू, तू श्वसुरों में सम्राज्ञी होकर रह, देवरों में सम्राज्ञी होकर रह, ननद के समक्ष महारानी के समान आदरयुक्त होकर रह तथा सास की दृष्टि में भी महारानी बन कर रह। (४४)

स्त्री पुरुष के आपस में व्यवहार के संबंध में निम्नलिखित मंत्र अत्यंत सुंदर हैं:—

हम दोनों की आँखें मधु के समान प्रेममय अमृत से सिंची हों, हम दोनों का मिलन सुखपूर्ण हो। हे प्रियतम और प्रियतमे, मुझको तू अपने हृदय के अंदर रख ले, हम दोनों का मन सदा साथ रहे।

युवती कन्या के लिए योग्य पति की प्राप्ति के संबंध में अनेक उल्लेख हैं। अथर्ववेद तो इस विषय का एक पूरा सूक्त है जिसका एक मंत्र नीचे दिया जाता है:—

हे अग्ने, यह नारी पति को प्राप्त हो। राजा सोम निश्चय से इसे सौभाग्यसंपन्न करें। यह नारी पुत्रों को उत्पन्न करती हुई श्रेष्ठ रानी के समान हो। पति के पास जाकर सौभाग्यवती होकर शोभा को प्राप्त हो।

(अ० ३, ३६, ३)

इसी विषय पर ऋग्वेद का एक मंत्र निम्नलिखित हैः—

कितनी ही ऐसी स्त्रियां हैं जो केवल द्रव्य से ही प्रसन्न होकर स्त्री चाहनेवाले पुरुष के ऊपर आसक्त होती हैं। जो स्त्री भद्र या सभ्य है, जिसका शरीर सुसंगठित है, वह अनेक पुरुषों में से अपने मन के अनुकूल प्रियपात्र को पति स्वीकृत करती है।

(ऋ० १०, २७; १२)

अविवाहित कन्याएं विवाह के लिए कितनी उत्सुक रहती थीं यह घोषा के प्रसिद्ध सूक्त से स्पष्ट होता है। अविवाहित घोषा अश्विनी कुमारों से प्रार्थना करती हुई कहती है :—

हे अश्विद्वय, मैं विवाहित स्त्री-पुरुषों का सुख नहीं जानती। युवक पति और युवती पत्नी के मिलन के सुख को मुझे भलीभाँति समझा दो। हे अश्विद्वय, मेरी एकमात्र यही अभिलाषा है कि मैं स्त्री के प्रति अनुरक्त बलिष्ठ स्वामी के गृह में जाऊं।

(ऋ० १०, ४०; ११)

पति के किसी अन्य स्त्री से प्रेम करने के कारण सौतिया डाह का उल्लेख भी वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलता है। पुलोम-पुत्री शची का निम्नलिखित सूक्त सपत्नियों पर विजय प्राप्त कर पति की एकमात्र प्रेयसी होने की गर्वोक्ति का अत्यंत सुंदर चित्रण करता हैः—

हे उदय होने वाले सूर्य, मैं समझ चुकी हूं कि मेरा भी भाग्योदय हुआ है। मेरे सामने सारी सपत्नियां परास्त हैं। मैंने स्वामी को वश में कर लिया है।

मैं ही केतु और मस्तक हूं। प्रबल होकर मैं स्वामी के मुंह से मीठा वचन सुनती हूं। मुझे सर्वश्रेष्ठ जानकर मेरे स्वामी मेरे कार्य का अनुमोदन करते हैं।

मेरे पुत्र बली हैं। मेरी ही कन्या सर्वश्रेष्ठ शोभा से शोभित है। मैंने सब पर विजय प्राप्त की है। स्वामी के पास मेरा ही नाम आदरणीय है।

(ऋ० १०, १५९; १-३)

स्त्रियों की निंदा संबंधी कुछ उक्तियां भी मिलती हैंः—

इंद्र ने ही कहा था कि स्त्री के मन का शासन करना असंभव है,स्त्री की बुद्धि छोटी होती है।

(इंद्र ने कहा कि) तुम स्तोता होकर भी स्त्री हो अतः तुम्हें नीचे देखना चाहिए, ऊपर नहीं, पैरों को मिलाए रक्खो, (इस प्रकार कपड़े पहनो कि) तुम्हारे केश (ओष्ठप्रांत) और प्लक (कटि का निम्नभाग) कोई देख नहीं पावे।

(ऋ० ८, ३३; १७, १९)

(उर्वशी की उक्ति) हे पुरूरवा, स्त्रियों की मैत्री स्थायी नहीं होती। स्त्रियां और वृकों (भेड़ियों) का हृदय समानरूप से कठोर होता है।

(ऋ० १०, ९५, १५)

गृहस्थ जीवन तथा पारिवारिक आदर्श

ऋण-रहित होने के संबंध में अथर्ववेद में तीन सूक्तों में उल्लेख आया है (अ० ६, ११७-११९) वास्तव में गृहस्थ के लिए ऋणी होना चिंता का बहुत बड़ा कारण होता है।

घर में आपस में व्यवहार के संबंध में अत्यंत स्पष्ट और सुंदर उल्लेख हमें अथर्ववेद के एक सूक्त में मिलते हैं:—

पुत्र पिता का आज्ञाकारी हो और माता के साथ एक मन वाला हो। स्त्री पति से मधुर तथा शांतियुक्त वाणी बोले।

भाई-भाई से द्वेष न करे, बहिन-बहिन से द्वेष न करे। सब एकत्र होकर समान व्रत का आचारण करते हुए कल्याणयुक्त वाणी से वार्तालाप करें।

तुम्हारा पीना समान हो, समान भोजन हो, तुम्हें समान बंधन में मैं जोड़ता हूं। नाभि के चारों ओर आरों के समान तुम लोग भली प्रकार अग्नि की उपासना करो।

तुम सब को एक कार्य में उद्योग करनेवाला और समान मनवाला करता हूं। समान द्रव्यभाग देकर समान भोजन करने का उपदेश करता हूं। अमर देवताओं के समान तुम लोग सायंप्रातः आपस में प्रेमभाव रखनेवाले होओ।

(अ० ३, ३०, २–३,६–७)

इसी प्रकार अथर्ववेद, अध्याय ७-६०, में भी गृहस्वामी तथा घर के अन्य स्वजनों के संबंध में आदर्श घर के वातावरण का वर्णन है।

अतिथि-सत्कार गृहपति का परम कर्तव्य माना जाता है। अथर्ववेद अध्याय ९-६ में अतिथियज्ञ की विस्तृत तुलना देवयज्ञ से की गई है।

जब गृहपति अतिथियों की प्रतीक्षा करता है तो वह एक प्रकार से देवयज्ञ करने का ही संकल्प करता है।

(१, ३)

जिस समय गृहपति अतिथि के लिए उपस्थित सामग्री पर दृष्टि डालता है और कहता है कि अमुक वस्तु और अधिक लीजिए इत्यादि तो वह उस अतिथि को यज्ञ में दीक्षित यजमान ब्राह्मण के समान बना लेता है। (२, १)

जो पुरुष अतिथि के पहले भोजन कर लेता है वह अपने घरों की इष्टापूर्ति (सुख-संपत्ति) को खा जाता है।

यह अतिथि श्रोत्रिय विद्वान के समान पूजनीय है, अतः अतिथि से पहले कभी भोजन न करे। (३, १, ७,)

गृहदेवता के एक सूक्त में निम्न प्रकार की प्रार्थना की गई है :—

हे वास्तोष्पति (गृहपालक देव) तुम हमें जगाओ। हमारे घर को नीरोग करो। हम जो धन माँगे वह दो। हमारे पुत्र-पौत्र आदि द्विपदों और गौ-अश्व आदि चतुष्पदों को सुखी करो।

वास्तोष्पते, तुम हमारे और हमार धन के वर्द्धयिता होओ। सोम की तरह आह्लादक देव, तुम्हारे सखा होने पर हम गौओंवाले, अश्वोंवाले और जरारहित होंगे। जैसे पिता पुत्र का पालन करता है वैसे ही तुम हमारा पालन करो।

वास्तोष्पते, हम तुम्हारा सुखकर, रमणीय और धनवान स्थान प्राप्त करें। तुम हमारे प्राप्त और अप्राप्त सुंदर धन की रक्षा करो और हमारा स्वस्ति के साथ सदा पालन करो।

(ऋ० ७, ५४)

सुंदर घर बनाने के संबंध में अथर्ववेद में एक सूक्त है जिसके कुछ अंश नीचे दिए जाते हैं:—

इस उत्तम भूमि में दृढ शाला बनाता हूं। यह सुरक्षित रहे और घृत से भरपूर रहे। हे शाला, तुझमें हम समस्त वीर पुरुषों के साथ, सुंदर वीरों के साथ तथा नीरोग वीरों के साथ रहें।

हे शाला, यहां तू दृढ बनी रह। घोड़ों से युक्त, गौओं से युक्त, शुभ वेदवाणी से युक्त, अन्न-घृत और दूध से युक्त मेरे सौभाग्य के लिए तू ऊँची खड़ी रह।

हे शाला, तू बड़े खंभों से युक्त, विशाल छतों से ढकी, धन-धान्य से पूर्ण रहे। तुझमें बच्चे और कुमार बालक आवें। संध्या को गौएं धीरे-धीरे आकर प्रवेश करें।

(अ० ३, १२, १-३)

इसी प्रकार गौओं के रहने के लिए पृथक् गोष्ठ या गोशाला निर्माण के संबंध में भी उल्लेख मिलते हैं। (अ० ३, १४)।

प्रार्थनाओं का रूप

वैदिक देवताओं से की गई प्रार्थनाएं उस समय की मनोवृत्ति और अभिलाषाओं पर विशेष प्रकाश डालती हैं, और फलस्वरूप वैदिक-कालीन संस्कृति तथा जीवन को समझने में विशेष सहायक हैं। वैदिक संहिताओं से कुछ प्रार्थनाओं को चयन करके नीचे दिया जा रहा है:—

(अ० ३, १४)

हे इंद्र, हमें उत्तम धन दो, हमें निपुणता की प्रसिद्धि दो, हमें सौभाग्य दो, हमारा धन बढ़ा दो, हमारे शरीर की रक्षा करो, वाणी में मिठास दो और दिनों को सुदिन करो।

(ऋ० २, २१; ६)

हे रुद्र, हम तुम्हारी दी हुई सुखकारक ओषधि के द्वारा सौ वर्ष जीवित रहें। हमारे शत्रुओं का विनाश करो, हमारा पाप पूर्णरूप से दूर कर दो और सर्व शरीरव्यापी व्याधि को भी दूर कर दो।

(ऋ० २, ३३; २)

हम स्तोता गौओं की अभिलाषा करते हैं, अश्वों की अभिलाषा करते हैं। अन्नों की अभिलाषा करते हैं और स्त्री की अभिलाषा करते हैं।

(ऋ० ४, १७; १६)

वरुण, मुझे किसी धनी और प्रभूत दानशील व्यक्ति से अपनी दरिद्रता की बात न कहनी पड़े, मेरे पास आवश्यक धन का अभाव न हो। हम वीर पुत्र-पौत्रवाले होकर इस यज्ञ में स्तुति करेंगे। (ऋ० २, २९; ७)

हे उषा, हमें गौ, वीर और अश्व सहित धन दो। हमें बहुत अन्न दो। पुरुषों के बीच हमारे यज्ञ की निंदा नहीं करना। तुम हमारा सदा स्वस्ति द्वारा पालन करो।

(ऋ० ७, ७५; ८)

शूर इंद्र, पुरोडाश को स्वीकार कर हमें सौ और सहस्त्र गायें दो।

हे इंद्र, तुम हमें गाय, अश्व और तैल दो, साथ ही मनोहर और सोने के अलंकार दो।

हे इंद्र मेरा मन जौ, गौ, सुवर्ण और अश्व का अभिलाषी होकर तुम्हारे ही पास जाता है।

(ऋ० ८, ६७; १, २, ९)

हे इंद्र, तुम हमें स्तुतिपरायण, देवताओं में विश्वास करनेवाला, महान विशालमूर्ति, गंभीर सुप्रतिष्ठित, प्रसिद्ध ज्ञानी, शत्रुदमनकर्ता पूज्य, और वर्षक पुत्ररूप धन दो।

हे इंद्र, अश्वयुक्त, रथी, वीर, संपन्न असंख्य गौओं आदि से युक्त, अन्नवान, कल्याणकारी सेवकों से युक्त, विप्रों से वेष्टित, सब की सेवा करनेवाला, पूज्य और वर्षक पुत्रस्वरूप धन हमें दो।

(ऋ० १०, ४८; ३, ५)

सोम, हमें मृत्यु के हाथ में नहीं देना, हम सूर्य का उदय देखते रहें, हमारी वृद्धावस्था दिन-दिन सुख से बीते, निर्ऋति दूर हो।

(ऋ० १०, ५९; ४)

तुम एक सौ शरद, एक सौ हेमंत और एक सौ वसंत तक जीवित रहो। इंद्र, अग्नि, सविता और बृहस्पति हव्य द्वारा तृप्त होकर इस रोगी को सौ वर्ष की आयु दें।

(ऋ० १०; १६१, ४)

हम सौ वर्ष देखें, सौ वर्ष जिएं, सौ वर्ष सुनें, सौ वर्ष बोलें, सौ वर्ष दीनता-रहित रहें और सौ वर्ष से अधिक भी।

(य० ३६, २४)

हे इंद्र, ऐसा करो कि मैं समकक्ष व्यक्तिओं से श्रेष्ठ होऊँ, शत्रुओं को हराऊं, विपक्षियों को मार डालूं और सर्वश्रेष्ठ होकर मैं अशेष गोधन का अधिकारी बनूं।

(ऋ० १०, १६६; १)

हे अग्नि, हम सूने घर में नहीं रहेंगे, दूसरे के घर में भी नहीं रहेंगे। हम पुत्र-रहित और वीर-रहित हैं। तुम्हारी परिचर्या करते हुए हम प्रजा से संपन्न घर में रहें।

हे अग्नि, हमें निःसंतान नहीं करना, बुरे वस्त्र न देना, कुबुद्धि नहीं देना, हमें भूखा न रखना। हमें राक्षस के हाथ में न देना। हे सत्यवान अग्नि, हमें न घर में मारना न वन में।

(ऋ० ७, १-११; १९)

हे उषा, आप अश्वों से युक्त, गौओं से युक्त, वीर पुरुषों से युक्त, सुखकारी मेरे घर को प्रकाशित करें। घी से परिपूर्ण करती हुई सब प्रकार से पुष्ट होकर आप स्वस्तिकारक होकर हमारी रक्षा करें।

(अ० ३, १६, ७)

मेरे मुख में बोलने की शक्ति रहे, नासिका में प्राण बराबर चलें, आँखों में देखने की शक्ति रहे, और कानों में सुनने की शक्ति रहे, मेरे बाल सफ़ेद न हों, दाँत न गिरें, और मेरी भुजाओं में बल रहे।

मेरी पिंडलियों में बल रहे, जाँघों में वेग रहे, पैरों में खड़े होने की शक्ति रहे। मेरे समस्त अंग कष्टरहित हों और मेरी आत्मा संताप-रहित रहे।

(अ० १८, ६०)

ग्रीष्म, हेमंत, शिशिर, वसंत, शरद तथा वर्षा, हमें सुख दो। हमारी गौयें और संतान को सुख प्रदान करो। हम सदा उपद्रवों से रहित इन ऋतुओं के अनुकूल घर में निवास करें।

(अ० ६, ५५, २)

व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से अत्यंत सुंदर और पूर्ण प्रार्थना हमें यजुर्वेद (२२, २२) में मिलती है। इसे राष्ट्रीय प्रार्थना कहा जा सकता है:—

हे ब्रह्म, इस राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चसी (वेद के ज्ञाता) पैदा हों। राजन्य (क्षत्रिय) शूरवीर, धनुर्धर, शत्रु को परास्त करनेवाले और महारथी पैदा हों। दुधार गायें, खूब बोझ ढोने-वाले बैल, तेज़ घोड़े, और गृहस्थी चलाने में समर्थ स्त्रियां हों। इस यजमान के घर सभा में बैठने के योग्य, युवा और वीर पुत्र पैदा हों। जब-जब हम कामना करें तब-तब मेघ बरसे। हमारी खेती फलवती होकर पके। और हमारा योगक्षेम हो, अर्थात् नया धन प्राप्त हो तथा प्राप्त धन सुरक्षित रहे।

मनुष्य का मन दुर्व्यसनों में न पड़े कदाचित् इसलिए मन के शुभ विचारोंवाला होने के संबंध में अनेक प्रार्थनाएं संहिताओं में मिलती हैं। इसमें सब से सुंदर और प्रसिद्ध निम्नलिखित शिवसंकल्प सूक्त (य० ३४, १-६) है:—

जो दिव्य मन जागते पर दूर-दूर भटकता है तथा सोने पर भी उसी प्रकार इधर-उधर जाता है, वह ज्योतियों का भी ज्योति, दूर जानेवाला मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो।

जिसकी सहायता से कर्मण्य, मनस्वी और धीर पुरुष युद्धों तथा यज्ञों में कर्म करते हैं, जो समस्त प्राणियों के भीतर अपूर्व यक्ष है, वह मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो।

जो ज्ञानसाधन है, जो चेतनस्वरूप है, जो स्मरण-शक्ति रखनेवाला है। जो प्राणियों के अंदर अमर ज्योति-स्वरूप है, जिसके बिना कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता, वह मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो।

जिस अमर मन की सहायता से भूत, वर्तमान और भविष्य सब जाना जाता है, जिसकी सहायता से सात होता वाला यज्ञ किया जाता है, वह मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो।

जिसमें ऋक्, यजु, साम उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं जैसे रथ की नाभि में आरे। जिसमें प्राणियों का समस्त ज्ञान पिरोया हुआ है, वह मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो।

जैसे अच्छा सारथी रासों से घोड़ों को हाँकता है, उसी तरह जो मनुष्यों को चलाता है। हृदय में प्रतिष्ठित, कभी भी वृद्ध न होनेवाला, अत्यंत वेगवान् वह मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो।

कृषि तथा गोपालन

आर्यजन प्रधानतया कृषि में लगे रहते थे। फलस्वरूप कृषि तथा गोपालन-संबंधी अनेक सुंदर वर्णन संहिताओं में मिलते हैं:—

हे मित्रो, मदकर सुंदर स्तोत करो, जुताई आदि कर्मों का विस्तार करो, हलदंड-रूपी और पार लगानेवाली नौका प्रस्तुत करो। हल के फाल को तेज और सुशोभित करो। मित्रो, इस उत्तम यज्ञ का अनुष्ठान करो।

हल योजित करो, युगों (जुओं) को विस्तृत करो, यहाँ जो खेत तैयार किया गया है उसमें बीज बोओ। हमारी स्तुतियों के साथ हमारा अन्न परिपूर्ण हो। हेसुए पास के पके धान में गिरें।

पशुओं का जल पीने का स्थान बनाओ, वरत्रा (चमड़े की रस्सी) बनाओ। अधिक, अक्षय और सींचने में समर्थ गड्ढे से जल लेकर हम सींचते हैं।

घोड़ों को संतुष्ट करो, खेत में रक्खे धान को लो, सरलता से धान ढोनेवाले रथ को प्रस्तुत करो। पशुओं का जलाधार एक द्रोण (३२ सेर) होगा। इसमें पत्थर का बना चक्र है। मनुष्यों का जलाधार कुँएं के समान होगा, इसे जलपूर्ण करो।

(ऋ० १०, १०१; २-५, ७)

इसी प्रकार अथर्ववेद (का० ३, १०) में भी खेती का सुंदर वर्णन है:—

हलों को जोत लो, बैलों को हल के जुओं में लगाओ, खेत के ठीक हो जाने पर उसमें बीज बोओ। जब अन्न की बालें दानों से भर जायें तब उसके कुछ समय बाद पका अन्न हँसिए से काट कर प्राप्त करो (१)।

बैल सुखपूर्वक हल को खींचें, किसान (कीनाश) सुखपूर्वक हल चलावें, हल सुखपूर्वक खेत को खोदे, रस्सियां सुखपूर्वक बाँधी जावें और सुखपूर्वक चाबुक को ऊपर उठा-उठा कर चलाओ (६)

यजुर्वेद में एक मंत्र में उस समय के नाजों का उल्लेख आया है:—

यज्ञ से मुझे धान, जौ, माष, तिल, मूँग, खल्व (चना), प्रियुंग (छोटा धान) अण्व (छोटा चावल), सांवा, नीवार, गोधूम, और मसूर (मसुर) प्राप्त हो।

(य० १८, १२)

खेती के कारण वर्षा का महत्व भी था। अथर्ववेद के एक सूक्त (४, १५) में वर्षा का अत्यंत सुंदर काव्यमय वर्णन मिलता है:—

मेघों से घिरी दिशाएं उमड़ आवें, वायु से प्रेरित सजल जलद खूब आवें। उस समय महान जलवर्षक, गरजते हुए वायु से प्रेरित छम-छम करती हुई जलधाराएं इस पृथ्वी को परि-तृप्त करें (१)।

हे मरुगण, आप लोग आनंद में गान करते हुए जनों को मेघों का दर्शन कराओ। जलों के वेगवान प्रवाह नाना स्थानों पर उमड़ आवें। वर्षा की जलधाराएं भूमि को सुशोभित करें। नाना प्रकार के पौधे जगह-जगह उग आवें (३)।

हे पर्जन्य (मेघ), गरजो, कड़को, अपने जल के भंडार को दबाओ, जल से भूमि को सींच डालो। तुम्हारे द्वारा बरसाया गया बहुत जल नीचे आवे। चारों ओर जल बरसने की इच्छा करनेवाले दुर्बल बैलोंवाले किसान अपने घर आ जावें (६)।

प्रत्येक दिशा में बिजलियां चमकें, चारों ओर हवा चले, वायु से प्रेरित मेघगण पृथ्वी की ओर भली प्रकार झुकें (८)।

व्रतचारी ब्राह्मणों के समान एक वर्ष तक बिलों में छिपे मेंढक मानों मेघ की स्तुति करने-वाली वाणी से बोलें (१३)।

अंतिम मंत्र का भाव गोस्वामी तुलसीदास की निम्नलिखित प्रसिद्ध पंक्ति में अविकल रूप में मिलता है :—"दादुर धुनि चहुं ओर सुहाई, वेद पढ़ें जनु बटु समुदाई।"

पालतू पशुओं में गौ का महत्व आर्य प्रारंभ से समझते थे। ऋग्वेद में अनेक सूक्त गोमहिमा पर हैं। उदाहरणार्थ एक सूक्त के कुछ भाग नीचे दिए जाते हैं:—

गौयें हमारे घर आवें और हमारा कल्याण करें। वे हमारे गोष्ठ में प्रवेश करें और हमारे ऊपर प्रसन्न हों। इस गोष्ठ में नानावर्णवाली गौयें संतति-संपन्न होकर उषाकाल में इंद्र के लिए दुग्ध प्रदान करें।

गौयें हमारे समीप से नष्ट नहीं हो। चोर हमारी गौओं को नहीं चुरावें। शत्रुओं का शस्त्र हमारी गौओं पर पतित नहीं हों। गोस्वामी यजमान जिन गौओं से देवताओं का यजन करते हैं और जिन्हें प्रदान करते हैं उनके साथ वे चिरकाल तक युक्त रहें।

हे गौओ, तुम हमें पुष्ट करो। तुम कृश और अमंगल अंगों को सुंदर बनाओ। हे कल्याण-वाणी गौओ, हमारे घर को कल्याणयुक्त करो। सभाओं में तुम्हारा महान यश कीर्तित होता है।

(ऋ० १०, २८; १, ३, ६)

अथर्ववेद में भी गोमहिमा-संबंधी सूक्त मिलते हैं। इनमें से एक के कुछ अंश नीचे दिए जाते हैं:—

गौयें लौट आई हैं। वे हमें सुख दें। वे गोष्ठ में निवास करें और हमें आनंद दें। अनेक बछड़ों वाली, नाना प्रकार की गौयें उषाकाल के पूर्व इंद्र के लिए दुही जावें।

हे गौओ, तुम दुबले आदमी को मोटा कर देती हो, श्रीहीन को दर्शनीय कर देती हो। हे सुंदरवाणी वाली, तुम घर को सुखकारी बनाती हो। सभाओं में तुम्हारा महान् यश कीर्तित होता है।

उत्तम चारे से युक्त देश में चरती हुई, बछड़ों से युक्त, उत्तम जल पीने के स्थान में शुद्ध जल को पीती हुई तुम गौओं को चोर न चुरावें, पापी पुरुष न हर सकें। रुद्र देवता का आयुध सब ओर से तुम्हारी रक्षा करे।

(अ० ४, २१, १, ६, ७)

व्यापार, लेनदेन तथा अन्य व्यवसाय

व्यापार तथा लेनदेन का संयोग से वर्णन अथर्ववेद के एक सूक्त (का० ३, १५) में मिलता है। इसके कुछ अंश नीचे दिए जाते हैं:—

मैं इद्र स्वरूप अथवा श्रेष्ठ वणिक को प्रेरित करता हूं कि वह हमारे पास आवे। व हमारा अग्रगामी हो। व्यापार के मार्ग में बाधक लुटेरे तथा चोरों को दंडित करता हुआ वह सब का स्वामी होकर मुझे धन देने वाला हो (१)।

जो बहुत से आकाश और पृथ्वी पर देवयान मार्ग नाना स्थानों को जाते हैं वे मुझे भी जल और घृत के साथ प्राप्त हों, जिनसे मैं बहुत से पदार्थ खरीद कर धन लाऊं (२)।

हे अग्नि, जिस मार्ग पर हम दूर तक जावें उससे प्राप्त हमारी थकान को दूर कर। हमारा अपनी वस्तुओं का भाव नियत करना और उसको दूसरे के हाथ बेंचना तथा दूसरे की वस्तुओं का भाव नियत करना हमारे लिए लाभकर हो तथा मुझको बहुत लाभ प्राप्त कराने में समर्थ हो। इस लेनदेन के व्यवहार को भली प्रकार प्राप्त होओ। हमारा किया हुआ व्यापार और लाभ हमें सुखकारी हो (४)।

हे देवताओ, धन से धनलाभ की इच्छा करता हुआ मैं जिस धन से व्यापार या लेनदेन करता हूं वह मेरा बहुत अधिक हो जावे, कम न हो। लाभ में रुकावट डालनेवाले देवों को हवि द्वारा बाधा डालने से रोक दो। (५)

हे जातवेदस, जैसे बँधे हुए घोड़े को बराबर दाना दिया जाता है वैसे ही हम तुझे सदा दान करते रहें। हे अग्नि, धन और अन्न से खूब हृष्टपुष्ट होते हुए तेरे समीपतम रहकर कभी कष्ट न उठावें। (८)

ऋग्वेद में एक सूक्त में कुछ व्यवसायों के नाम आए हैं :—

हमारे कर्म अनेक प्रकार के हैं। दूसरों के कर्म भी अनेक प्रकार के हैं। शिल्पी लकड़ी का

काम चाहता है, वैद्य रोग चाहता है और ब्रह्मा सोम यज्ञ करनेवाला (यजमान) चाहता है (मैं सोम का प्रवाह चाहता हूं अतः) हे सोम, इंद्र के लिए क्षरित होओ।

पुरानी लकड़ी, पक्षियों के पंख और सान चढ़ाने के लिए उज्वल शिलाओं से वाण बनाए जाते हैं। वाण वेचने के लिए शिल्पी स्वर्ण बेचनेवाले धनी पुरुष को खोजते हैं। हे सोम, इंद्र के लिए क्षरित होओ।

मैं स्तोता हूं, पुत्र वैद्य है, और कन्या जौ कूटने वाली है—हम सब भिन्न-भिन्न कर्म करते हैं। जैसे गायें गोष्ठ में विचरण करती हैं वैसे ही हम भी धनकामी होकर तुम्हारी सेवा करते रहें हे सोम, इंद्र के लिए क्षरित होओ।

घोड़ा बिना श्रम के चलने वाला सुंदर रथ चाहता है, दरबारी-हास परिहास की इच्छा करते हैं. . . मेंढक जल की कामना करते हैं। हे सोम, इंद्र के लिए क्षरित होओ।

(ऋ० ९, ११२)

अश्वमेध के सिलसिले में यजुर्वेद के चौबीसवें अध्याय में भिन्न-भिन्न प्रकार के घोड़ों और गायों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों की एक लंबी सूची मिलती है जिसमें निम्नलिखित परिचित नामों का उल्लेख है:—

कपिंजल, तीतर, बटेर, मेंढक, मत्स्य, नाका, हंस, बलाक (बगुला), क्रूंच, चक्रवाक, उलूक, मयूर, कपोल, लावा, पारावत (कबूतर) आखु (चूहा), नेवला, गवय (नीलगाय), ऊँट, हाथी, मशक (मच्छर), गोमृग, आरण्य मेष (जंगली मेढा), मर्कट (बंदर), शार्दूल, अज, गौरमृग, वृक, गोधा (गोह), अजगर, श्वा (कुत्ता), गर्दभ, शूकर, सिंह, पिक (कोयल) इत्यादि।

इसी प्रकार पुरुषमेध यज्ञ के संबंध में अनेक पेशे व कार्य करनेवाले मनुष्यों का उल्लेख यजुर्वेद, अध्याय ३०, में मिलता है जिसमें ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य तथा शूद्र के अतिरिक्त निम्नलिखित कुछ परिचित पेशेवालों के नाम हमें प्राप्त होते हैं:—

मागध (स्तुतिपाठक), सूत (नाचनेवाला), शैलूष (गानेवाला), कारी (नक़ल करने वाला), रथकार, तक्षण (बढ़ई), कुलाल (कुम्हार), मणिकार, कार्मार (लुहार), वप (नाई), इषुकार, धनुष्कार, ज्याकार, रज्जसर्ज (रस्सी बटने वाला), मृगयु (व्याध), श्वनी (कुत्ते पालने वाला), निषाद, कितव (ज्वारी), तस्कर (चोर), क्लीव (नपुंसक), पुंश्चली (वेश्या), जार, उपपति, कुब्ज, बौना, अंधा, बहिरा, भिषज (वैद्य), नक्षत्रदर्श (ज्योतिषी), प्रश्नविवाद (वकील) हाथीवान, अश्वप गोपाल, अविपाल (भेड़ पालनेवाला) अजपाल (बकरा पालनेवाला) कीनाश (किसान), सुराकार, अनुक्षत्त (कोचवान), दार्वाहर (लकड़हारा), वास पल्यूली (धोबी, रजयित्री (रंगरेज), पिशुन (कंजूस), आञ्जनीकारी (सुर्मा बनाने वाली) धैवर (धीमर), कैवर्त (केवट), किरात (बन में मार्ग बतानेवाला), किंपुरुष (पहाड़ी), हिरण्यकार (सुनार), वणिज (बनिया), जनवादी (ढिंढोरा पीटनेवाला), गोघाती, भष (घोषणा करनेवाला), मूक (गूंगा), वीणावादी, तूणवध्म (ढोल बजानेवाला), शंखध्म (शंख बजानेवाला), पाणिघ्न (मृदंग बजानेवाला), दावप (जंगली आग बुझानेवाला), वनप (जंगल का

प्रबंध करनेवाला) ग्रामण्य (ग्रामनायक), गणक (पटवारी), अधिक्रोषक (गाँव में बुलानेवाला), चांडाल, वंशनर्ति (बांस पर नाचनेवाला नट), इत्यादि। इनके अतिरिक्त बहुत से ऐसे पेशेवालों के नाम भी हैं जिनसे हमलोग परिचित नहीं हैं।

दक्षिणा और दान की महिमा

दक्षिणा और दान की विशेष महिमा ऋग्वेद में है। कदाचित् इसका एक कारण यह भी है कि यज्ञकर्ता ऋषियों की आजीविका का प्रधान साधन दान-दक्षिणा ही थी:—

जो लोग दक्षिणा देते हैं वे स्वर्ग में उच्च आसन पाते हैं, अश्वदाता सूर्य के साथ एकत्र होते हैं। सुवर्णदाता अमरता पाते हैं, वस्त्रदाता लोग सोम के पास जाते हैं। सभी दीर्घायु होते हैं।

दाता को सब से पहले बुलाया जाता है, वे ग्रामणी होते हैं और सब के आगे-आगे जाते हैं। जो सबसे पहले दक्षिणा देते हैं उनको मैं जनों का नृपति मानता हूं।

जो सर्वप्रथम दक्षिणा देकर पुरोहित को तुष्ट करते हैं वे ही ऋषि और ब्रह्म कहे जाते हैं, वे ही यज्ञ के अध्यक्ष सामगाता और स्तोता कहे जाते हैं, वे अग्नि की तीनों मूर्तियों को जानते हैं।

दक्षिणा में अश्व, गौ और मन को प्रसन्न करनेवाला सुवर्ण मिलता है। दक्षिणा में ही अन्न प्राप्त होता है, जो हमारा आत्मा है। विद्वान् व्यक्ति दक्षिणा का देह-रक्षक कवच के समान व्यवहार करते हैं।

दाताओं की मृत्यु नहीं होती—वे देवता हो जाते हैं। वे दरिद्र नहीं होते, वे क्लेश, व्यथा अथवा दुख भी नहीं पाते। इस समस्त पृथ्वी तथा स्वर्ग में जो कुछ है वह सब उन्हें दक्षिणा देती है। (ऋ० १०, १०७; २, ५-८)

दानमहिमा-संबंधी निम्नलिखित सूक्त अत्यंत सुंदर हैं:—

देवताओं ने भूख से मृत्यु होना नहीं बनाया था (यह अस्वाभाविक है)। (दान न देकर) भोजन करनेवाले भी तो मृत्यु को प्राप्त होते हैं। दान देने से दाता का धन कम नहीं होता। अदाता सुखी नहीं होता।

जिस समय कोई भूखा मनुष्य अन्न की याचना करता है उस समय जो अन्नवाला होकर भी हृदय को निष्ठुर रखता है और सामने ही भोजन करता है वह कभी सुखी नहीं होता।

अन्न की इच्छा से किसी दुर्बल व्यक्ति के भिक्षा माँगने पर जो अन्नदान करता है वही दाता है। उसे संपूर्ण यज्ञफल मिलता है और वह शत्रुओं में भी सखा पा लेता है।

यदि अपना सखा पास आता है किंतु मित्र होकर भी जो व्यक्ति उसे अन्नदान नहीं करता वह मित्र कहलाने योग्य नहीं है। उसके पास से चला जाना ही उचित है। उसका घर घर नहीं है। उस समय किसी धनी दाता के यहां जाना उचित है।

याचक को अवश्य धन देना चाहिए। दाता को अत्यंत लंबा मार्ग (पुण्यपथ) मिलता है। जैसे रथचक्र नीचे ऊपर घूमता है वैसे ही धन भी कभी किसी के पास रहता है और कभी किसी के पास—कभी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता।

जिसका मन उदार नहीं है उसका भोजन करना वृथा है। उसका भोजन उसकी मृत्यु के समान है। जो न देवता को देता है न मित्र को देता है और स्वयं भोजन करता है वह केवल पाप ही खाता है।

कृषि कार्य करके हल अन्न प्रस्तुत करता है—वह अपने मार्ग से जाकर अपने कर्म के द्वारा शस्य उत्पादन करता है (और फिर दूसरे को दे देता है)। जैसे विद्वान् पुरोहित मूर्ख से श्रेष्ठ है, वैसे ही दाता सदा अदाता के ऊपर रहता है।

जिसके पास एक अंश संपत्ति है वह दो अंश संपत्ति के अधिकारी से याचना करता है। जिसके पास दो अंश हैं वह तीन वाले के पास जाता है और जिसे चार अंश प्राप्त हैं वह उससे भी अधिक वाले के पास जाता है। इसी प्रकार श्रेणी बँधी है। अल्पधनी अधिक धनी की उपासना करता है।

हम लोगों के दोनों हाथ (देखने में) समान हैं किंतु धारण करने की शक्ति समान नहीं है। एक माता से उत्पन्न होकर दो गायें समान दुग्ध नहीं देतीं। दो जुड़वां भाई होने पर भी उनका पराक्रम भिन्न प्रकार का होता है। एक वंश की संतान होकर भी दो व्यक्ति समान दाता नहीं होते।

(ऋ० १०, ११७)

कुछ प्रसिद्ध दानदाता राजाओं के दान का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है।

मैंने दिवोदास के पास से दस घोड़े, दस कोश, दस वस्त्र, यथेष्ट भोजन तथा सोने के पिंड पाये थे।

अश्वत्थ ने पायु को घोड़ों के साथ दस रथ और अथर्व गोत्रीय ऋषियों को सौ गायें दी थीं।

विनोद तथा व्यसन

अथर्ववेद में एक स्थान पर (का० ६, ७) उदाहरण-स्वरूप संयोग से उस समय के प्रमुख दुर्गुणों का उल्लेख आया है। मनुष्य की ये निर्बलताएं आज तक उसी रूप में चल रही हैं। बछड़े को मारनेवाली मरखनी गाय के संबंध में प्रार्थना करते हुए कहा गया है:—

जैसे मांस, सुरा, जुआ खेलने के समय पाँसों तथा कामी पुरुष का मन स्त्री में रत हो जाता है, हे अघ्न्या, वैसे ही तेरा मन बछड़े में रत हो।

जुआ खेलने का व्यसन कदाचित् उतना ही पुराना है जितना मनुष्य। अथर्ववेद के एक सूक्त (का० ७, ५०) में जुए में जीतने की इच्छा का अत्यंत स्वाभाविक वर्णन है:--

जैसे बिजली सदा वृक्ष पर गिर कर उसे नष्ट कर देती है उसी तरह मैं जुआरियों को पांसों से मारूं। (१)

मेरे दाहिने हाथ में जीत का धन है, मेरे बाएं हाथ में जय है। मैं गौयें, घोड़े, धन और सोना जीतूं। (८)

हे पाँसे, दुधारी गाय के समान मुझे उत्तम फल वाला खेल दो। जैसे कि धनुष ताँत से बाँधा जाता है उसी प्रकार मैं जीत की धारा से युक्त होऊं। (९)

एक जुआरी का अत्यंत सच्चा और काव्यमय वर्णन ऋग्वेद के निम्नलिखित सूक्त में है। जुआरी अपनी अवस्था का चित्रण स्वयं कर रहा है:—

निर्धनता की दशा में ले जानेवाली, नीचे देश में पैदा हुई, खूब काँपने और कँपानेवाली अर्थात् चंचल, बड़े बहेड़े वृक्ष की गोटें मुझे मतवाला कर देती हैं। मुजवत पर्वत पर उत्पन्न सोम के पान के समान जगानेवाली बहेड़े की गोटें मुझे अत्यंत मत्त करती हैं।

वह न मुझसे क्रुद्ध होती थी, न लज्जित करती थी। मेरे मित्रों के लिए और मेरे लिए मंगल-कारिणी थी। मैंने केवलमात्र जुए के कारण ऐसी अनुकूल स्त्री को भी खो दिया।

सास द्वेष करती है और स्त्री भी विरक्त हो गई है। कष्ट में होने पर भी दया करनेवालों को मैं नहीं पाता। बुड्ढे घोड़े तथा पुराने वस्त्र के समान मैं जुआरी आनंद को नहीं प्राप्त कर पाता हूँ।

दूसरे लोग उसकी स्त्री को हथियाने लगते हैं जिसके धन में बलवान जुए का लालच हो जाता है। पिता, माता, भाई कहते हैं 'हम इसे नहीं जानते, इसे बाँध कर ले जाओ।'

मैं निश्चय करता हूं कि मैं इनसे दूषित नहीं होऊँगा, क्योंकि दूर जानेवाले मित्रों से मैं परित्यक्त किया जाता हूं। किंतु जब फेंकी जाती हुई कत्थई रंग की गोटें शब्द करती हैं तब इन गोटों के स्थान को व्यभिचारिणी स्त्री के समान चला ही जाता हूँ।

शरीर से देदीप्यमान जुआरी सभा में आता है, यह कहता हुआ कि मैं जीतूँगा। प्रतिपक्षी के पक्ष में पाँसों के पड़नेवाले इस जुआरी की इच्छा को पाँसे बढ़ाते हैं।

ये पाँसे अंकुश लगानेवाले, प्रेरित करनेवाले, काटनेवाले, जलानेवाले, तथा कष्ट देने वाले हैं। जीतनेवाले जुआरी की धन प्राप्ति से बढ़तों के द्वारा पाँसे पहले मधु से युक्त और फिर मारनेवाले होते हैं।

सत्यधर्मा सविता देवता के समान इन पाँसों का ५३ का समूह खेलता है। उग्र पुरुष के क्रोध के लिए भी ये पाँसे झुकते नहीं हैं, (अर्थात् गुस्सा करने से आदमी कुछ कर नहीं सकता)। राजा तक इनको नमस्कार करता है। (राजा तक को इनसे हार माननी पड़ती है)।

ये पाँसे नीचे रहते हैं फिर ऊपर उठते हैं। हाथवाले न होने पर भी हाथवालों को दबा देते हैं। ये दिव्य अंगारे नीचे फेंके गए ठंडे होने पर भी हृदय को जलाते हैं।

इधर-उधर भटकनेवाले जुआरी की नीच दशा में गई स्त्री तथा ऐसे पुत्र की माता भी कष्ट उठाती है। ऋणी होने के कारण डरता हुआ, धन की इच्छा करता हुआ, दूसरों के घरों में रात्रि में जाता है अर्थात् चोरी करने लगता है।

अपनी दुखी स्त्री को तथा अन्य पुरुषों की सुखी स्त्री तथा सुखी घरों को देख कर जुआरी को संताप होता है। प्रातः बभ्रु रंग के घोड़ों को (पाँसों को) जोतता है और यह पापी संध्या को अग्नि के समाप्त होने पर गिर पड़ता है।

हे पाँसो, तुम्हारे बड़े गण का जो नेता, तथा समूह का जो राजा है उसकी ओर में हाथ जोड़ता हूं। अब से जुए में धन नहीं लगाऊँगा यह सच कहता हूं। पाँसों से मत खेलो, खेती करो, तथा उसे बहुत मानते हुए उस धन में रमो। हे जुआरी, उस खेती के धंधे में पशु है, स्त्री है, अर्थात् गृह-सुख है। यह मुझसे ईश्वर सविता ने कहा।

हे पांसों, तुम मित्र हो जाओ, निश्चय ही मुझपर दया करो, घोर अपमान से हमें युक्त मत करो। तुम्हारा क्रोध हमारे शत्रुओं में प्रवेश करे। शत्रु लोग बभ्रु वर्ण के बंधन में फँसें।

मृत्यु, अंत्येष्टि तथा पितर

मृत्यु तथा मृतकर्म-संबंधी कुछ प्रभावोत्पादक वर्णन संहिताओं में हैं:—

एक सौ प्राण रहने पर भी देवों के व्रत के विरुद्ध कोई जीवित नहीं रह सकता इसी कारण सहचरों से हमारा वियोग होता है।

(ऋ० १०, ३३; ९)

सब में मुख्य राजा यम हमारे शुभाशुभ को जानते हैं। यम के मार्ग का कोई विनाश नहीं कर सकता। जिस पथ से हमारे पूर्वज गए हैं उसी मार्ग से अपने-अपने कर्मानुसार सारे जीव जायेंगे।

(ऋ० १०, १४; २)

हे मृत्यो, तुम उस मार्ग से जाओ जो देवयान मार्ग से दूसरा है। तुम नेत्रवाले हो और सब कुछ जानते हो। मैं तुमसे कहता हूं कि हमारी संतान को न मारना, वीरों को भी न मारना।

जैसे दिन पर दिन बीतते हैं, ऋतु के पश्चात् ऋतु बीतती है और जैसे बड़े-बूढ़ों के सामने उनकी संतान नहीं मरती वैसे ही, हे धाता, हमारे वंशजों की आयु स्थिर रक्खो, अर्थात् अकाल मृत्यु न हो।

मृत व्यक्ति के पुत्रादि बड़े हों और दीर्घजीवी हों। बड़े के बाद छोटे के क्रम से तुम लोग कार्य में अवस्थित रहो। शोभनजन्मा त्वष्टा तुम लोगों के साथ इस कार्य में प्रवृत्त हुए तुम लोगों की आयु लंबी करें।

हे मृत व्यक्ति की पत्नी, पुत्रादि के घर का विचार करके यहां से उठो। इसके पास तुम व्यर्थ पड़ी हो। चलो, क्योंकि पाणिग्रहण करनेवाले पति के साथ तुम स्त्री कर्तव्य कर चुकी हो।

अपनी प्रजा के रक्षण, तेज और बल के लिए मैं मृत व्यक्ति के हाथ में धनु लेकर कहता हूं। हे मृत, तुम यहीं रहो, हम पुत्रों वाले हों, हम सारे अभिमानी शत्रुओं को जीतें।

हे पृथ्वी, तुम इस मृत को उन्नत करके रक्खो, उसे पीड़ा न देना। इसके लिए सुपरिचारिका और सुप्रतिष्ठा होओ। जैसे माता पुत्र को आँचल से ढकती है वैसे ही हे भूमि, इस मृत को आच्छादित करो।

(ऋ० मं० १०, १८; १, ५, ६, ८, ९, ११)

अंतिम मंत्र के कारण ही कुछ विद्वानों का यह मत है कि उस समय शव को भूमि में गाड़ने का रिवाज भी आर्यों में था।

मृत पितरों की भावना भी ऋग्वेद में स्पष्टतया मिलती है और उनके संबंध में श्राद्ध का रिवाज भी वैदिक-कालीन मालूम होता है:—

जो पितर आगे और पीछे मरे हैं। जो पृथ्वी पर आए हैं अथवा जो भाग्यशाली लोगों के बीच हैं, उन सब को आज यह नमस्कार है।

कुशों पर बैठने वाले पितरो, इस समय हमें आश्रय दो। तुम लोगों के लिए ये सारे द्रव्य प्रस्तुत हैं, उनका भोग करो। इस समय आओ, हमारी रक्षा करो और हमारा उत्तम मंगल करो। हमें कल्याणभागी करो, हमें कल्याण और पाप से दूर करो।

कुशों के ऊपर ये सारे मनोहर द्रव्य रक्खे हुए हैं। इनका और सोमरस का भोग करने के लिए पितर लोग बुलाए गए हैं। वे पधारें, हमारी स्तुति ग्रहण करें आह्लाद प्रकट करें और हमारी रक्षा करें।

हे अग्नि, जो पितर हवन करना जानते थे और अनेक ऋचाओं की रचना करके स्तोत्र प्रस्तुत करते थे अपने प्रभाव से इस समय देवत्व को प्राप्त कर चुके हैं। यदि वे क्षुधा-तृष्णावाले हों तो उन्हें लेकर हमारे पास आओ। वे विशेष परिचित हैं, वे यज्ञ में बैठते हैं, उन पितरों के लिए यह उत्कृष्ट हवि है।

हे ज्ञानी अग्नि, यहां जो पितर आए हैं और जो नहीं आए हैं, जिन पितरों को हम जानते हैं और जिन्हें हम नहीं जानते, उन सबको तुम जानते हो। हे पितरो, स्वधा के साथ इस सुसंपन्न यज्ञ का भोग करो।

हे स्वयंप्रकाश अग्नि, जो पितर अग्नि से जलाए गए हैं और जो नहीं जलाए गए हैं, वे सब स्वर्ग में हविरूपी अन्न के साथ आनंद करते हैं। उनके साथ एकत्र होकर तुम हमारे पितरों के प्राणाधार शरीर को यथाभिलाष देव-शरीर बनाओ।

(ऋ० म० १०, १५; २, ४, ५, ९, १३, १४)

अंत्येष्टि कर्म का स्पष्ट वर्णन निम्नलिखित सूक्त में है:—

हे अग्नि, मृत व्यक्ति को पूर्णरूप से भस्म न करना, इसे क्लेश न देना, इसके शरीर को छिन्न-भिन्न न करना। हे ज्ञानी अग्नि, जिस समय तुम्हारी ज्वाला से इसका शरीर भलीभाँति जलता है, उसी समय पितरों के पास इसे भेज देना।

हे अग्नि, जिस समय इसके शरीर को भलीभांति जलाना उसी समय पितरों के पास इसे भेजना। यह जब दुबारा सजीवता प्राप्त करेगा तब देवों के वश में रहेगा।

हे मृत व्यक्ति, तुम्हारा तेज सूर्य के पास जाय और श्वास वायु में। तुम अपने पुण्य फल से आकाश और पृथ्वी पर जाओ। यदि जल में जाना चाहते हो तो जल में जाओ। तुम्हारे शरीर के अवयव वनस्पतियों में रहें अर्थात् तुम्हारा शरीर पंचतत्वों में मिल जावे।

हे अग्नि, तुमने जिसे जलाया है उसे बुझाओ। यहां कुछ जल हो और शाखा-प्रशाखाओं वाली दूब उत्पन्न हो।

(ऋ० १०, १६; १, ३, १३)

यों तो शांति की प्रार्थना अनेक अवसरों पर की जाती थी, किंतु स्वजनों की मृत्यु के बाद मन को शांति की आवश्यकता सब से अधिक होती है, ऐसे अवसरों के लिए शांतिपाठ का विशेष विधान कदाचित् था जिसका सब से प्रसिद्ध मंत्र निम्नलिखित है:—

द्युलोक शांति दे, अंतरिक्ष शांति दे, पृथिवी शांति दे, जल शांति दे, अन्न शांति दे, वनस्पति शांति दे, ब्रह्म शांति दे, सब पदार्थ शांतिप्रिय हों, शांति स्वयं शांति दे। वह शांति मुझे प्राप्त हो।

(यजु० ३६, १७)

राजा तथा युद्ध वर्णन

आर्यजीवन में राज्यतंत्र भी बहुत महत्व रखता था। फलस्वरूप राजा, राष्ट्र तथा युद्ध आदि के अनेक वर्णन संहिताओं में मिलते हैं:—

राजन्, तुम्हें मैंने राष्ट्रपति बनाया है। तुम इस देश के प्रभु बनो। अटल अविचल और स्थिर होकर रहो। प्रजा तुम्हारी अभिलाषा करे। तुम्हारा राष्ट्र नष्ट न हो।

तुम यहां ही पर्वत के समान अविचल होकर रहो। राज्यच्युत न होना। इंद्र के समान निश्चल होकर यहां रहो। यहां राष्ट्र को धारण करो।

अक्षय्य होम्य द्रव्य पाकर इंद्र ने इस नवाभिषिक्त राजा को आश्रय दिया है। सोम तथा ब्रह्मणस्पति ने आशीर्वाद दिया है।

जैसे द्यौ, पृथिवी, ये पर्वत और यह विश्व ध्रुव हैं वैसे ही यह राजा भी प्रजावर्ग के बीच ध्रुवरूप से प्रतिष्ठित हो।

राजा वरुण तुम्हारे राष्ट्र को ध्रुव करें, बृहस्पति देव ध्रुव करें और इंद्र और अग्नि भी इसे अविचल करें।

ध्रुवहवि के साथ हम ध्रुव सोम मिलाते हैं। इस लिए इंद्र ने तुम्हारी प्रजा को एकायत और कर देनेवाला बनाया है।

(ऋ० १०; १७३)

राज्याभिषेक-संबंधी कई सूक्त अथर्ववेद में भी हैं। इनमें से एक का कुछ अंश उदाहरणार्थ नीचे दिया जाता है:—

हे राजन् तुझको यह राष्ट्र (राज्य) प्राप्त हुआ है। तू अपने तेज के साथ बढ़। तू नेता होने के कारण प्रजाओं का पालक है। तू एकमात्र अधिकारी होकर विराजमान हो। हे राजन तुझे समस्त दिशाओं के वासी आदरपूर्वक बुलावें। इस राष्ट्र में तू सबका शरण देनेवाला और आदरयोग्य हो।

हे राजन्, देश की प्रजाएं तुझे अपने ऊपर शासन करने के लिए चुनें। ये दिव्य पाँच दिशाएं भी वरण करें। तू समस्त राष्ट्र में सर्वश्रेष्ठ स्थान पर वर्तमान रहे। हे उग्र, उस स्थान से हम प्रजाओं के लिए न्यायपूर्वक धन का विभाग करें।

(ऋ० ३, ४; १-२)

युद्ध तथा युद्ध-सामग्री का विस्तृत वर्णन निम्नलिखित सूक्त में है:—

युद्ध छिड़ जाने पर यह राजा जिस समय लोहमय कवच पहन कर जाता है उस समय मालूम पड़ता है कि यह साक्षात् मेघ है। राजन्, अविद्ध शरीर रहकर जय प्राप्त करो। वर्म की वह महिमा तुम्हारी रक्षा करे।

हम धनुष के द्वारा गायों को जीतेंगे, युद्ध जीतेंगे और मदोन्मत्त शत्रु सेना का वध करेंगे। शत्रु की अभिलाषा को धनुष नष्ट करे। हम इस धनुष से समस्त दिशाओं को जीतेंगे।

धनुष की यह ज्या युद्धवेला में युद्ध से पार ले जाने की इच्छा करके मानो प्रिय वचन बोलने के लिए ही धनुर्धारी के कान के पास आती है। जैसे स्त्री प्रिय पति का आलिंगन करके बात करती है वैसे ही यह ज्या भी वाण का आलिंगन करके के ही शब्द करती है।

वे दोनों धनुष-कोटियां अन्यमनस्का स्त्री की तरह आचरण करके शत्रु के ऊपर आक्रमण करते समय माता की तरह पुत्र तुल्य राजा की रक्षा करें और अपने कार्य को भलीभाँति जानकर जाते हुए इस राजा के द्वेषियों का वध कर शत्रुओं को छेद डालें।

यह तूणीर अनेक वाणों का पिता है। कितने ही वाण इसके पुत्र हैं। वाण निकालने के समय यह तूणीर शब्द करता है। यह योद्धा के पृष्ठदेश में निबद्ध रह कर युद्धकाल में वाणों का प्रसव करता हुआ सारी सेना को जीत डालता है।

सुंदर सारथी रथ में बैठ कर आगे के घोड़ों को जहां इच्छा होती है वहां ले जाता है। रस्सियां अश्वों के कंठ तक फैल कर और अश्वों के पीछे फैल कर सारथी के मन के अनुकूल नियुक्त होती हैं। रस्सियों की महिमा बखानो।

अश्व टापों से धूल उड़ाते हुए और रथ के साथ सवेग जाते हुए हिनहिनाते हैं तथा पलायन न करके हिंसक शत्रुओं को टापों से कुचलते हैं।

जैसे हव्य अग्नि को बढ़ाता है वैसे ही इस राजा के रथ के द्वारा ढोया जानेवाला धन इन्हें बढ़ावे। रथ पर राजा के अस्त्र कवच आदि रहते हैं। हम सदा प्रसन्न चित्त से उस सुखावह रथ के पास जाते हैं।

जो विषाण है, जिसका अग्रभाग हिंसक है और जिसका मुख लोहमय है, उसी पर्जन्य से उत्पन्न विशाल वाणदेवता को नमस्कार।

मंत्र द्वारा तेज किए गए और हिंसानिपुण वाण, तुम छोड़े जाकर गिरो, जाओ और शत्रुओं को मिलो। किसी भी शत्रु को जीता न छोड़ना।

राजन्, तुम्हारे शरीर के मर्मस्थलों को कवच से आच्छादित कर रहा हूं। सोम राजा तुम्हें अमृत द्वारा आच्छादित करें। वरुण तुम्हें श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ सुख दें। तुम्हारे विजयी होने पर देवगण हर्ष मनावें।

(ऋ० म० ६, ७५; १-८, १५, १६, १८)

युद्ध तथा युद्ध के उपरांत युद्धक्षेत्र का जीता-जागता चित्रण अथर्ववेद के कुछ सूक्तों से मिलता है। एक सूक्त के कुछ अंश नीचे दिए जाते हैं:—

हे अर्बुदे (सेनाध्यक्ष अथवा युद्धदेवता-विशेष), जो बाहुबल, जो वाण, शक्तिशाली धनुष, तलवारें, फरसे, अस्त्र तथा हृदय में चित्त के संकल्प हैं उन सब को तू शत्रुओं को दिखलाने के लिए तैयार कर और उन्हें दिखला।

मित्रो और देवजनो, तुम सब उठ खड़े होओ, संगठित हो जाओ। हे अर्बुदे, जो हमारे मित्र-पक्ष के लोग हैं वे खूब सुरक्षित होकर रहें।

हे अर्बुदे, उठ खड़े होओ, धर पकड़ द्वारा अपना कार्य आरंभ कर दो और शत्रु सेनाओं को घेर लो।

हे अर्बुदे, तेरे प्रहार करने पर मृत शत्रुओं की स्त्रियां अपनी छाती पीटती हुई, आँसू गिराती हुई, खुले कान वाली, बाल खोले हुए रोएं।

हे अर्बुदे, सर्प के समान तेरे डस लेने पर शत्रुस्त्रियां हाथ पैर पटकती हुई, अपने पुत्रों, पति, भाई तथा अन्य बंधुओं की याद करती हुई विलाप करें।

हे अर्बुदे, महानाग के समान तेरे डस लेने पर भयानक पक्षी, शिकारी, जानवर, गिद्ध, चील, पंखोंवाले पक्षी, कौए, शक्तिशाली पक्षी शत्रुओं के मृत शरीरों पर तृप्त हो और तू अपना बल दिखलाता रहे।

हे अर्बुदे, तेरे डस लेने पर सब प्रकार के जंगली जानवर, कुत्ते, मक्खी और कीड़े मृत शरीरों पर तृप्त हों।

हे अर्बुदे, तू शत्रुओं की उन सेनाओं को कंपा दे, इस प्रकार हमारा विजयी राजा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे। इंद्र के मित्रों की जय हो। हे अर्बुदे, शत्रु-सेना चारों ओर से घिर जाए, कुचल जाए और मारी जा कर धराशायी हो जाए। सेना के साथ आग की लपटें और धूमशिखाएं विजय करती हुई आगे बढ़ें।

हे अर्बुदे, बल के स्वामी इंद्र हमारी सेना द्वारा पराजित शत्रुओं के श्रेष्ठ पुरुषों को मार डालें। शत्रुओं में कोई भी न बच पावें।

शत्रुओं के हृदय उखड़ जावें, प्राण शरीर को छोड़ कर निकल जावें, मुँह सूख जावें, किंतु यह कष्ट मित्रों को कभी न हो।

हे मित्रो और देवजनों, तुम सब उन समस्त शत्रुओं पर अपना प्रभुत्व जमाते हुए उठ खड़े होओ, कमर कस कर युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। इस संग्राम को भली प्रकार जीत कर अपने अपने स्थानों को जाओ। (अ० ११, ९; १-३, ७-१०, १८-२१, २६)

सभा समिति आदि का एकमत्य

राजा के लिए सभा तथा समिति का एकमत्य बहुत आवश्यक है। इसी प्रकार यज्ञ अथवा सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन को अच्छी तरह चलाने के लिए आपस में विचारों की एकता महत्व रखती है। फलस्वरूप एकमत्य पर वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर बल दिया गया है—

जैसे प्राचीन देवता एक मत होकर हविर्भाग स्वीकार करते हैं वैसे ही तुम सम्मिलित होओ, तुम्हारी वाणी समान हो और तुम्हारा मन समान हो।

इनका मंत्र समान हो, समिति समान हो, इनका मन और चित्त एकरूप हो। तुम्हे मैं एक ही मंत्र से मंत्रित करता हूं। समान हवि से होम करता हूं।

तुम्हारा अध्यवसाय समान हो, तुम्हारा हृदय समान हो, तुम्हारे मन समान हों, तुम्हारा पूर्णरूप से संगठन हो।

(ऋ० १०, १९१; २-४)

उपर्युक्त सूत्र उसी रूप में अथर्ववेद संहिता (क० ६, १४) में भी मिलता है।

सभा और समिति, जो प्रजापति (राजा) की दो कन्याओं के समान हैं, एक मत होकर मर अनुकूल हों। मैं उनमें से जिससे भी परामर्श लूं वह तुझे उचित सहायता दे। हे पितरों, मैं इन संगतियों में मृदुभाषी होऊं।

हे सभा, हम तेरा नाम जानते हैं। यह कभी भी न दबने वाली है, अर्थात् उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। अतः इसके जो भी सभासद हों वे मेरे साथ समान वाणी वाले होकर रहें।

सभा में एकत्र होनेवाले उन पुरुषों का विशेष ज्ञान और बल मैं प्राप्त करता हूं। हे इंद्र, इस समस्त संसद के ऐश्वर्य का स्वामी मुझे बना।

हे सभासदो, आपलोगों का जो मन कहीं अन्यत्र गया है, या जो मन इधर-उधर हो गया है आपके इस मन को पुनः इधर लौटाता हूं। आपका वह मन मेरे ऊपर आस्था करे।

(अ० ७, १३)

सफल राजा का राष्ट्र कितना सुखी होता है उसके उदाहरण स्वरूप अथर्ववेद के २० वें कांड में कई सूक्तों में कौरव्य परीक्षित के राष्ट्र का सुंदर वर्णन है। उनमें से एक सूक्त नीचे दिया जाता है :—

समस्त प्रजा के हितकारी, सूर्य के समान तेजस्वी राजा परीक्षित की उत्तम स्तुति सुनो यह देवता और मर्त्यों से बढ़ गया है।

पति जैसे अपनी स्त्री के साथ गृहस्थी बनाता है उसी प्रकार कौरव्य परीक्षित ने सिंहासन पर बैठकर तप का आचारण करते हुए हमारा कल्याण किया।

राजा परीक्षित के राष्ट्र में स्त्री पति से पूछती है कि आपके लिए, दही मट्ठा या मक्खन क्या लाऊं, अर्थात् प्रजा पूर्णरूप से सुखी है।

सूर्य की धूप में पका जौ खेत की नालियों में जैसे खड़ा होता है, वैसे ही राजा परीक्षित के राष्ट्र में प्रजा सुखपूर्वक फल-फूल रही है।

(अ० २०, १२७, ३)

वैदिक काव्य

वैदिक संहिताओं का मुख्य विषय धार्मिक है। किंतु जिस तरह सांस्कृतिक सामग्री उनमें बिखरी हुई है उसी तरह उत्कृष्ट काव्य के गुणों से भी अनेक अंश पूर्ण हैं। नीचे कुछ काव्यमय अंशों के उदाहरण दिए जा रहे हैं जिनमें सुंदर उपमा आदि अलंकारों के प्रयोग मिलते हैं:—

तृषातुर की तरह जो अग्नि वनों को दग्ध करती है, जल की तरह इधर-उधर जाती है, रथवाहक अश्व की तरह शब्द करती है, वह कृष्णमार्ग और तापक होने पर भी नभोमंडल वाले द्युलोक की तरह शोभन है।

(ऋ० २, ४, ६)

हे इंद्र, जैसे आमरण माता-पिता के साथ रहने वाली पुत्री अपने पितृकुल से ही अंश के लिए प्रार्थना करती है वैसे ही मैं तुम्हारे पास धन की याचना करता हूं।

(ऋ० २, १७; ७)

हे व्रतकारी, शीघ्रगमनशील, और सब के प्रार्थनीय आदित्यगण, गुप्तप्रसविनी स्त्री के गर्भ की तरह मेरा अपराध दूरदेश में फेंक दो।

(ऋ० २, २९; १)

नदी का जल जैसे निम्नदेश की तरफ़ गमन करता है वैस ही वायु की तरह वेगशालिनी हो कर महती घृतधारा द्रुतवेग से गमन करती है।

कल्याणी और हास्यवदना स्त्री जैसे एकचित्त होकर पति के प्रति आसक्त होती है उसी प्रकार घृतधारा अग्नि के प्रति गमन करती है।

कन्या जैसे पति के निकट जाने के लिए वेश-विन्यास करती है, हम देखते हैं कि यह घृत-धारा भी उसी तरह करती है।

(ऋ० ४, ५८; ७, ८, ९)

हे आदित्यगण, तुम लोग दुःखनिवारण को जानते हो। जैसे चिड़ियां अपने बच्चों पर पंख फैलाती हैं वैसे ही तुम हमें सुख प्रदान करो।

(ऋ० ८४-७; २)

मित्रता के लिए हम कामनापूरक, भार्याप्रद और सर्वदा रक्षक इंद्र की ओर वैसे ही झुकेंगे जैसे कुएं में जलपात्र को झुकाते हैं।

(ऋ० ४, १७; १६)

दुःसहनीय इंद्र आज हमारे पास आओ। बुलाए जाने पर क्रोधी जामाता के समान संध्या-काल न करना।

(ऋ० ८, २; २०)

जैसे जामाता को कन्या देने के समय लोग उसे वस्त्राभूषण से अलंकृत करके देते हैं वैसे ही हमने इस स्तोत्र को अलंकृत किया है।

(ऋ० १०, ३९; १४)

जैसे कृषक शस्यक्षेत्र से पक्षियों को उड़ाते समय शब्द करते हैं, जैसे मेघों का गर्जन होता है, जैसे पर्वत से टकराने पर तरंगें शब्द करती हैं, वैसे ही बृहस्पति की प्रशंसा-ध्वनि होने लगी।

जैसे धान की कोठी से जौ बाहर किया जाता है, वैसे ही बृहस्पति ने गायों को पर्वत से शीघ्र बाहर किया।

जैसे पक्षी अंडा फोड़ कर बच्चे को निकालता है वैसे ही वह भी पर्वत से गायों को निकाल ले आए।

(ऋ० १०, ६८; १-३, ७)

हे पति, इस शक्तिसंपन्न (सपत्नीपीडन) औषधि को मैंने तुम्हारे सिरहाने रख दिया। जैसे गाय बछड़े के लिए दौड़ती है और जैसे जल नीचे की ओर दौड़ता है वैसे ही तुम्हारा मन मेरी ओर दौड़े।

(ऋ० १०, १४५; ६)

जैसे सूप से सत्तू को परिष्कृत किया जाता है वैसे ही बुद्धिमान लोग बुद्धिबल से परिष्कृत भाषा को प्रस्तुत करते हैं।

कोई-कोई देख कर भी भाषा को नहीं देखते, कोई-कोई उसे सुनकर भी नहीं सुनते, किंतु किसी-किसी के पास वाग्देवी स्वयं वैसे ही प्रकट होती हैं जैसे स्त्री सुंदर वस्त्र धारण करके अपने स्वामी के पास अपने को प्रकट करती है।

(ऋ० १०; ७१, २, ४

पृथ्वी से सिंधु नदी का शब्द उठकर आकाश को घहरा देता है। यह महावेग तथा तमकती हुई लहरों के साथ बहती है। जिस समय सिंधु वृषभ के समान प्रबल शब्द करती हुई आती है उस समय विदित होता है कि आकाश के घोर गर्जन-तर्जन के साथ वृष्टि हो रही है।

जैसे शिशु के पास माता जाती है और दुग्धवती गाएं बछड़े के पास आती हैं वैसे ही शब्द करती हुई अन्य नदियां सिंधु के पास आती हैं। जैसे युद्धकर्ता राजा सेना ले जाता है वैसे ही तुम अपनी सहगामिनी दो नदियों को लेकर आगे आगे जाती हो।

(ऋ० १०, १५; ३४)

एक युवती (यज्ञदेवी) है उसके चार कोने हैं, उसकी मूर्त्ति सुंदर और स्निग्ध है, वह उत्तमोत्तम वस्त्र (यज्ञसामग्री) धारण करती है। दो पक्षी (यजमान) और पुरोहित उसके निकट बैठते हैं। वहां देवता लोग अपना अपना भाग पाते हैं।

(ऋ० १०, ११४; ३)

स्वेद के समान इंद्र के आयुध चारों ओर गिरें। दूब के समान आयुध सर्वव्यापी हों।
(ऋ० १०, १३४; ५)

हे अग्नि, जिस समय तुम ऊपर-नीचे वृक्ष आदि को जलाते हो उस समय लूटनेवाली सेना के समान अलग-अलग जाते हो। जिस समय तुम्हारे पीछे वायु बहता है उस समय तुम वैसे ही असीम प्रदेश का मुंडन कर देते हो जैसे नाई लोगों की दाढ़ी-मूँछ मूड़ता है।
(ऋ० १०, १४२; ४)

जो शाप न देने पर हमें शाप दे और जो शाप देने पर हमें शाप दे वह बिजली से मारे हुए वृक्ष के समान आमूल सूख जावे।
(अ० ७, ५९)

जैसे अच्छा सारथी रासों से घोड़ों को हाँकता है उसी तरह जो मनुष्यों को चलाता है वह हृदय में प्रतिष्ठित, बूढ़ा न होने वाला, वेगवान मेरा मन शुभसंकल्प वाला हो।
(य० ३४, ६)

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद से कुछ अन्य चुने हुए सूक्तों के अनुवाद नीचे दिये जाते हैं उनमें कुछ काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से आकर्षक हैं तथा कुछ दार्शनिक महत्व रखते हैं।

पृथिवीसूक्त

हम मनुष्यों के निवासस्थान पृथिवी का अत्यंत सुंदर तथा विषद वर्णन अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त (का० १२, १) के ६३ सूक्तों में है। इसके कुछ अंश नीचे दिये जाते हैं:—

महान सत्य, उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म, और यज्ञ इस पृथिवी को धारण किये हुये हैं। वह हमारे भूत और भविष्य के कार्यों की स्वामिनी है। वह पृथिवी हमारे लिए विशाल स्थान प्रदान करे। (१)

हम मनुष्यों की वस्तियों के बीच में बिना बसी हुई जिस भूमि के नीचे, ऊँचे और अनेक समथल भाग हैं, जो पृथिवी अनेक प्रकार के गुणों वाली औषधियों को धारण करती है, वह हमें विशाल रूप में प्राप्त हो तथा हमें प्रचुर अन्न आदि प्राप्त करावे। (२)

जिस भूमि पर समुद्र, नदियां और जलाशय हैं, जिसपर अन्न और खेती होती है, जिसपर प्राणी प्राण धारण करते हुए विचरते हैं वह भूमि हमें पान करने योग्य पदार्थ प्रदान करे।

जो पृथिवी आरंभ में समुद्र के अंदर जलनिमग्न थी, जिसको बुद्धिमान लोग अपनी बुद्धि से भोग रहे हैं, जिसका हृदय अमृतस्वरूप (सूर्य) परमप्रकाश में सत्य से ढका है, वह भूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में तेज और बल धारण कराये। (८)

हे पृथिवी, तेरे गिरि, हिमवान पर्वत, तेरे अरण्य सुखकारी हों। मैं इस भूरी, काली, लाल,

अनेक रूपवाली, इंद्र से सुरक्षित, स्थिर, सर्वोत्पादक पृथिवी पर किसी से पराजित न होकर, किसी से भी न मारा जाकर, किसी से भी घायल न होकर सुख से रहूं। (११)

हे पृथिवी, तुझसे उत्पन्न हुए प्राणी तुझपर ही विचरते हैं, तू ही दो पैर वालों और चार पैर वालों का भरण-पोषण करती है। हे पृथिवी, ये पाँच प्रकार के मानव, जिनके लिए उदय होता हुआ सूर्य अपनी किरणों से अमृतमय प्रकाश फैलाता है, तेरे ही हैं। (१५)

हे पृथिवी, तू एकत्र होने के लिए, एक महान स्थान है, तू बहुत बड़ी है, तेरा वेग महान है, तेरा कंपन महान है, तेरा संचलन महान है। महान इंद्र तेरी बिना प्रमाद के रक्षा करते हैं। हे भूमि, वह तू हमारे लिए सुवर्ण के रूप में भली प्रतीत हो। हमसे कोई भी द्वेष न करे। (१८)

हे भूमि, तेरे द्वारा ही यह ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमंत, शिशिर, वसंत ऋतुएं बनी हैं। इसी प्रकार तेरे द्वारा वर्ष और दिनरात बने हैं। वे सब हमें अभिलषित सुख प्रदान करें। (३६)

अश्व जैसे अपने शरीर को कँपाकर धूल को झाड़ कर फेंकता है, उसी प्रकार जबसे पृथिवी उत्पन्न हुई है तबसे उसपर जो लोग रहते आ रहे हैं, उन सब मनुष्यों को इस पृथिवी ने झाड़ फेंका है। यह पृथिवी सदा सुप्रसन्न, आगे शीघ्रता से चलनेवाली, समस्त पदार्थों की रक्षा करनेवाली, वनस्पतियों और औषधियों को धारण करनेवाली है। (५७)

हे पृथिवी, हमारी संतान तेरी गोद में रहकर सदा रोग-रहित यक्ष्मारहित रहें। अपने को दीर्घजीवी जानकर हम तेरी प्रशंसा करते हैं। (६२)

हे भूमि, हे माता, मुझे कल्याण से सुप्रतिष्ठित कर। हे कवि, द्युलोक से सुसंगत होकर मुझे लक्ष्मी और धन-संपत्ति में स्थापित कर। (६३)

रात्रि

आती हुई रात्रि चारों ओर फैल गई। उसने नक्षत्रों के द्वारा अत्यंत शोभा पाई है।

जो नीचे रहते हैं और जो ऊपर रहते हैं उन सब को वह आच्छादित करनेवाली है। किंतु प्रकाश के द्वारा अंधकार नष्ट किया जाता है।

रात्रि ने आकर (संध्याकालीन) उषा को अपनी भगिनी के समान आलिंगन किया है। उसने अंधकार को दूर किया है।

जैसे चिड़ियां पेड़ पर रहती हैं वैसे ही जिसके आने पर हम सोते हैं, वह रात्रि हमारे लिए शुभकारी हो।

समस्त ग्राम निस्तब्ध हैं, पैदल चलनेवाले, पक्षी और शीघ्रगामी श्येन आदि निस्तब्ध होकर सो गए हैं।

हे रात्रि, वृक और वृकी को हमसे अलग कर दो। चोर को दूर ले जाओ। हमारे लिए तुम विशेष रीति से शुभकारी होओ।

कृष्णवर्ण का अंधकार दिखाई दे रहा है, मेरे पास तक सब ढक गया है। हे उषा, ऋण के समान अंधकार को दूर करो।

हे आकाश की कन्या रात्रि, तुम जाती हो। गाय के समान तुम्हें यह स्तोत्र अर्पित करता हूं, इसे ग्रहण करो।

(ऋ० १०, १८७)

अथर्ववेद में भी रात्रि-संबंधी कई सुंदर सूक्त हैं (१९, ४७-५०)।

अरण्यानी

अरण्यानी, अरण्यानी, तुम देखते देखते अंतर्धान हो जाती हो। तुम क्यों नहीं गाँव में जाने का मार्ग पूछती हो? अकेले रहने में क्या तुम्हें डर नहीं मालूम होता?

(वन में) कोई जंतु बैल के समान बोलता है और कोई चीं-चीं करके मानो उसका उत्तर देता है। मानो ये वीणा के पर्दे-पर्दे में शब्द करके अरण्यानी का यश गाते हैं।

इस विपिन में कहीं गायें चरती हैं और कहीं (लता-गुल्म आदि का) घर दिखाई देता है। संध्या को वन से कितने ही शकट निकल रहे हैं।

एक व्यक्ति गाय को बुला रहा है और दूसरा लकड़ी काट रहा है। अरण्यानी में जो व्यक्ति रात को रहता है वह तरह-तरह के शब्द सुनता है।

अरण्यानी किसी का वध नहीं करती यदि अन्य (व्याघ्र, डाकू आदि) नहीं आवें। वन में स्वादिष्ट फल खाकर भली-भाँति समय बिताया जा सकता है।

कस्तूरी के समान अरण्यानी का सौरभ है। वहां खेती का अभाव है। वह हरिणों की माता के समान है। इस प्रकार मैंने अरण्यानी की स्तुति की।

(ऋ० १०, १४६)

मंडूक

एक वर्ष का व्रत करने वाले स्तोता की तरह वर्ष भर तक सोये हुए रह कर मंडूक पर्जन्य के लिए प्रसन्नताकारक शब्द करते हैं।

सूखे चमड़े की तरह सरोवरों में सोये हुए मंडूकों के पास जिस समय दिव्य जल आता है उस समय बछड़ेवाली धेनु की तरह मंडूकों का कलकल शब्द होता है।

गुरु-शिष्य की तरह जिस समय ये मेढक एक-दूसरे की ध्वनि का अनुकरण करते हैं और जिस समय हे मंडूकगण, तुम लोग सुंदर शरीर वाले होकर जल के ऊपर छलांगें मारते हुए शब्द करते हो उस समय तुम्हारे शरीर के सारे जोड़ ठीक हो जाते हैं।

सोम से युक्त और वार्षिक स्तुति करनेवाले स्तोताओं की तरह ये मेढक शब्द करते हैं। ऋत्विकों की तरह घाम से आर्द्र शरीर वाले बिल में छिपे हुए मेढक इस समय वर्षाकाल में प्रकट होते हैं।

(ऋ० ७, १०३; १, २, ५, ८)

ईश्वर की एकता

एक अग्नि बहुत प्रकार से समिद्ध होती है, एक सूर्य समस्त विश्व में अनेक हो जाते हैं, एक उषा सब को प्रकाशित करती है, यह एक (ब्रह्म) ही सब कुछ हो जाता है।

(ऋ० बाल० १०; २)

विश्वकर्मा की आँखें, मुख, बाहें और चरण सब ओर हैं। अपनी भुजाओं और पदों से प्रेरणा करते हुए वे द्यावा पृथिवी को उत्पन्न करते हैं। वे देव एक हैं।

(ऋ० १०, ८१; ३)

जिन विश्वकर्मा ने सारे प्राणियों को उत्पन्न किया है, उन्हें तुम लोग नहीं जानते हो। तुम्हारा अंतस्तल उन्हें समझने की शक्ति नहीं पाये हुये है। हिमरूपी अज्ञान से आच्छन्न होकर लोग नाना प्रकार की कल्पानाएं करते हैं। वे अपने लिए भोजन करते हैं और स्तुतियां करते हैं (ईश्वरतत्व का विचार नहीं करते)।

(ऋ० १०, ८२; ७)

प्रसिद्ध पुरुषसूक्त

विराट् पुरुष (ईश्वर) सहस्र (अनंत) शिरों, सहस्त्र चक्षुओं और सहस्र चरणोंवाला है। वह भूमि को चारों ओर से व्याप्त करके और दस अंगुल ऊपर ठहरा हुआ है।

जो कुछ हुआ है और जो कुछ होनेवाला है वह सब पुरुष ही है। वह देवत्व का स्वामी है और अन्न के ऊपर है।

यह सारा ब्रह्मांड उसकी महिमा है, वह तो अपनी प्रकट महिमा से भी बड़ा है। इस पुरुष का एक पाद ही ब्रह्मांड है, इसके अविनाशी तीन पाद तो दिव्य लोक में हैं।

(ऋ० १०, ९०; १-३)

इसके उपरांत पुरुष से सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इस संबंध में उस समय के सिद्धांतों का विवेचन है। अंत में यह जतला देने का यत्न किया गया है कि समाज तथा संसार पुरुष की शक्ति का ही एक प्रकट रूप है।

(समाज में) ब्राह्मण पुरुष के मुख थे, बाहु-स्वरूप राजन्य बने, उरु के समान वैश्य थे तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न समझना चाहिए।

पुरुष के मन से चंद्रमा, नेत्र से सूर्य, मुख से इंद्र और अग्नि तथ प्राण से वायु उत्पन्न हुये।

पुरुष की नाभि से अंतरिक्ष, शिर से द्यौ, चरणों से भूमि, श्रोत्र से दिशाएं, इस प्रकार लोकों की रचना हुई। (१२-१४)

इससे स्पष्ट है कि प्राकृतिक देवता ईश्वर की शक्ति के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं तथा उसी से प्रेरित हैं। यह भावना स्पष्ट रूप में विद्यमान थी। इंद्र, अग्नि सूर्य आदि ईश्वर के प्रतीक मात्र समझे जाते थे।

यह प्रसिद्ध पुरुष सूक्त यजुर्वेद के ३१वें अध्याय में भी संग्रहीत है।

तर्क व संदेह

हे पितरो, मैं तुम लोगों से तर्क-वितर्क की बातें नहीं करता, केवल भलीभांति जानने के लिए जिज्ञासा करता हूं। अग्नि के कितने रूप हैं, सूर्य कितने हैं, उषाएं कितनी हैं, और जल के कितने रूप हैं ?

(ऋ० १०, ८८; १८)

प्रसिद्ध नासदीय सूक्त : परमात्मा देवता

इसे ही लोकमान्य तिलक ने मनुष्य जाति का सर्वश्रेष्ठ स्वाधीन चिंतन कहा है :—

उस समय (सृष्टि रचना के पूर्व) असत् नहीं था और न सत् था, रज नहीं था, न व्योम था। आवरण (ब्रह्मांड) भी कहां था ? किसका कहां स्थान था ? कौन दुर्गम जल उस समय था ?

उस समय मृत्यु नहीं थी, अमरता भी नहीं थी। रात और दिन का भेद भी नहीं था। वायु शून्य और आत्म-अवलंबन से युक्त केवल एक वह (ब्रह्म) था। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

अंधकार था और उस अंधकार से सब कुछ ढँका था। यह सब (सृष्टि) अज्ञात तथा जलमय थी। अविद्यमान वस्तु द्वारा यह सर्वव्यापी आच्छन्न था। तपस्या से वही एक तत्व उत्पन्न हुआ।

सब से प्रथम (ब्रह्म) के मन में कामना (सृष्टिनिर्माण-संबंधी इच्छा) उत्पन्न हुई। उससे सर्वप्रथम बीज निकला। बुद्धिमानों ने बुद्धि के द्वारा अपने अंतःकरण में विचार करके असत् से सत् की उत्पत्ति मानी है।

बीजधारक पुरुष उत्पन्न हुए। महिमाएं (भोग्य वस्तुयें) उत्पन्न हुईं। उनका कार्यकलाप दोनों पार्श्वों में (ऊपर-नीचे) विस्तृत हुआ। नीचे स्वधा (अन्न) रहा और ऊपर प्रयति (भोक्ता) अव्यवस्थित हुआ।

प्रकृत तत्व को कौन जानता है ? कौन उसका वर्णन कर सकता है ? यह सृष्टि किस (उपादान कारण) से हुई ? किस (निमित्त कारण) से ये विविध सृष्टियां हुईं। देवगण इन सृष्टियों के अनंतर उत्पन्न हुए हैं। कहां से यह सृष्टि हुई यह कौन जानता है।

ये नाना सृष्टियां कहां से हुईं, किसने इन्हें बनाया और किसने नहीं बनाया ? यह वही जानता है जो इसका अध्यक्ष (परमात्मा) परमधाम में रहता है। संभव है कि वह भी न जानता हो।

(ऋ० १०, १२९)

परमात्मा

परमात्मा का बहुत सुंदर यजुर्वेद अध्याय ३२ में मिलता है:—

वह ही अग्नि है, वह ही आदित्य है, वह ही चंद्रमा है, वह ही शुक्र है, वह ही बुध है वह ही जल है और वह ही प्रजापति है।(१)

जिसका महान यश हिरण्यगर्भ आदि अनेक वैदिक ऋचाओं में गाया गया है, उस परमात्मा की कोई प्रतिमा (बराबरी की दूसरी वस्तु) नहीं है। (२)

जिससे पहले कुछ भी नहीं उत्पन्न हुआ, जो समस्त लोकों में व्याप्त है, वह प्रजापति अपनी सृष्टि में रमण करता हुआ तीन ज्योतियों (अग्नि, सूर्य, विद्युत्) तथा सोलह कला से युक्त (चंद्रमा) को धारण करनेवाला है। (५)

जिसने यह उग्र द्युलोक, दृढ पृथिवी, जिसने स्वर्लोक और मोक्ष को धारण कर रक्खा है, जो अंतरिक्षलोक में समस्त लोकों का बनानेवाला है उस परमात्मा की हम भक्ति से स्तुति करें। (६)

ईश-वर्णन

यजुर्वेद का अंतिम ४० वां अध्याय ही प्रथम ईशोपनिषद के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें परमात्मा की सत्ता को समझाते हुए जीवन में आदर्श आचरण करने का उपदेश है:—

इस सृष्टि में जो कुछ भी गतिशील है वह सब ईश परमात्मा से व्याप्त है। उसका दिया हुआ समझकर भोग कर। किसी के भी धन लेने की चाह न कर। (१)

इस संसार में कर्म करता हुआ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर। तुझे ऐसा ही करना चाहिए अन्यथा नहीं। इस तरह तू कर्म में लिप्त नहीं होता। (२)

वह ब्रह्म गति देता है परंतु स्वयं गति में नहीं आता। वह ही दूर है, वह निकट भी है। वह इस सब के भीतर है, वह ही इस सब के बाहर है। (५)

जो समस्त भूतों को परमात्मा-स्वरूप देखता है तथा समस्त भूतों में परमात्मा को देखता है वह संदेह में नहीं पड़ता है। (६)

जिस दशा में समस्त भूत आत्मास्वरूप हो जाते हैं ऐसे ज्ञानी पुरुष को कौन मोह और कौन शोक रह सकता है? (७)

यह ही वेदांत (परमज्ञान) है। यह ही उपनिषद् (जीवन का रहस्य) है।

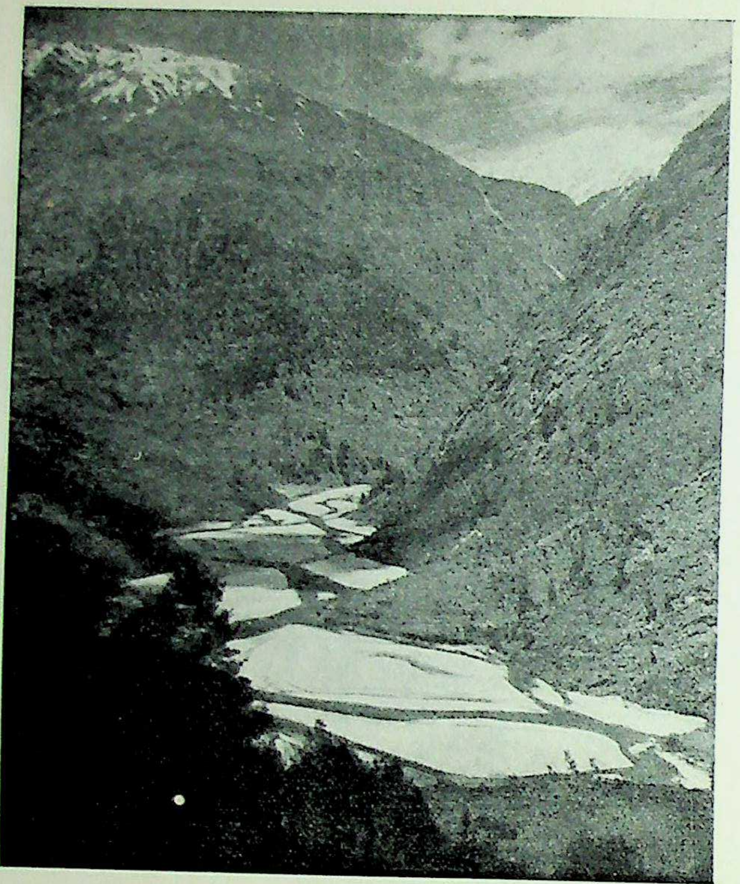
संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रंथों के कुछ उद्धरणों की सहायता से ऊपर जनपदकालीन आर्य-जीवन की झाँकी दी गई है। इसी के विस्तृत उदाहरण-स्वरूप रामायण और महाभारत के ऐतिहासिक महाकाव्य-ग्रंथ लिखे गये। जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं के संबंध में विस्तृत सामग्री आगे चलकर सूत्र-ग्रंथों के रूप में क्रमबद्ध की गई—कल्पसूत्रों में यज्ञसंबंधी कर्मकांड, धर्मसूत्रों में राजनीतिक तथा सामाजिक नियम तथा गृह्यसूत्रों में गृह्य-संस्कार। दर्शनसूत्रों में संहिताओं तथा

उपनिषदों में पाई जानेवाली विचारधारा का वैज्ञानिक रूप है। संहिताओं तथा ब्राह्मणग्रंथों में सुरक्षित आर्यजीवन के मूल स्रोत से परिचय कराने के उद्देश्य से यहां इतने विस्तार के साथ उदाहरण जानबूझकर दिये गये हैं। इतर साहित्य की सहायता से आर्यजीवन की रूपरेखा देने का यहां यत्न नहीं किया गया है क्योंकि इससे हम लोगों का शिक्षित समाज थोड़ा बहुत परिचित है।

अंत में यह स्मरण दिला देना आवश्यक है कि व्यवहारिक जीवन के भिन्न भिन्न पहलुओं से संबंध रखनेवाली सामग्री संहिताओं तथा ब्राह्मणग्रंथों में बहुत कम मिलती है। देवताओं की स्तुति-संबंधी सूक्त तथा उससे संबंध रखनेवाला यज्ञकांड ही इस साहित्य का मुख्य विषय था। यज्ञों में प्रयुक्त होनेवाले वैदिक देवता संबंधी सूक्त केवलमात्र संहिताओं में, विशेषतया ऋग्वेद में, पाये जाते हैं। यही इस साहित्य की सब से बड़ी विशेषता है। देवताओं की स्तुतियों की परंपरा आजतक चल रही है। उदाहरणार्थ गोस्वामी तुलसीदास की विनयपत्रिका के आरंभ में अथवा रामचरितमानस में अनेक स्थलों पर प्राचीन देवताओं के पौराणिक रूपों की जो स्तुतियां मिलती हैं वे इस वैदिक परंपरा से संबद्ध हैं।

साम्राज्य युग

(६०० पू० ई० ६०० ई०)



गंगोत्री के निकट भागीरथी की हिमाच्छादित धारा



हरिद्वार के नीचे गंगा जी का मैदान की ओर प्रवाह

४. प्रथम साम्राज्य का उदय तथा विकास

लगभग ६०० पूर्व ई० तक जनपदों की स्वतंत्र तथा पृथक् शासन-प्रणाली मध्यदेश में चलती रही। किंतु जनपद धीरे-धीरे केवल एक-एक आर्य जन के संगठन न होकर मिश्रित रूप धारण करने लगे थे। यह हम देख चुके हैं कि छोटे-छोटे अनेक जनों ने मिलकर महाजनपदों का रूप धारण कर लिया था। युद्ध, वाणिज्य तथा शिक्षा आदि की आवश्यकताओं के सिलसिले में भिन्न-भिन्न जनपदों की प्रजा अन्य जनपदों में बसने लगी होगी। धार्मिक विचारावली के विकास के अंतर्गत कर्मकांड तथा दार्शनिकता की प्रवृत्ति ने राजतंत्र जैसे व्यवहारिक विषय की ओर से उच्चवर्ग को पराङ्मुख कर दिया हो तो आश्चर्य नहीं। इसके अतिरिक्त जनपदकाल में आर्यों का सामाजिक संगठन धीरे-धीरे प्रधानतया जन्म के आधार पर वर्णव्यवस्था में परिवर्तित होता गया। ऐसी अवस्था में जनपद के शासन का कार्य जनपद की समस्त आर्य प्रजा के स्थान पर केवल क्षत्रियवर्ण का समझा जाने लगा। इन राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक प्रभावों के फलस्वरूप जनपद की शासन-व्यवस्था के प्रति जनपद के साधारण जन उदासीन होते गए। परिणामस्वरूप यह हुआ कि धीरे-धीरे राजनीतिक शक्ति जनता के हाथ से हटकर राजन्यवर्ग, विशेषतया राजा के हाथ में केंद्रित हो गई। जनपद की शब्दावली में हम कह सकते हैं कि राजा ने सभा और समिति को खा दिया अथवा दूसरे शब्दों में राजा जनपद का चुना हुआ अपना प्रतिनिधि न होकर स्वतंत्र शासक मात्र रह गया। मध्यदेश की जनता का राजनीतिक पतन यहां से ही प्रारंभ होता है। यद्यपि इस परिवर्तन के कारण होनेवाली राजनीतिक निर्बलता का भान देश को तब तक स्पष्ट रूप में नहीं हुआ जब तक मध्यदेश पर विदेशी आक्रमण नहीं हुए।

उधर अश्वमेध आदि यज्ञों के प्रभाव से जनपदों के इन स्वतंत्र शासकों में चक्रवर्तित्व की भावना का विकास हुआ और मध्यदेश अथवा आर्यावर्त का सार्वभौम शासक होने की प्रवृत्ति बल पकड़ती गई। जनपदकाल के अंतिम दिनों में तक्षशिला के शिक्षा-केन्द्रों के द्वारा ईरान और यूनान से साम्राज्य का सिद्धांत मध्यदेश के शिक्षित वर्ग में फैला हो तो आश्चर्य नहीं। कोसल के एक राजा ने तक्षशिला में दीक्षा पाई थी इसका निश्चित उल्लेख मिलता है। इन समस्त प्रभावों के फलस्वरूप मध्यदेश के राजनीतिक इतिहास में हम जनपद-युग के स्थान पर साम्राज्य-युग का आरंभ होता हुआ पाते हैं।

परंपरागत जनपद संस्था में यह उथल पुथल और उच्छृंलता हम मध्यदेश के दक्षिण तथा पूर्वी जनपदों के संबंध में पहले-पहल पाते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि पश्चिम मध्यदेश के प्राचीन कुरु-पंचाल और शूरसेन-मत्स्य के जनपद कदाचित् बहुत दिनों तक आर्य-

सभ्यता के केंद्र रहने के कारण शक्तिहीन हो चुके हों, अथवा प्राचीन आर्य राजनीतिक सिद्धांतों को छोड़ने को उद्यत न हों। यह भी संभव है कि इन जनपदों में आर्य जनता अधिक संख्या में होने के कारण उसने राजाओं को उच्छृंखल होने से रोका हो। इसके विरोध में सीमांत के जनपदों में अनार्य जनता के अधिक संख्या में होने के कारण यहां के आर्य शासकों पर आर्य राजनीतिक सिद्धांतों के संबंध में अधिक नियंत्रण न रहा हो। पूर्वी मध्यदेश में अनेक छोटे छोटे गण जनों के होने के कारण भी पूर्व के शक्तिशाली शासकों को इन्हें जीत कर अपने राज्य में मिला लेने का प्रलोभन होना भी स्वाभाविक था। यहां यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि गौतम बुद्ध के समय तक पूर्वी मध्यदेश में दस गणराज्य थे। साम्राज्यस्थापन संबंधी यह प्रयत्न कोसल, वत्स, अवंति और मगध के शासकों के संघर्षों के रूप में ६०० पू० ई० के लगभग आरंभ होता है।

सबसे पहले कोसल के एक राजा ने, जिनका उपनाम महाकोसल था, लगभग ६२५ पू० ई० में काशी जनपद को जीत कर कोसल में मिला लिया था। महाकोसल के पुत्र प्रसेनजित गौतम बुद्ध के समकालीन और एक शक्तिशाली शासक थे। प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ या विरुद्धक ने कोसल के उत्तर के शाक्यगण की, जिनकी राजधानी कपिलवस्तु थी, शक्ति को छिन्न-भिन्न कर उसे कोसल में मिलाया।

कोसल के दक्षिण में वत्स जनपद था। जहां कुरु जनपद के भरत-वंश की एक शाखा अब तक राज्य कर रही थी। वत्स जनपद वर्तमान बघेलखंड से मिलता-जुलता था और कौशांबी, जो प्रयाग से तीस मील पश्चिम में यमुना तट पर अत्यंत समृद्धिशाली नगरी थी, वत्स की राजधानी थी। गौतम बुद्ध के समय में वत्स के राजा प्रसिद्ध उदयन थे। उदयन तथा अवंति के शासक चंड-प्रद्योत में बहुत दिनों अनबन रही। अवंति की राजधानी उज्जैन थी। अवंति के अंतर्गत मत्स्य का राज्य पहले ही हो गया था। बाद की एक अनुश्रुति के अनुसार चंडप्रद्योत के पुत्र पालक ने वत्स जनपद को भी जीत कर अवंति को अपने राज्य में मिला लिया था।

ऐतिहासिक और पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार महाभारत के समय में मगध के शासक जरासंध की प्रवृत्ति साम्राज्य संस्थापन की ओर हुई थी किंतु पश्चिमी मध्यदेश के शासकों ने जरासंध को इस महत्वाकांक्षा में सफल नहीं होने दिया था। जरासंध के पिता बृहद्रथ द्वारा स्थापित यह वंश ६०० पू० ई० के लगभग समाप्त हुआ और तब से मगध पर हिरण्यक कुल के राजा शासन करने लगे थे। गौतम बुद्ध के समकालीन इस वंश के शासक बिंबसार ने कई जनपदों के साथ विवाह-संबंध स्थापित करके अपनी शक्ति को बढ़ाया और उसके बाद पड़ोस के जनपदों को विजय करने का बीड़ा उठाया। बिंबसार ने अंग जनपद के राजा ब्रह्मदत्त को हरा कर अंग को मगध राज्य में मिला लिया था। बिंबसार के पुत्र अजातशत्रु के समय में कोसल के राजा प्रसेनजित के साथ युद्ध आरंभ हुआ और अंत में काशी का एक भाग मगध राज्य के अंतर्गत आ गया। अजातशत्रु ने वैशालि के लिच्छवि या वृजि संघ को, जिसकी राजधानी वैशाली थी, नष्ट करके मगध में मिला लिया। इसी प्रकार अंग, काशी और वैशालि के विजय से शिशुनाग-वंश के शासकों के समय में ही मगध एक साधारण जनपद न रहकर भावी साम्राज्य का पूर्व-रूप और एक सुसंगठित शक्तिशाली राज्य के

रूप में परिवर्तित हो गया। हिरण्यक-कुल के बिंबसार और अजातशत्रु दोनों ही गौतम बुद्ध और महावीर के भक्त तथा उनके चलाए सुधारों के पोषक थे। इस प्रकार पूर्वी और दक्षिण मध्यदेश में अनेक जनपदों के स्थान पर अब कोसल, अवंति और मगध के तीन शक्तिशाली राज्य स्थापित हो गए।

कुछ दिनों की शांति के बाद मगध और अवंति के नए राज्यों में फिर होड़ आरंभ हुई। अवंति के आक्रमण के डर से मगध के राजा अजातशत्रु ने गंगा और सोन के संगम पर पाटलिपुत्र का दुर्ग बनवाया था। अजातशत्रु के पुत्र उदायिन ने राजगृह के स्थान पर पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। मगध के हिरण्यक-कुल के शासकों के दो तीन पीढ़ियों में निर्बल हो जाने पर उनके एक अमात्य शिशुनाग ने मगध के राज्य पर अधिकार कर लिया। अब मध्यदेश के राज्य-सिंहासन पर किसी राजा को बिठाने या हटाने का निर्णय मध्यदेश की जनता नहीं करती थी बल्कि महत्वाकांक्षी व्यक्तियों की सैनिक तथा कूटनीति संबंधी शक्ति ही इसकी निर्णायक हो गई थी। शिशुनाग ने अवंति के प्रद्योतवंश के अंतिम राजा को हटा कर अवंति के राज्य को भी मगध में मिला लिया। कोसल का राज्य पहले ही मगध के अधीन हो चुका था। इस प्रकार शिशुनाग के समय तक कोसल, अवंति और मगध की प्रतियोगिता में मगध के शासक विजयी सिद्ध हुए और ये तीनों शक्तिशाली राज्य मिलकर मगध के शिशुनाग-वंश के विशाल राज्य के अंग हो गए। मगध के इस विशाल राज्य का विस्तार एक प्रकार से बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक हो गया। किंतु पश्चिम मध्यदेश के जनपद अब भी स्वतंत्र थे।

चौथी शताब्दी पूर्व ईसवी के मध्य में मगध का विशाल राज्य शिशुनाग-वंश के शासकों के हाथ से निकल कर नंदवंश के महाराज महापद्म के हाथ में चला गया। महापद्म जन्म से क्षत्रिय नहीं थे किंतु वे यों अत्यंत शक्तिशाली शासक थे। पश्चिम मध्यदेश के कुरु, पंचाल, शूरसेन जनपदों तथा दक्षिण के अश्मक और हैहय क्षत्रिय राज्यों को नष्ट कर उन्होंने मगध के अंतर्गत किया। कलिंग भी मगध में सम्मिलित कर लिया गया। महापद्म के बाद उसके आठ पुत्र सिंहासन पर बैठे। नंदवंश के अंतिम राजा धनानंद के समय में ३२७ पू० ई० में सिकंदर का आक्रमण पंजाब पर हुआ था। सिकंदर के सैनिकों ने गंगा तथा प्राची अर्थात् मध्यदेश के नंद-शासकों की शक्ति का हाल सुनकर मध्यदेश की ओर एक क़दम भी बढ़ाने से इन्कार कर दिया और उसकी सेना व्यास के किनारे से वापिस लौट गई। एक ग्रीक लेखक के अनुसार मध्यदेश के इस राजा की सेना में ८०,००० सवार, २,००, ००० पैदल, ८,००० रथ और ६,००० हाथी थे। जो हो ६०० पू० ई० से प्रारंभ हो कर ३०० पू० ई० तक तीन सौ वर्ष में मध्यदेश के समस्त जनपदों की स्वतंत्र सत्ता धीरे धीरे नष्ट हो गई और अंत में ये सब नंद-वंश के समय तक एक छत्राधिपत्य में चले गए। इस परिवर्तन के फलस्वरूप मध्यदेश के शासक की शक्ति कितनी गुना बढ़ गई होगी यह ग्रीक सैनिकों के भय और ग्रीक लेखकों के उपर्युक्त उल्लेखों से ही स्पष्ट होता है।

नंदवंश के शासक बहुत लोकप्रिय नहीं थे। यह संभव है कि उनके जन्म से शूद्र तथा जैन धर्मावलंबी होने के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही उनसे असंतुष्ट रहे हों। महाराज धनानंद

के एक सैनिक चंद्रगुप्त ने सिकंदर के चले जाने के बाद पंजाब से यूनानियों को भगाकर वहां अपना राज्य स्थापित कर लिया और उसके बाद अपने मंत्री कूटनीतिज्ञ विष्णुगुप्त अथवा चाणक्य की सहायता से नंदवंश को हटा कर मध्यदेश के शासन की बागडोर ३२१ पू० ई० के लगभग अपने हाथ में कर ली। चंद्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य की सीमा मध्यदेश तक ही सीमित नहीं रही। आर्यावर्त का पश्चिमोत्तरी भाग अर्थात् आजकल का पंजाब उनके हाथ में पहले ही आ चुका था। इसके अतिरिक्त सौराष्ट्र (गुजरात) तथा दक्षिण में मैसूर तक का प्रदेश धीरे-धीरे साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। सिकंदर के पूर्वी साम्राज्य के उत्तराधिकारी सिल्यूकस को हराकर महाराज चंद्रगुप्त ने वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान और बलोचिस्तान के प्रदेशों को भी सिल्यूकस से ले लिया था और इस प्रकार मौर्य-साम्राज्य की सीमा पश्चिमोत्तर में हिंदूकुश तक पहुँच गई थी। सिल्यूकस ने अपनी पुत्री का विवाह महाराज चंद्रगुप्त से किया और यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ को पाटलिपुत्र में रहने को भेजा। चाणक्य के अर्थशास्त्र और मेगस्थनीज़ के भारत-वर्णन में चंद्रगुप्त के समय के साम्राज्य की अवस्था के विस्तार सुरक्षित हैं।

महाराज चंद्रगुप्त के बाद उनके पुत्र बिंदुसार सिंहासन पर बैठे और २५ वर्ष शासन करने के उपरांत उनके पुत्र अशोक अथवा अशोकवर्द्धन इस विशाल साम्राज्य के उत्तराधिकारी हुए। महाराज अशोक के समय की सबसे महत्वपूर्ण घटना कलिंग के फिर से विजय की थी। इस युद्ध में कलिंग के १, ००, ००० सैनिक आहत हुये थे और ५०,००० सैनिक बंदी हुये थे। महाराज अशोक के हृदय पर इस युद्ध का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्हें युद्ध से ही घृणा हो गई और उन्होंने यह व्रत धारण कर लिया कि साम्राज्य की सीमाओं को वे भविष्य में इस प्रकार नहीं बढ़ावेंगे। उन्होंने गौतम बुद्ध की शिक्षाओं को अपने तथा अपने साम्राज्य के लिए पथप्रदर्शक-स्वरूप ग्रहण कर लिया। संसार के इतिहास में इस असाधारण सम्राट् की सहिष्णुता, उदारता और प्रेम के उपदेश आजतक उनके शिलालेखों के रूप में सुरक्षित हैं। महाराज अशोक के राज्य के १७ वें वर्ष में तीसरी बौद्ध संगीति पाटलिपुत्र में हुई थी और इसकी समाप्ति पर बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए काश्मीर, गांधार, हिमालय के प्रदेशों, महिषमंडल (मैसूर), सुवर्णभूमि (बर्मा), महाराष्ट्र तथा यवन देश (ग्रीक अथवा ईरान के ग्रीक प्रदेश) को उपदेशक भेजे गए थे। महाराज के पुत्र महेंद्र, जो भिक्षु हो गए थे, प्रचार के लिए स्वयं लंका गए और साथ में उनकी बहिन संघमित्रा बोधिवृक्ष की शाखा ले कर अपने भाई के साथ गई थीं। महाराज अशोक के साम्राज्य का विस्तार धुर दक्षिण के चोल, पांड्य, सतियपुत्र और केरल के तमिल राज्यों को छोड़कर समस्त भारतवर्ष में था। यह पश्चिमोत्तर में हिंदूकुश से लेकर पूर्व में बंगाल तक तथा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में वर्तमान मैसूर राज्य की सीमा तक फैला था। इस प्रकार मध्यदेश का यह प्रथम साम्राज्य लगभग समस्त जंबूद्वीप अथवा भारतवर्ष में फैल गया। ४० वर्ष राज्य करने के बाद २३२ पू० ई० में सम्राट् अशोक का देहावसान हुआ। उनके उत्तराधिकारी मौर्य-सम्राटों में कोई भी अपने पूर्वजों के समान शक्तिशाली नहीं निकला।

अंतिम मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ अत्यंत निर्बल थे। उनको मारकर उनके सेनापति शुंग-वंश के

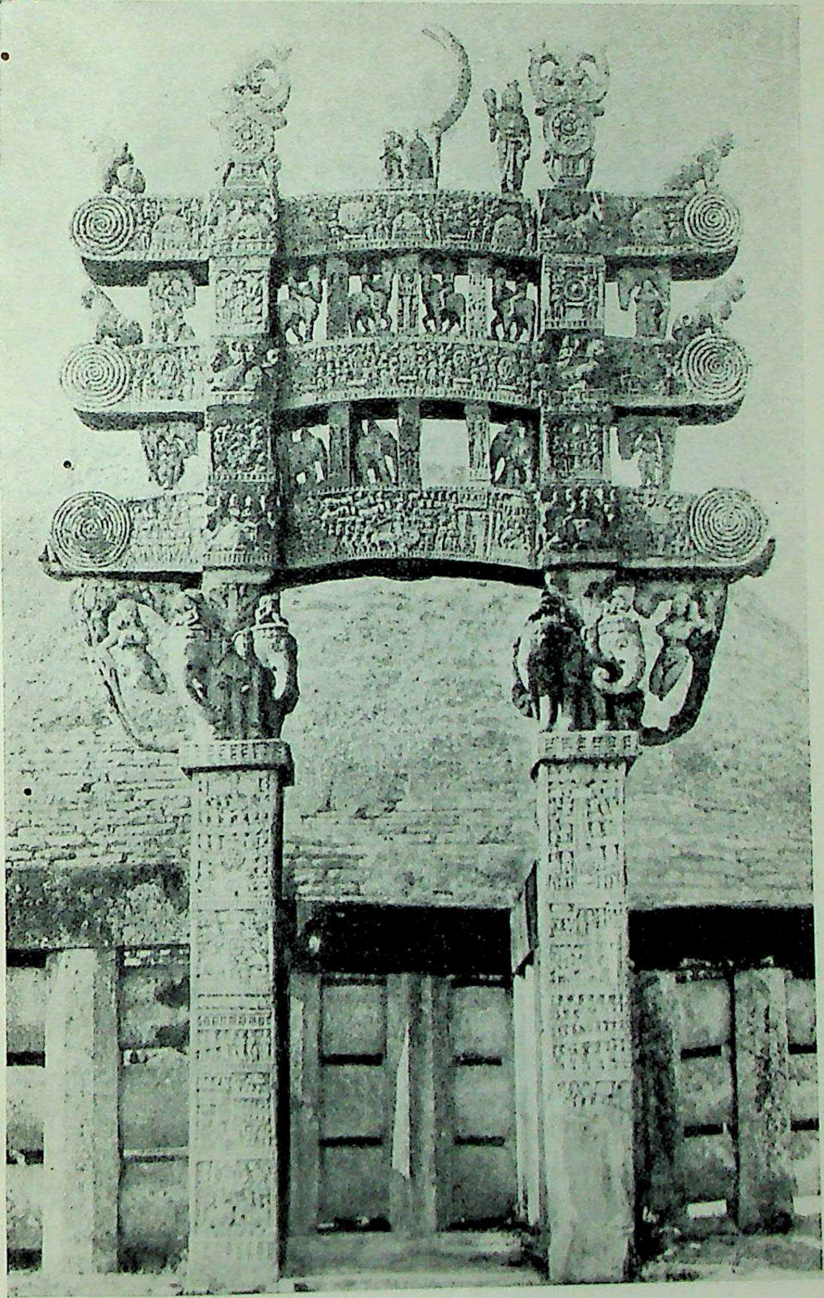
पुष्यमित्र ने अवशेष साम्राज्य की वागडोर १८४ पू० ई० के लगभग अपने हाथ में कर ली। विदर्भ के साथ संघर्ष तथा उसपर अधिकार करना पुष्यमित्र के राज्य की प्रथम महत्वपूर्ण घटना है। इस समय पश्चिमोत्तर आर्य-यूनानी शासक कदाचित् दिमित ने भारत पर आक्रमण किया था और इसकी यूनानी सेनाएं मध्यदेश में घुस कर संभवतः पाटलिपुत्र तक पहुँच गई थीं किंतु यह शीघ्र ही हरा दी गईं। संभव है साम्राज्य के वंश-परिवर्तन में यह घटना ही प्रधान कारण रही हो। इस आक्रमण के कोई भी विस्तार उपलब्ध नहीं हैं केवल कुछ उल्लेखमात्र मिलते हैं। पुष्यमित्र से पहले ही साम्राज्य से कलिंग तथा उत्तर और दक्षिण के प्रदेश स्वतंत्र हो चुके थे। उनके समय में साम्राज्य का विस्तार पश्चिम में पंजाव में स्यालकोट तक और दक्षिण में नर्मदा तक रह गया था, अर्थात् समस्त भारतवर्ष के स्थान पर ठेठ आर्यावर्त पर साम्राज्य का अधिकार रह गया था। पुष्यमित्र कदाचित् ब्राह्मण थे। बौद्धधर्म के वे विरुद्ध थे और उन्होंने वैदिक कर्मकांड फिर से प्रचलित करना चाहा। अनेक शताब्दियों के वाद मध्यदेश में पुष्यमित्र द्वारा दो अश्वमेध यज्ञ किये गये जिनमें से एक में कदाचित् महाभाष्यकार पतंजलि ने पुरोहित का कार्य किया था। सब मिला कर शुंग-वंश में दस राजा हुए किंतु उनके विषय में हमारी अधिक जानकारी नहीं है। इनके समय में भागवत-धर्म की विशेष उन्नति हुई। कला के क्षेत्र में भारहुत स्तूप का परकोटा शुंग-काल का है, सांची के स्तूप का एक सुंदर द्वार भी इन्हीं के काल में विदिशा के हाथीदाँत का काम करने वाले कारीगरों ने बनाया था।

पुराणों के अनुसार ११२ वर्ष शासन करने के बाद साम्राज्य शुंगवंश के हाथ से एक दूसरे ब्राह्मण-वंश कण्व-वंश के हाथ में चला गया। इस वंश के राजाओं ने केवल ४५ वर्ष राज्य किया। कण्व-वंश (७२ पू० ई०–२७ पू० ई०) के समय में साम्राज्य का विस्तार कदाचित् मध्यदेश तक ही सीमित रह गया था। मध्यदेश में भी इन नाममात्र के सम्राटों की राज्यशक्ति डाँवाडोल थी। इस समय कलिंग में चेदिवंश के शक्तिशाली महाराज खारवेल का सुदृढ राज्य स्थापित हो चुका था। खारवेल का एक अत्यंत महत्वपूर्ण शिलालेख प्राकृत भाषा में पुरी के निकट मिला है। इस शिलालेख से यह प्रमाणित होता है कि महाराज खारवेल अत्यंत शक्तिशाली शासक थे। उन्होंने मगध पर भी दो आक्रमण किये थे और कदाचित् यवनों के एक सेनापति को पाटलिपुत्र के निकट हराया था और उसके बाद कदाचित् पंजाब तक एक बार इनकी सेनाएं पहुँच गई थीं।

कण्व-शासकों के समय में ही दक्षिण में सातवाहन शक्ति का उदय हुआ। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार प्रथम सातवाहन राजा शिशुक या सिमुक ने मगध के अंतिम कण्व राजा सुशर्मन को स्थानापन्न किया था।

इस प्रकार मध्यदेश के १४ महाजनपदों के स्थान पर मध्यदेश का प्रथम भारतीय साम्राज्य धीरे-धीरे विकसित हुआ था। इस परिवर्तन में हम कई सीढ़ियां पाते हैं। पहली सीढ़ी में कोसल और काशी के मिलने से वर्तमान पूर्वी-उत्तर प्रदेश का वृहत् कोसल राज्य बना। पूर्व-मध्यदेश में अंग और वैशालि के मगध में समावेश से लगभग वर्तमान बिहार के विस्तार का वृहत् मगध राज्य हिरण्यकुल के शासकों द्वारा स्थापित हुआ। दक्षिण मध्यदेश में अवंति, मत्स्य तथा वत्स का सम्मि-

लित अवंति राज्य बना, जिसका विस्तार वर्तमान हिंदी-मध्यप्रदेश, विंध्यप्रदेश, मध्यभारत और पश्चिम राजस्थान तक माना जा सकता है। पश्चिम मध्यदेश की ठीक स्थिति का ज्ञान नहीं है किंतु कुरु, पंचाल और शूरसेन जनपद अधिक सन्निकट हो गये हों तो आश्चर्य नहीं। इस प्रकार पहली सीढ़ी में मध्यदेश के १४ जनपद वृहत् कोसल, मगध, अवंति और कदाचित् कुरु के चार विशाल सम्मिलित राज्यों के रूप में परिवर्तित हो गए। दूसरी सीढ़ी में वृहत् मगध राज्य के शिशुनाग-वंश के शासकों ने कोसल, अवंति तथा कुरु पंचाल को जीत कर अपने अंतर्गत कर लिया। इस प्रकार समस्त मध्यदेश का शासन मगध के केंद्र से होने लगा। तीसरी सीढ़ी में मगध के नंद वंश के शासकों का राज्य पंजाब को छोड़कर समस्त आर्यावर्त अथवा उत्तर-भारत में फैल गया। साम्राज्य की चौथी और अंतिम सीढ़ी हम मौर्य-वंश के समय में पाते हैं जब कि संपूर्ण जंबूद्वीप अथवा भारतवर्ष एक छत्र के नीचे आ गया। सम्राट् अशोक के समय में प्रथम साम्राज्य अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच गया था। इस प्रकार इस साम्राज्य की शृंखला ६२५ पू० ई० में कोसल द्वारा काशी विजय से आरंभ हुई और इसकी अंतिम कड़ी सम्राट् अशोक द्वारा कलिंग विजय के रूप में जोड़ी गई। २३२ पू० ई० में सम्राट् अशोक की मृत्यु के बाद प्रथम साम्राज्य की कड़ियां धीरे-धीरे बिखरने लगीं। शुंग तथा कण्व-वंश के शासकों के समय में साम्राज्य की सीमायें घटकर केवल आर्यावर्त तक और अंत में कदाचित् मध्यदेश तक ही सीमित रह गई थीं।



सांची स्तूप का तोरण

५. समकालीन सुधार आंदोलन तथा साहित्य

जिस प्रकार ५०० पू० ई० के लगभग मध्यदेश के राजनीतिक इतिहास में एक नए युग का प्रारंभ हुआ, अर्थात् स्वतंत्र जनपदों के स्थान पर साम्राज्य की स्थापना हुई, उसी प्रकार देश के धार्मिक वातावरण में भारी परिवर्तन हुआ। ऊपर हम देख चुके हैं कि जनपदकाल में वैदिक धर्म व्यापक-रूप से प्रचलित था। किंतु इसके अंतर्गत वैदिक देवताओं के महत्व के स्थान पर धीरे-धीरे यज्ञों का महत्व बढ़ता गया और ये संख्या और कर्मकांड की दृष्टि से अधिक जटिल होते गये। साथ ही हम दार्शनिक विचारावली की ओर भी विशेषतया राजन्य-वर्ग की प्रवृत्ति पाते हैं। जनपद काल के अंत में वैदिक धर्म नीरस कर्मकांड और दर्शन-प्रधान हो गया था और इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप साम्राज्यकाल के आरंभ में ही हम परंपरागत वैदिक धर्म के संबंध में तीन प्रधान सुधार आंदोलनों का प्रारंभ पाते हैं। ये बौद्ध सुधार, जैन सुधार और वासुदेव सुधार आंदोलन थे। इनमें से पहले दो आंदोलनों का प्रारंभ साम्राज्य स्थापित करनेवाली पूर्व-मध्यदेश की उर्वरा भूमि, मगध, काशी, कोसल में हुआ। वासुदेव सुधार का संबंध पश्चिम-मध्यदेश के शूरसेन प्रदेश से था और उसी ओर आगे चलकर वैष्णवधर्म के रूप में इसका विशेष प्रचार हुआ। इन समस्त सुधारों का मुख्य उद्देश्य मध्यदेश की परंपरागत आर्य धार्मिक विचारावली में कर्मकांड तथा दार्शनिकता की ओर अत्यधिक झुकाव के स्थान पर उच्च नैतिक आदर्शों तथा भावुकतापूर्ण आस्तिकता के महत्व की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करना था। ये तीनों प्रारंभ में स्वतंत्र नवीन धर्म अथवा संप्रदाय नहीं थे, बल्कि देश के परंपरागत धर्म के दोषों को दूर कर उसमें सुधार करना ही इनका मूल ध्येय था। इन तीनों सुधार आंदोलनों के प्रवर्तक क्षत्रिय थे तथा क्षत्रिय और वैश्य वर्णों का ही झुकाव इनकी ओर विशेष हुआ।

जैन-विचारधारा मध्यदेश में बहुत पहले से विद्यमान थी। काशी के राजा अश्वसेन के पुत्र पार्श्वनाथ ने, जो जैन अनुश्रुति के अनुसार २३ वें तीर्थंकर माने जाते हैं, इस विचारधारा को कदाचित् एक निश्चत सुधार आंदोलन का रूप दिया था। इनके २५० वर्ष बाद इसको देशव्यापी सुधार आंदोलन में परिवर्तित करनेवाले सुधारक वर्द्धमान महावीर थे। इनका जन्म लिच्छवि या वृजिगण की राजधानी वैशाली के निकट कुंडग्राम ज़िला मुज़फ्फ़रपुर में हुआ था। ये ज्ञात्रिक कुल के एक राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे और इनकी माता त्रिशला लिच्छवि राजा चेटक की बहिन थी। चेटक की पुत्री का विवाह मगध के राजा बिंबसार से हुआ था। महावीर के माता-पिता तीर्थंकर पार्श्वनाथ अनुयायी थे। इनकी स्त्री का नाम यशोदा था और इनके एक लड़की भी हुई थी। ३० वर्ष की अवस्था में इन्हें गृहस्थाश्रम से विरक्ति हो गई और १२ वर्ष तक तपश्चर्या आदि के

साधनों में भटकने के बाद ये निर्ग्रंथ अथवा जिन हो गये अर्थात् आत्मविजय प्राप्त कर बंधनमुक्त हो गये। इन विशेषणों से ही इनके मतानुयायियों का नाम निर्ग्रंथ या जैन पड़ा। अर्हत् (पूज्य) महावीर ने पूर्व-मध्यदेश के मगध, अंग, विदेह और कोसल जनपदों में अपने विचारों का प्रचार तीस वर्ष तक किया। मगध के शिशुनाग, नंद तथा अशोक के पूर्व मौर्यवंश के शासकों की आस्था जैन-सिद्धांतों में विशेष थी। इनका देहावसान पटना ज़िले में पावापुरी में ७२ वर्ष की अवस्था में ५२७ पू० ई० के लगभग हुआ था।

२३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य अस्तेय और अपरिग्रह की शिक्षा दी थी। महावीर ने ब्रह्मचर्य को भी सम्मिलित कर पाँचों यमों को आदर्श धार्मिक जीवन का प्राण बतलाया। किंतु इन पाँचों में प्रारंभ से ही इस सुधार में अहिंसा का विशेष स्थान रहा। साथ ही इनके पालन के लिए तपश्चर्या और कृच्छ्र को प्रधान साधन माना गया। जैन सुधार वेदविहित श्रौत कर्मकांड अर्थात् यज्ञों के आरंभ से ही विरुद्ध था, इसी कारण वेद के महत्व में भी इसकी आस्था नहीं रही। किंतु परंपरागत कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत में इसका पूर्ण विश्वास था। महावीर की मृत्यु के एक-दो शताब्दी के अंदर ही जैन-विचारधारा पूर्व-मध्यदेश के अतिरिक्त दक्षिण-पश्चिम के प्रदेश तथा सुदूर कलिंग प्रदेश तक फैल गई। स्वयं पूर्वी मध्यदेश में जैन सुधार के स्थान पर बौद्ध सुधार बल पकड़ता गया। परंपरागत जैन-सिद्धांतों की व्यवस्था चौथी सदी पूर्व ई० में पाटलिपुत्र के जैन-परिषद् में हुई। आगे चलकर जैनधर्म में दो प्रधान समुदाय, दिगंबर और श्वेतांबर, हो गये। मगध के जैन श्वेतांबर कहलाए तथा जो जैन एक दुर्भिक्ष के कारण कुछ समय के लिए कर्नाटक चले गये थे, वे दिगंबर कहलाए। पाँचवीं सदी ईसवी में गुजरात में वलभी के परिषद् ने जैन-सिद्धांत को अंतिम रूप दिया। यद्यपि बौद्धधर्म मध्यदेश से बिल्कुल लुप्त हो गया किंतु जैन-धर्मावलंबी आजतक पर्याप्त संख्या में मौजूद हैं। इसके अनुयायी पश्चिम-मध्यदेश के वैश्य-वर्ग में विशेष मिलते हैं।

अधिकांश जन-साहित्य अर्धमागधी अर्थात् कोसल-जनपद की प्राचीन साहित्यिक प्राकृत में मिलता है। श्वेतांबरों के प्रामाणिक साहित्य के अंतर्गत ११ अंग तथा १२ उपांग माने जाते हैं। दिगंबर इन्हें प्रामाणिक नहीं मानते बल्कि इनके स्थान पर चार अनुयोग मानते हैं। जैन अनुश्रुति के अनुसार महावीर के शिष्य सुधर्म ने अंगों और उपांगों का संपादन किया था, किंतु इनका वर्तमान रूप कदाचित् बहुत बाद का है।

दूसरे सुधार के प्रवर्तक गौतम बुद्ध भी वर्द्धमान महावीर के ही समान क्षत्रिय-वंश के थे, उनके समकालीन थे और उनके कार्य का भी केंद्र पूर्व-मध्यदेश था। गौतम का जन्म शाक्यगण की राजधानी कपिलवस्तु के निकट हुआ था। उनकी माता माया का देहांत सात दिन बाद हो गया था। उनके पिता शुद्धोदन शाक्यों के राजा थे। उनकी स्त्री का नाम यशोधरा या गोपा था और उनके एकमात्र पुत्र का नाम राहुल था। चारों ओर जीवन में कष्टों को देख कर २९ वर्ष की अवस्था में वे गृहस्थाश्रम को छोड़कर दुःख-निवृत्ति के उपाय की खोज में निकले। यह बौद्धों में महाभिनिष्क्रमण के नाम से पुकारा जाता है। ६ वर्ष तक अनेक प्रयोग करने के उपरांत

बुद्ध गया में उन्हें बोध हुआ जिस कारण वे गौतम बुद्ध कहलाए। काशी के निकट उन्होंने अपने नवीन धर्म का सर्वसाधारण के हित के लिए उपदेश देना प्रारंभ किया, जो धर्मचक्र-प्रवर्तन कहलाता है। वे इस कार्य में ४५ वर्ष तक दिनरात लगे रहे। कोसल के राजा प्रसेनजित, मगध के महाराज बिंवसार तथा अजातशत्रु, वत्स के महाराज उदयन गौतम बुद्ध के समकालीन तथा अभिभावक थे और इन सब राज्यों में इनका प्रधान कार्यक्षेत्र रहा। गौतम बुद्ध ने अपने जीवन-काल में ही बौद्ध भिक्षुओं के संघ की स्थापना की जिससे कि उनके उपदेशों का प्रचार आगे भी निरंतर सुसंगठित रूप में होता रहा। ८० वर्ष की आयु में ४८३ पू० ई० के लगभग मल्लगण की राजधानी कुशीनगर (ज़िला गोरखपुर) में वे निर्वाण को प्राप्त हुए।

गौतम बुद्ध के अनुसार आर्य धर्म का सार दो शब्दों में "संयम सहित आचरण" था। इस आर्यमार्ग के आठ अंग हैं : सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम (उद्योग), सम्यक् स्मृति (विचार), और सम्यक् समाधि (ध्यान)। इन अंगों को जीवन में घटित करने के लिए गौतम बुद्ध तप के उपाय में विश्वास नहीं करते थे बल्कि मध्यम-मार्ग के अनुसरण के पक्षपाती थे। उनके अनुसार अत्यंत विषय-सुख अथवा अत्यधिक शरीर को कष्ट देना इन दोनों अंतों से बचना चाहिए।

गौतम बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके उपदेशों को तीन संगीतियों में क्रमबद्ध किया गया। पहली संगीति राजगृह में बुद्ध के निर्वाण के बाद ही हुई थी। सौ वर्ष बाद वैशालि में दूसरी संगीति हुई। फिर उसके दो सौ वर्ष बाद सम्राट् अशोक के समय में तीसरी संगीति पाटलिपुत्र में हुई। इन संगीतियों के फलस्वरूप बौद्ध-साहित्य सुत्तपिटक, विनयपटक और अभिधम्मपिटक, इन तीन भागों अथवा पिटकों में विभक्त हुआ। सुत्तपिटक में स्वयं गौतम बुद्ध के वचन और उपदेश संकलित किये गये। इसके अंतर्गत पाँच निकाय हैं। प्रसिद्ध बौद्ध जातक, धम्मपद, सुत्तनिपात, थेरगाथा आदि क्षुद्रक निकाय के अंतर्गत आते हैं। विनयपिटक में गौतम बुद्ध के बनाये हुये भिक्षु-संघ के आचार-संबंधी नियम रक्खे गये। इसके मुख्य तीन भाग हैं। अभिधम्मपिटक में दार्शनिक विवेचन से संबंध रखनेवाले सात ग्रंथ हैं। मूल बौद्ध साहित्य पाली में है, जो आजकल की खड़ी बोली हिंदी के समान उस समय पश्चिम-मध्यदेश की किसी बोलीके आधार पर निर्मित साहित्यिक भाषा थी। यह मूल बौद्धधर्म हीनयान कहलाता है। हम देख चुके हैं कि सम्राट् अशोक ने गौतम बुद्ध के उपदेशों को अपने साम्राज्य का धर्म बनाया और उनके उद्योग के फलस्वरूप ही उसका प्रचार संपूर्ण भारत-वर्ष के अतिरिक्त लंका और ब्रह्मदेश में हुआ। ब्रह्मदेश से ही बौद्धधर्म स्याम में गया। आगे चल कर बौद्धधर्म का महायान रूप तक्षशिला के कुशाण-वंशी शासक सम्राट् कनिष्क के उद्योग से फैला। धीरे-धीरे महायान चीन (१ से ४ शताब्दी के बीच) जापान (५वीं शताब्दी) और तिब्बत (७वीं शताब्दी ई०) तक पहुँचा। काश्मीर, अफ़गानिस्तान, ईरान और मध्य-एशिया का भी यह बहुत दिनों तक लोकधर्म था। महायान साहित्य संस्कृत में लिखा गया। महायान बौद्धधर्म का रूप मूल बौद्ध सुधार से बहुत अधिक भिन्न हो गया। नैतिक आदर्शों के स्थान पर इसमें कर्मकांड और जटिल दार्शनिकता ने मुख्य स्थान ले लिया। गौतम बुद्ध की मूर्ति की पूजा भी महायान की ही देन है।

साम्राज्य-काल का तीसरा मुख्य धार्मिक सुधार वासुदेवधर्म था, जो भागवतधर्म या पंचरात्रविधि भी कहलाता था। वासुदेव नाम के कदाचित् एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे जो बुद्ध और महावीर के समकालीन थे किंतु इनकी जीवनी के संबंध में हमें कोई विस्तार नहीं मिलते। इस धर्म के पोषक पश्चिम-मध्यदेश में शूरसेन जनपद (मथुरा) के वृष्णिवंशी अथवा सात्वत शासक थे। वासुदेव ने अपने सुधार में नैतिक आदर्शों को महत्व न देकर आस्तिकता और भक्ति की भावना को प्रथम स्थान दिया। वेद को प्रमाण मान लेने और अहिंसात्मक यज्ञों का विरोध न करके इस सुधार आंदोलन ने देश के परंपरागत धर्म की अधिक सहानुभूति प्राप्त की। आगे चलकर इस सुधार में नारायण या हरि (४०० पू० ई०), विष्णु (२०० पू० ई०) और गोपाल-कृष्ण (२०० ई०) की भक्ति से संबंध रखनेवाली शाखाएं भी मिश्रित हो गईं और अंत में यह वैष्णवधर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वासुदेव सुधार या वैष्णवधर्म का अपना कोई पृथक् साहित्य भी नहीं है। परंपरागत रामायण और महाभारत के लोकप्रिय ऐतिहासिक काव्यों और पुराणों की परंपरा को ही इसने अपनाया। हम देख चुके हैं कि किस तरह रामायण और महाभारत के नायक महापुरुष राम और कृष्ण के संबंध में विष्णु के अवतार की भावना इन ग्रंथों में मिश्रित की गई। महाभारत के अंतर्गत गीता और हरिवंश तथा आगे चलकर वैष्णवपुराण, विशेषतया भागवत, वैष्णवधर्म के प्रधान ग्रंथ माने जा सकते हैं। २०० पू० ई० के लगभग वैष्णवधर्म वृष्णिवंशी क्षत्रियों के साथ दक्षिण भारत गया। आधुनिक मदुरा नगरी का नामकरण वास्तव में शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा के अनुकरण में ही हुआ था। दक्षिण के शैवधर्म के साथ-साथ यह लगभग १२०० ई० तक वहां चलता रहा। १२०० ई० के लगभग वैष्णवधर्म का प्रभाव दक्षिण से फिर मध्यदेश में लौटा। यह कार्य चार प्रसिद्ध वैष्णव आचार्यों, अर्थात् रामानुज, मध्वाचार्य, निंबार्क और विष्णुस्वामी के प्रभाव के फलस्वरूप हुआ।

साम्राज्य-काल में वासुदेव सुधार की अपेक्षा जैन और विशेषतया बौद्ध सुधार का प्रभाव अधिक लोक-व्यापक हुआ। बौद्ध सुधार के फलस्वरूप एक नए साहित्य, पाली साहित्य, की रचना हुई जो इस काल की संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। मध्यदेश की जनता का जीता-जागता चित्र हमें पहले-पहल पाली साहित्य में ही मिलता है। वैदिक साहित्य तो प्रधानतया उच्चवर्णों का साहित्य था।

भाषा की दृष्टि से भी बौद्ध और जैन आंदोलन विशेष महत्व रखते हैं। क्योंकि गौतम बुद्ध और वर्द्धमान महावीर मध्यदेश की जनता में अपने विचारों का प्रचार करना चाहते थे इसलिए उन्होंने उस समय मध्यदेश में प्रचलित लोक-भाषाओं को अपनी शिक्षा का माध्यम बनाया। फलस्वरूप संस्कृत के स्थान पर बौद्ध और जैन साहित्य की रचना पाली और अर्धमागधी प्राकृतों में हुई।

किंतु यह नहीं समझना चाहिए कि परंपरागत धर्म इन सुधार आंदोलनों के फलस्वरूप मध्यदेश से बिल्कुल लुप्त हो गए। वैदिक ब्राह्मणों में वैदिक साहित्य का पठन-पाठन बराबर चलता रहा। कुछ श्रौतसूत्रों, अधिकांश गृह्य और धर्मसूत्रों तथा दर्शन-सूत्रों की रचना वास्तव में

साम्राज्यकाल में हुई है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी इस काल की अत्यंत महत्वपूर्ण रचना है। पाणिनि का प्रसिद्ध व्याकरण अष्टाध्यायी और उस पर कात्यायन-कृत वार्तिक (मौर्यकालीन) तथा पतंजलि-कृत महाभाष्य (शुंगकालीन, १७० पू० ई०) इसी काल की रचना हैं। वैदिक यज्ञ भी थोड़े बहुत होते थे, यद्यपि इनको मध्यदेश के शासकों तथा अन्य धनी लोगों की संरक्षिता नहीं मिल पाती थी। यह सत्य है कि बौद्ध सुधार के बाद वैदिक धर्म दुबारा मध्यदेश की जनता के धर्म के रूप में नहीं लौट सका, किंतु बौद्ध सुधार भी अपने मूल-रूप में यहां बहुत समय तक नहीं टिक सका। वैदिक धर्म और बौद्ध सुधार के आवश्यक अंगों का समावेश करके अगले काल में वैष्णव-धर्म ने इन दोनों को स्थानापन्न कर दिया। साधारण ब्राह्मण जनता को भी वैष्णवधर्म की संरक्षिता ग्रहण करने में ही अपना हित दिखलाई पड़ा। आज भी मध्यदेश की जनता धर्म की दृष्टि से प्रधानतया वैष्णव-संप्रदायों के अंतर्गत ही रक्खी जायगी। वैष्णव-संप्रदायों के बाद यदि कोई महत्व रखते हैं तो वे शैव-संप्रदाय हैं, वैदिक अथवा बौद्धधर्म नहीं। जैन सुधार के अवशेष अवश्य अभी बाक़ी हैं।

नवीन बौद्ध और जैन प्राकृत साहित्यों के विकास के साथ-साथ वैदिक और आर्ष साहित्य की परंपरा भी इस काल में चलती रही। हम देख चुके हैं कि अधिकांश श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्म-सूत्र और दर्शनसूत्र वास्तव में इस काल की ही रचना हैं। साहित्य के क्षेत्र में सूत्र-शैली के विकास का श्रेय इस काल को ही प्राप्त है। पाणिनि का प्रसिद्ध संस्कृत व्याकरण और उस पर पतंजलि कृत महाभाष्य (१७० पू० ई०) भी इसी काल से संबंध रखनेवाली रचनाएं हैं। रामायण और महाभारत के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथों को भी निश्चित रूप इसी काल में मिला। महाभारत के अंतर्गत भगवद्गीता को भी निश्चित रूप इसी काल में प्राप्त हुआ। कुछ मूल पुराण भी निर्मित हो चुके थे, यद्यपि इनमें विशेष परिवर्द्धन और परिवर्तन अगले काल में हुआ।

भाषा की दृष्टि से वैदिक भाषा के परिष्कृत रूप संस्कृत का विकास इसी काल में हुआ। परंपरागत साहित्य इसी प्रारंभिक संस्कृत भाषा में है। साथ में हम यह देख चुके हैं कि दो साहि-त्यिक प्राकृतें, अर्थात् पाली तथा अर्धमागधी इस काल में जनता तथा शासन दोनों के ही बीच चलती थीं। अशोक के शिलालेखों से प्राकृत भाषाओं के प्रादेशिक भेद का भी हमें पता लगता है। मध्यदेश की साहित्यिक प्राकृत भाषा से उत्तरापथ और दक्षिण की प्राकृतों का रूप कुछ भिन्न था।

लिपि के प्रथम उदाहरण भी इसी काल में प्रथम बार मिलते हैं। उत्तरापथ को छोड़ कर समस्त मौर्य-साम्राज्य की राजलिपि ब्राह्मी थी। उत्तरापथ में खरोष्ठी का चलन था।

६. प्रथम साम्राज्यकालीन शासनव्यवस्था तथा जीवन

मध्यदेश के प्रथम साम्राज्य की चरम उत्कर्ष की अवस्था के समय की शासन-प्रणाली के हमें पूर्ण विस्तार कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मैगस्थनीज की इंडिया और सम्राट् अशोक के शिलालेखों के द्वारा प्राप्त हैं। राज्यव्यवस्था का जटिल हो जाना स्वाभाविक था। कौटिल्य के अनुसार साम्राज्य के अंतर्गत भिन्न-भिन्न जनपदों अथवा जनपद-चक्रों के अनुशासन के लिए राजा की ओर से महामात्य (गवर्नर) नियुक्त थे। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक जनपद साम्राज्य के प्रांत के रूप में अपना पृथक् अस्तित्व अब भी रखता था। प्रत्येक जनपद के अपने धर्म, समय, व्यवहार और चरित्र थे। इन नियमों का संचालन साम्राज्य की राज्यव्यवस्था का कर्तव्य था। विशेष महत्व के जनपदों पर महामात्यों के साथ राजकुमार भी रख दिये जाते थे। जनपदों के अंतर्गत छोटे प्रदेशों के शासक भी महामात्य कहलाते थे। पाँच बड़े मंडलों की राजधानियों में, जिनमें से प्रत्येक के नीचे कई जनपद रहते होंगे, राजकुमार महामात्यों अथवा अमात्यों की सहायता से अनुशासन करते थे। महामात्यों के नीचे युत्, राजुक, प्रादेशिक आदि छोटे अधिकारी होते थे।

साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में स्वयं सम्राट् मंत्रिमंडल और मंत्रिपरिषद् की सहायता से साम्राज्य की राज्यव्यवस्था का संचालन करते थे। मंत्रिमंडल में केवल तीन-चार मंत्री होते थे, किंतु मंत्रिपरिषद् में १२, १६ अथवा २० तक पार्षद होते थे। परिषद् के कदाचित् कुछ पौर-जानपदों के प्रतिनिधि होते थे और कुछ सम्राट् द्वारा चुने हुए विशेषज्ञ। परिषद् कदाचित् जनपदकालीन सभा की स्थानापन्न थी।

बलि-प्रग्रह (कर-वसूल) करने का विभाग प्रत्येक जनपद में अलग ही था। इस विभाग का मुख्य अधिकारी समाहर्ता (कलेक्टर) कहलाता था। समाहर्ता के नीचे चौथाई जनपद पर स्थानिक (डिप्टी कलेक्टर) और फिर ५ या २० गाँवों पर एक गोप (क़ानूनगो) होता था। गोपों और स्थानिकों के स्थानों (इलाक़ा या थाना) में बलिप्रग्रह करनेवाला अधिकारी प्रदेष्टा (तहसीलदार) कहलाता था। प्रदेष्टा कार्य भी सुनता था, अर्थात् मुकदमा भी करता था। कंटकशोधन या फ़ौजदारी के मुकदमें तीन प्रदेष्टा या तीन अमात्य मिल कर करते थे। दीवानी की कचहरी में तीन धर्मस्थ या अमात्य बैठते थे। दंडव्यवस्था बहुत कड़ी थी।

साम्राज्य की विशाल सेना के प्रबंध के लिए पैदल, सवार, रथ, हाथी, नौसेना और रसद के छः अलग-अलग विभाग थे। मगध की सेना शिशुनाग और नंद-शासकों के समय में ही काफ़ी बड़ी हो गई थी। सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य के समय में यह और भी बढ़ गई थी और इसमें ६,००,००० पैदल, ३०,००० सवार, ६,००० हाथी, और ८,००० रथ थे। एक-एक हाथी पर तीन-तीन तीर

चलानेवाले और प्रत्येक रथ पर दो धनुर्धर होते थे। मौर्य-साम्राज्य के गुप्तचर-विभाग का भी विस्तृत वर्णन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है।[1]

यहां यह स्मरण दिलाना आवश्यक है कि मध्यदेश का यह साम्राज्य आगे के विदेशी साम्राज्यों की श्रेणी में नहीं रक्खा जाना चाहिए। यह सत्य है कि प्रत्येक जनपद का अब अपना पृथक् राजा नहीं रह गया था, किंतु शासक अथवा सम्राट् एक पड़ोसी जनपद का अपने ही वंश, धर्म, भाषा और संस्कृति का होता था अतः शासित और शासकों में बिल्कुल भी अंतर का अनुभव नहीं होता था। संस्कृति की यह समानता केवल मध्यदेश तक ही नहीं सीमित थी वल्कि संपूर्ण आर्यावर्त और भारतवर्ष या जंबूद्वीप तक फैल चुकी थी। साम्राज्य-प्रणाली की विशेष कठिनाई तब प्रारंभ हुई जब शासक अपने से भिन्न भाषा, धर्म और संस्कृति रखने वाली जनता को जीत कर उन पर शासन करने लगे। यह परिस्थिति अत्यंत अस्वाभाविक होती है और अगणित जटिलताएं उत्पन्न करती है। प्राचीन स्वदेशी साम्राज्य तो राजनीति के क्षेत्र में एक प्रकार के स्वाभाविक विकास मात्र थे।

सुसंगठित साम्राज्य के फलस्वरूप समाज के प्रत्येक विभाग में व्यवस्था और असाधारण समृद्धि के लक्षण हम इस समय पाते हैं। इसके मूल में विश् अर्थात् आर्य जनता का शिल्प तथा व्यवसाय की दृष्टि से संगठन था। साम्राज्य की आर्थिक शक्ति भी इस पर निर्भर थी। प्रत्येक जनपद या नगर के एक व्यवसायवाले व्यक्तियों का संगठन श्रेणि कहलाता था। भिन्न व्यवसाय वाले लोगों के सामूहिक संगठन को निगम या पूग कहते थे। एक निगम में अनेक श्रेणियां रह सकती थीं। इन व्यवसायिक संगठनों का प्रभाव देश की राज्यव्यवस्था पर भी काफ़ी था। अपने संगठन के व्यक्तियों के लिए क़ानून बनाने तथा दंड आदि देने का अधिकार भी इन संगठनों को प्राप्त था। वर्तमान समय की पंचायतें इन्हीं का परिवर्तित रूप हैं।

बौद्ध आदि धार्मिक संघों के प्रबंध का सिद्धांत भी इन्हीं से मिलता-जुलता था। "बौद्ध संघों के अंदर विचार करने की परिपाटी खूब परिष्कृत थी। सदस्यों को सभा में तरतीबवार बैठाने के लिए एक विशेष अधिकारी, आसन पञ्ञापक, होता था। निश्चित कोरम की उपस्थिति (गणपूर्ति) में कार्य होता था। प्रस्ताव रखने (कम्मवाचा, कर्मवचन) की निश्चित विधि थी। प्रत्येक प्रस्ताव (प्रतिज्ञा) की ज्ञप्ति (ञत्ति, सूचना) विशेष निश्चित ढंग से एक बार (ञत्ति दुतीय कम्म में) या तीन बार (ञत्तिचतुत्थ कम्म में) दी जाती, और वैसा न करने से वह प्रस्ताव ग़ैरक़ानूनी (अधम्म) होता। फिर विधिवत् सम्मति (छंद) लेने की प्रथा थी। मतभेद की दशा में बहुमत से फ़ैसला करने (ये-भुय्यसिकम्, ये भूयसीयकम्) की रीति थी। सम्मति प्रकट (विवटकम्) रूप में, कान में फुसफुसा कर (सकण्णजप्पकम्) तथा गुप्त (गल्हकम्) रूप से दी जा सकती। गुप्त सम्मति (गूल्हक छंद) लेने के लिए रंगीन शलाकाएं होतीं और सम्मति गिननेवाला (सलाका-गाहापक, शलाका-ग्राहक) एक अधिकारी होता। अंत में अधिक विवादग्रस्त विषयों

[1] जयचंद : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग २, पृ० १७

को उब्बहिका (उद्वहिका, जूरी) के सिपुर्द करने की पद्धति थी। बौद्धसंघ ने ये सब परिपाटियां प्रायः अपने समकालीन आर्थिक और राजनैतिक समूहों और संघों की सभाओं से ही ली थीं और इसलिए हम इनसे उक्त समूहों और संघों की कार्यप्रणाली को समझ सकते हैं।"[१]

जायसवाल के मत के अनुसार जिस प्रकार श्रेणी और निगम आदि अपने सीमित संगठनों का संचालन करते थे उसी प्रकार संपूर्ण राजधानी या पुरी का संगठन पौर और शेष जनपद का संगठन जानपद कहलाता था। यह पौर-जानपद मिलकर समस्त राष्ट्र के शासन के संबंध में राजा को परामर्श देनेवाली देश की प्रमुख संस्था थी और इसका वही स्थान था जैसा कि जनपदकाल में समिति का था।

देश की खानें साम्राज्य के अधिकार में थीं और उनकी खुदाई आदि का प्रबंध राज्य की ओर से होता था। विदेशों के साथ व्यापार के लिए जहाज़ चलते थे और इनकी रक्षा का भार राज्य पर था। ऋण तथा क्रय-विक्रय के संबंध में विस्तृत नियम अर्थशास्त्र में सुरक्षित हैं। दासों के संबंध में भी निश्चित नियम मिलते हैं।

कला का विकास भी साम्राज्यकाल की एक विशेषता थी। अशोक के स्तंभ स्वयं कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। देश में वनों के अधिक होने के कारण मकान अब भी प्रायः लकड़ी के बनते थे। पाटलिपुत्र की चहारदीवारी भी लकड़ी की थी जिसके अवशेष पटना के पास मिले हैं। स्तूप, चैत्य, विहार भी प्रायः प्रारंभ में लकड़ी के बनते थे, बाद को पत्थर और ईंट का उपयोग भी होने लगा। गुफा-मंदिरों का प्रारंभ इस काल की सब से बड़ी विशेषता थी।

इस समय समाजों (नाटक आदि के खेलों) तथा प्रेक्षागारों का भी काफ़ी रिवाज था।

इस काल के धार्मिक तथा,राजनीतिक आदर्श और सामाजिक संस्कृति की भावनाओं की चरम सीमा हम सम्राट् अशोक के शिलालेखों के रूपमें पाते हैं। इनके अधिकांश भाग निम्नलिखित हैं:-

१. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह धर्मलिपि लिखवाई। इस राज्य में कोई जीव मार कर होम न करे और न समाज (गोष्ठी) करे। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में अनेक दोषों को देखता है, यद्यपि कुछ ऐसे समाज हैं जो देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा को अच्छे लगते हैं। पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के रसोईघर में शोरबा बनाने के लिए प्रतिदिन हजारों जीव मारे जाते थे, पर आज से जब यह धर्मलिपि लिखी गई केवल तीन जीव, अर्थात् दो मोर और एक हिरन मारे जाते हैं, इनमें भी हिरन का मारना नियत नहीं है। भविष्यत् में ये तीन जीव भी नहीं मारे जायँगे।

२. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के जीते हुए सब स्थानों में तथा और जो सीमांत प्रदेश हैं, जैसे चोल, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी तक के प्रदेशों में तथा अंतियोक नाम के यवन राजा और जो अन्य राजा उसके सामंत हैं उनके यहां सब स्थानों में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबंध किया है——एक मनुष्यों की चिकित्सा

---

[१] जयचंद्र : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग २, पृ० ४४४

और दूसरी पशुओं की चिकित्सा। मनुष्यों और पशुओं की उपयोगी औषधियां जहां-जहां नहीं हैं वहां-वहां वे लाई गईं और लगाई गईं। इसी प्रकार मनुष्य तथा पशुओं के उपयोग के लिए जहां-जहां फल और मूल नहीं हैं वहां-वहां वे लाये गये और लगाये गये, और मार्गों में कुंएं खुदवाये गये तथा पेड़ लगवाये गये।

३. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा है कि अभिषिक्त होने के बारहवें वर्ष मैंने यह आज्ञा दी कि मेरे जीते हुए सब राज्य में युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक प्रति पाँचवें वर्ष जैसे दूसरे शासन-संबंधी कामों के लिए दौरा करते हैं वैसे इस धर्मानुशासन के लिए भी दौरा करें, कि माता-पिता की और मित्रों, परिचित लोगों, संबंधियों, ब्राह्मण और श्रमणों की सेवा करना अच्छा है, दान देना अच्छा है, जीवों का न मारना अच्छा है, थोड़ा व्यय करना और थोड़ा बटोरना अच्छा है। परिषदें भी अधीनस्थ अधिकारियों को धर्मानुशासन के उद्देश्य और अर्थ के अनुसार जाँच पड़ताल करने की आज्ञा देंगी।

५. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने इस प्रकार कहा है। कल्याण करना कठिन है। जो कल्याण करता है वह कठिन काम करता है। सो मैंने बहुत कल्याण किया। इसलिए यदि मेरे पुत्र, पौत्र तथा उनसे आगे जो वंशज होंगे वे कल्पांत तक वैसा अनुसरण करेंगे तो वे सुकृत करेंगे। जो इस आज्ञा के अंशमात्र में भी हानि पहुचावेंगे वे बुरा काम करेंगे, क्योंकि पाप सहज में फैलता है।

बहुत काल बीता कि धर्ममहामात्र नहीं नियत हुए। इसलिए मैंने अभिषक्त होने के तेरहवें वर्ष धर्ममहामात्र नियत किए। वे सब धर्मों के लिए नियुक्त हैं। वे धर्म की देखभाल और धर्म की वृद्धि तथा धर्मानुयायी लोगों के हित और सुख के लिए हैं। वे यवनों, कंबोजों, गांधारों, राष्ट्रिकों, पैठनिकों तथा पश्चिमी सीमाप्रांत पर रहनेवाले दूसरे लोगों के, वेतनधारी नौकरों, ब्राह्मणों और धनवानों, अनाथों और बुड्ढों के हित और सुख तथा अधीनस्थ धर्माधिकारियों से बाधा न पहुँचने के लिए नियुक्त हैं। वे क़ैद करने और प्राणदंड देने को नियंत्रित करने, बाधा को दूर करने और छुड़ाने के लिए नियुक्त हैं। इन पदों पर ऐसे ही लोग नियत किये गये हैं जो बालबच्चों वाले हैं। या जो राज्याधिकार कर चुके हैं या जो बड़े-बूढ़े हैं।

६. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने इस प्रकार कहा है। बहुत दिन बीत गये कि सब समय में राज्य का कार्य और राजा के सामने प्रजा की विज्ञप्ति नहीं होती, इसलिए मैंने इस प्रकार प्रबंध किया कि सब समय में, चाहे मैं खाता होऊँ, चाहे महल में होऊँ, चाहे निज महल में, चाहे टहलने में, चाहे डाक से लंबी यात्रा में, और चाहे बगीचे में, सर्वत्र प्रतिवेदक प्रजा के कार्य की मुझे सूचना दें। मैं सब जगह प्रजा का कार्य करूँगा। दान देने की या सुनाये जाने की जो आज्ञा मैं मौखिक दूं, या अत्यंत आवश्यकता पड़ने पर महामात्र जिस विषय में निश्चय करें उसके विषय में संदेह या मतभेद और पुर्नविचार होने पर मंत्रि-परिषद् बिना विलंब के सब जगह और सब समय मुझे सूचित करें।

इस प्रकार मैंने आज्ञा दी, क्योंकि उद्योग करने में और राजकार्य चलाने में मुझे संतोष नहीं होता। सब लोगों की भलाई करना ही मैंने कर्तव्य माना है, उस सर्वलोकहित का मूल उद्योग और राजकार्य-संचालन है। सब लोगों की भलाई के अतिरिक्त मुझे अधिक करणीय काम कोई नहीं है।

७. देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब धर्मवाले सर्वत्र बसें। वे सब ही संयम और भावशुद्धि चाहते हैं। मनुष्यों में ऊँच-नीच विचार और ऊँच-नीच अनुराग होते हैं। वे अपने-अपने धर्म का पूरी तरह पालन करें अथवा उसका कोई अंश पालन करें। जिसके पास देने को बहुत दान नहीं है उसमें भी संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता और दृढभक्ति तो नित्य रह सकते हैं।

८. बहुत काल बीत गया कि देवताओं के प्रिय राजा लोग विहार यात्रा के लिए निकलते थे। इस यात्रा में शिकार तथा वैसी ही मन बहलानेवाली दूसरी बातें होती थीं। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के दसवें वर्ष में सम्यक् ज्ञान के मार्ग पर पैर धरा, इससे यह धर्मयात्रा चली। इसमें ये बातें होती हैं श्रमणों और ब्राह्मणों के दर्शन, उन्हें दान, बुड्ढों का दर्शन, सोने का वितरण, जनपद के लोगों का दर्शन, धर्म का उपदेश और धर्म-विषय की जिज्ञासा। उस पहले की विहारयात्रा से यह धर्मयात्रा बहुत ही आनंददायक होती है।

९. देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है। लोग कम या अधिक मंगल-कार्य करते हैं। बीमारी, बुलावे, विवाह, पुत्रजन्म, परदेश जाने तथा ऐसे ही दूसरे अवसरों पर मनुष्य बहुत मंगल-कार्य करते हैं। ऐसे अवसरों पर स्त्रियां अनेक प्रकार के छोटे और निरर्थक मंगल-कार्य करती हैं। ये मंगलकार्य अवश्य करने चाहिए किंतु इनका फल थोड़ा होता है। इस दूसरे धर्ममंगल से तो निश्चय बड़ा फल होता है। उस धर्ममंगल में ये बाते हैं कि दास और नौकरों के साथ उचित व्यवहार, गुरुजनों की पूजा, प्राणियों पर दया, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान। ये तथा ऐसे ही दूसरे कार्य धर्ममंगल के कार्य हैं। इसलिए पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र और परिचित यहाँ तक कि पड़ोसी भी यह उपदेश करें कि जब तक अर्थ की सिद्धि न हो तब तक या सिद्धि होने पर भी यह धर्ममंगल करना उत्तम है, कर्तव्य है।

११. देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहता है। जैसा धर्म का उपदेश, धर्म का व्यवहार, धर्म का लेन-देन, और धर्म का संबंध है वैसा और कोई दान नहीं है। इसमें ये बातें होती हैं—दास और नौकरों से अच्छा बरताव, माता-पिता की सेवा, मित्र-संबंधी, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान तथा प्राणों की अहिंसा। पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र, संबंधी, यहाँतक कि पड़ोसी तक से यह कहना चाहिए कि यही दान उत्तम है, यही कर्तव्य है। ऐसा करता हुआ मनुष्य इस लोक की सब बातों को सिद्ध करता है और उसी धर्मदान से परलोक में अनंत पुण्य को उत्पन्न करता है।

१२. देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मवालों का, चाहे वे त्यागी हों चाहे गृहस्थ, दान और अनेक प्रकार की पूजा से सत्कार करता है। दान या पूजा को देवताओं का प्रिय उतना

नहीं मानता जितना यह कि धर्मवालों की सारवृद्धि हो। सारवृद्धि कई प्रकार की होती है। इसका मूल वाणी का संयम है कि जिसमें अपने धर्मवालों का अति आदर और दूसरे धर्मवालों की निंदा न हो और बिना प्रयोजन उनकी ओर ओछापन न दिखाया जाय। अवसर-अवसर पर भिन्न-भिन्न रीति से दूसरे धर्मवाले भी आदर के योग्य हैं। जो ऐसा करता है वह अपने धर्म की निश्चय उन्नति करता है और साथ ही दूसरे धर्मवालों का भी उपकार करता है। जो इसके विपरीत करता है वह अपने धर्म को क्षीण और परधर्म का अपकार करता है, इसलिए आपस का मेलजोल ही अच्छा है कि लोग एक-दूसरे के धर्म को सुनें और उसकी शुश्रूषा करें।

१३. अभिषिक्त होने के आठवें वर्ष देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंगों को जीता। यहां से डेढ़ लाख प्राणी बाहर ले जाए गए, एक लाख घायल हुए और उससे भी अधिक मारे गए। इसके अनंतर जीते हुए कलिंगों में देवताओं के प्रिय का खूब धर्मविस्तार, धर्मकामना और धर्मानुशिष्टि हुई। इसपर कलिंगों को जीतनेवाले देवताओं के प्रिय को बड़ा पछतावा होता है, क्योंकि जहां लोगों का वध, भरण या देशनिकाला हो उस देश को मैं जीतने पर भी नहीं जीता हुआ मानता हूं। यह वध आदि देवताओं के प्रिय को अत्यंत दुखद और भारी जान पड़ता है।

यह देवताओं के प्रिय को और भी भारी जान पड़ता है क्योंकि वहां सर्वत्र ब्राह्मण, श्रमण तथा दूसरे धर्मवाले और गृहस्थ रहते हैं जिनका सबसे पहले भरण-पोषण विहित है, जिनमें माता-पिता की शुश्रूषा, गुरु की शुश्रूषा, मित्र, परिचित, सहायक, संबंधी तथा नौकर-चाकरों का उचित आदर और उनकी ओर दृढ भक्ति का विधान है। ऐसे लोगों का वहां घात, वध, या दुख से रहने वालों का देशनिकाला होता है। उनके मित्रों, परिचितों, सहायकों तथा कुटुंबियों को दुःख होता है। यह दशा सब मनुष्यों की है, पर देवताओं के प्रिय को यह अधिक दुखद जान पड़ती है।

कोई ऐसा जनपद नहीं है जहां ब्राह्मण और श्रमण आदि के अनंत संप्रदाय न हों। ऐसा कोई जनपद भी नहीं है जिसमें मनुष्यों की किसी न किसी धर्म में प्रीति न हो। अतः जितने मनुष्य कलिंग-विजयप्राप्ति के समय आहत हुए, मारे गए और बाहर निकाले गए उनका सौवां अथवा हज़ारवां भाग भी यदि आहत होता, मारा जाता या निकाला जाता तो आज देवताओं के प्रिय को भारी दुःख देने वाला होता। देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार करता है वह भी क्षमा के योग्य है, यदि वह क्षमा किया जा सके। जो बननिवासी देवताओं के प्रिय के विजित देश में हैं उनको भी वह मनाता है और उनका ध्यान रखता है कि जिसमें देवताओं के प्रिय को पछतावा न हो। वे अपने कर्मों पर लज्जित हों और नष्ट न हों। देवताओं का प्रिय सब जीवों की अक्षति, संयम, समचर्या तथा प्रसन्नता चाहता है। जो धर्म की विजय है वही देवताओं के प्रिय की मुख्य विजय है।

मध्यदेश की आर्य जनता के अंतर्गत ब्राह्मण और क्षत्रिय जन्म के आधार पर दो भिन्न वर्ण बन चुके थे, किंतु इस प्रवृति का विरोध हम अब भी पाते हैं। बौद्ध और जैन इन दोनों सुधारों ने इस हानिकर सामाजिक रूढ़ि को तोड़ने का यत्न किया किंतु उन्हें स्थायी सफलता नहीं मिल

सकी। सच्चा ब्राह्मणत्व तथा क्षत्रियत्व कर्म में है, जन्म में नहीं, इस पर गौतम बुद्ध ने बराबर बल दिया है। बौद्ध और जैन सुधारों के फलस्वरूप भिक्षुओं का एक अलग ही वर्ग समाज के अंतर्गत हो गया था।

वैश्यवर्ग के अंतर्गत अभी भी व्यवसायों के आधार पर पृथक् जातियां नहीं बनी थीं, यद्यपि ऊँचे व्यवसाय और नीचे व्यवसाय की भावना का प्रारंभ हो गया था। उदाहरण के लिए कुम्हार, नाई, चमार आदि के पेशे नीचे, तथा खेती, गोपालन तथा वाणिज्य के पेशे ऊँचे समझे जाते थे। नसल के भिन्न होने के कारण शूद्रों का आर्य सामाजिक संगठन के अंतर्गत स्थान नहीं था। भोजन के संबंध में आर्यों में वर्णमूलक कोई प्रतिबंध नहीं था। किन्तु शूद्र के यहां आर्य भोजन न करे इस संबंध में निषेध हमें मिलने लगते हैं। चांडाल तथा गंदे व्यवसायों से आजीविका चलानेवाले लोगों के यहां भी भोजन न करना कदाचित् अपवित्रता के कारण निषिद्ध था।

भिन्न-भिन्न जनपदों और सामाजिक वर्गों में अनेक प्रकार की विवाह प्रथाएं प्रचलित थीं। किंतु विवाह लड़के-लड़की के बालिग होने पर ही होता था। कुछ वर्गों में तलाक़ (मोक्ष) की प्रथा होने के कारण इस संबंध में भी निश्चित नियम मिलते हैं। स्त्री को दाय का अधिकार था तथा उसका स्थान समाज में ऊँचा था। राजा तथा बड़े लोग एक से अधिक विवाह भी कर लेते थे किंतु यह साधारण रिवाज नहीं था। विधवा-विवाह तथा नियोग की प्रथा भी असाधारण नियम के समान मौजूद थी। बौद्ध तथा जैन सुधारों के वैराग्य तथा तपश्चर्या के आदर्श में स्त्रियों के बाधक होने के कारण इनको नीची दृष्टि से देखा जाने लगा था।

शैली और विषय दोनों ही दृष्टिकोणों से पाली बौद्धसाहित्य अत्यंत रोचक है और मध्यदेश के समकालीन जीवन पर विशेष प्रकाश डालता है। जनपदकालीन साहित्य का संबंध राजन्य तथा ब्राह्मणवर्ग से विशेष था। पाली बौद्धसाहित्य से मध्यमवर्ग की जनता के रोचक चित्र प्राप्त होते हैं। यह अवश्य है कि जनता के जीवन का जितना क्रमबद्ध तथा पूर्ण विश्लेषण वैदिक साहित्य में मिलता है वैसा पाली बौद्धसाहित्य में नहीं मिलता। वह अत्यंत एकांगी है। गौतम बुद्ध द्वारा प्रचारित नैतिक आदर्शों तथा बौद्ध भिक्षुओं के आचरण संबंधी नियमों से इसका विशेष संबंध है। संयोग से उस समय की सामाजिक अवस्था के संबंध में भी उल्लेख आये हैं इसका नियमन करना उसका उद्देश्य नहीं था। नीचे पाली बौद्धसाहित्य से कुछ रोचक उद्धरण दिए जाते हैं। इन कथाओं के रूप में हमें अनेक उपदेश भी मिलते हैं।

सोण कोटिबीस की प्रव्रज्या

जिस समय बुद्ध भगवान राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते थे और मगधराज सेनिय बिंबसार अस्सी हजार गाँवों के स्वामी हो राज्य करते थे। उस समय चंपा में बीस करोड़ के धनी सोण नामक श्रेष्ठिपुत्र रहते थे। एक बार मगधराज ने सोण कोटिबीस को राजगृह बुलवाया और सदुपदेश के लिए गौतम बुद्ध के पास जाने की सलाह दी। गौतम बुद्ध के उपदेश का सोण कोटिबीस पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और अत्यंत उद्यम-परायण

जीवन व्यतीत करना प्रारंभ किया। किंतु कुछ दिनों के बाद भिक्षुओं के कठोर जीवन से घबरा कर कोटिबीस गृहस्थ जीवन में लौट जाने का विचार करने लगे। इसकी सूचना बुद्ध भगवान को मिली।

तब भगवान जहां आयुष्मान सोण का विहार था वहां गए। जाकर बिछे आसन पर बैठे। आयुष्मान सोण भी भगवान को अभिवादन कर एक ओर बैठे। एक ओर बैठे आयुष्मान सोण से भगवान ने यह कहा :

क्या सोण एकांत में विचार मग्न हो बैठे तेरे मन में यह विचार पैदा हुआ, भगवान के जितने उद्योगपरायण हो विहरने वाले शिष्य हैं मैं उनमें से एक हूं तो भी मेरा मन चित्त की दुर्बलताओं को छोड़ कर मुक्त नहीं हो रहा है। मेरे घर में भोग सामग्री है। वहां रहते मैं भोगों को भी भोग सकता हूं और पुण्य भी कर सकता हूं। क्यों न मैं लौट कर गृहस्थ हो भोगों का उपभोग करूं और पुण्य भी करूं ?

हां, भंते।

तो क्या मानता है, सोण, क्या तू पहले गृहस्थ होते समय वीणा बजाने में चतुर था ?

हां, भंते।

तो क्या मानता है, सोण, जब तेरी वीणा के तार बहुत जोर से खिंचे होते थे तो क्या उस समय तेरी वीणा स्वरवाली होती थी, काम लायक़ होती थी ?

नहीं, भंते।

तो क्या कारण है, सोण, जब तेरी वीणा के तार अत्यंत ढीले होते थे क्या उस समय तेरी वीणा स्वरवाली होती थी, काम लायक़ होती थी ?

नहीं, भंते।

तो क्या मानता है, सोण, तब तेरी वीणा के तार न बहुत जोर से खिंचे होते थे, न अत्यंत ढीले होते थे क्या उस समय तेरी वीणा स्वरवाली होती थी, काम लायक़ होती थी ?

हां, भंते।

इसी प्रकार, सोण, अत्यधिक उद्योग-परायणता औद्धत्य को उत्पन्न करती है, अत्यंत शिथिलता शारीरिक आलस्य उत्पन्न करती है। इसलिए सोण, उद्योग करने में समता को ग्रहण कर, इंद्रियों के संबंध में समता ग्रहण कर और वहां कारण को ग्रहण कर।

अच्छा, भंते। ऐसा कह आयुष्मान सोण ने भगवान को उत्तर दिया।

तब भगवान आयुष्मान सोण को यह उपदेश कर जैसे बलवान पुरुष बिना प्रयास समेटी बाँह को फैलाए और फैलाई बाँह को समेटे वैसे ही सीतवन में आयुष्मान सोण के सामने अंतर्धान हो गृध्रकूट में जाकर प्रकट हुए। तब आयुष्मान सोण ने दूसरे समय उद्योग करने में समता को ग्रहण किया, इंद्रियों के संबंध में समता को ग्रहण किया, और वहां कारण को ग्रहण किया। और आयुष्मान एकांत में प्रमादरहित, उद्योगयुक्त, आत्मनिग्रही हो विहरते अचिर में ही, जिसके लिए कुलपुत्र घर से बेघर हो प्रव्रजित होते हैं उस अनुपम ब्रह्मचर्य के अंत (निर्वाण) को इसी

जन्म में स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरने लगे। जन्मक्षय हो गया ब्रह्मचर्य-वास पूरा हो गया, करना था सो कर लिया और यहां कुछ करने को नहीं, यह जान लिया। और आयुष्मान सोण अर्हतों (जीवन-मुक्तों) में से एक हुए।

(विनय० महावग्ग ३, स्कंधक ५, १-२)

कट्ठहारि जातक

यह गाथा शास्ता ने जेतवन में विहार करते हुए वासभ खत्तिया (क्षत्रिया) की कथा के संबंध में कही।

महानाम शाक्य को नागमुंडा नामक दासी की कोख में लड़की उत्पन्न हुई। पीछे वह कोशल-नरेश की पटरानी हुई। उससे राजा को पुत्र हुआ। लेकिन राजा ने पूर्व में उसका दासी होना जान उसको तथा उसके पुत्र विडूडभ को स्थान से च्युत कर दिया। दोनों घर के भीतर ही रहते। शास्ता ने उस बात का पता पा, पाँच भिक्षुओं के साथ प्रातःकाल ही राजा के निवास पर जा बिछे आसन पर बैठ कर पूछा।

महाराज, वासभ खत्तिया कहां हैं?

राजा ने उसके संबंध में उक्त बात कही।

महाराज, वासव खत्तिया किसकी लड़की है?

भंते। महानाम की।

और यहां आकर वह किसे प्राप्त हुई?

भंते, मुझे।

महाराज, यह राजा की लड़की, राजा को प्राप्त हुई, राजा से ही इसे पुत्र हुआ, सो वह पुत्र किसलिए पिता के राज्य का अधिकारी नहीं। पूर्व समय में राजाओं ने लकड़हारिनी के मुहूर्त भर के सहवास से उसकी कोख में उत्पन्न पुत्र को भी राज्य दिया है।

राजा ने उस बात को भगवान से स्पष्ट कर कहते ही प्रार्थना की। भगवान ने पूर्व जन्म की छिपी हुई बात प्रकट की।

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त राजा बड़े समारोह के साथ उद्यान गया। वह वहां पुष्प-फलों की चाह से घूम रहा था। उसी समय उद्यान के वनखंड में गा-गा कर लकड़ी चुनती एक स्त्री को देख उस पर आसक्त हो उसने उससे सहवास किया। उसी क्षण बोधिसत्व ने उसकी कोख में प्रवेश किया। उसकी कोख वज्र से भरी गई की तरह भारी हो गई। उसने गर्भ स्थापित हुआ जान राजा से कहा। देव, मुझे गर्भ हो गया है। राजा ने अँगुली की अँगूठी देकर कहा। यदि लड़की हो तो इस अँगूठी को बेच कर अपनी लड़की को पालना, यदि लड़का हो तो अँगूठी के साथ उसे मेरे पास लाना। इतना कह कर चला गया। गर्भ परिपक्व होने पर उसने बोधिसत्व को जन्म दिया। बोधिसत्व के इधर-उधर दौड़-भाग कर क्रीड़ाभूमि में खेलते समय कोई-कोई उसके संबंध में कहते हैं, बिना बाप के ने हमें मारा। इसे सुन बोधिसत्व ने माता के पास जाकर पूछा

मा, मेरा पिता कौन है?

तात, तू वाराणसी-नरेश का पुत्र है।

अम्मा, क्या इसका कोई साक्षी है।

तात, राजा यदि लड़की हो तो अँगूठी को बेच कर अपनी लड़की को पालना, यदि लड़का हो तो अँगूठी के साथ उसे मेरे पास लाना कह कर अँगूठी दे गया है।

अम्मा, यदि ऐसा है तो मुझे क्यों पिता के पास नहीं ले चलती।

उसने पुत्र का विचार जान राजद्वार पर जा राजा को कहला भेजा और राजा के बुलाने पर राजा को प्रणाम कर कहा।

देव, यह तुम्हारा पुत्र है।

राजा ने पहचानते हुए भी लज्जा के मारे कहा, यह मेरा पुत्र नहीं है।

देव, यह अँगूठी है इसे पहिचानेंगे।

यह अँगूठी मेरी नहीं है।

देव, तो अब मेरे पास सत्यक्रिया के अतिरिक्त कोई दूसरा साक्षी नहीं है। यदि यह बालक आपसे पैदा हुआ है तो आकाश में ठहरे, नहीं तो भूमि पर गिरकर मर जाय। यह कह उसने बोधिसत्व को पैरों से पकड़ कर आकाश में फेंक दिया। बोधिसत्व ने आकाश में पल्थी मार बैठ मधुर स्वर से पितृधर्म कहते हुए यह गाथा कही।

पुत्तो त्याहं, महाराज, त्वम् मं पोस, जनाधिप।
अञ्ञेपि देवो पोसेति किंच देवो सकं पजं॥

महाराज, तुम्हारा पुत्र हूं जनाधिप, तुम मेरा पालन करो। देव, तुम तो औरों का भी पालन करते हो। फिर अपनी संतान की तो बात ही क्या?

राजा ने बोधिसत्व को आकाश में बैठे देख इस प्रकार धर्मोपदेश सुन हाथ पसार कर कहा। तात, आ मैं ही पालन करूँगा, मैं ही पालन करूँगा। और भी लोगों ने सहस्त्रों हाथ फैलाए। बोधिसत्व और किसी के हाथ में न उतरकर राजा के हाथ में उतरकर गोद में बैठे। राजा ने उन्हें उपराजा बना उसकी माता को पटरानी बनाया। पिता को मरने पर वह काष्ठवाहन राजा के नाम से धर्मपूर्वक राज्य का संचालन कर अपने कर्मानुसार परलोक को गया।

(जातक, वर्ग १, २)

मतक भत्त (श्राद्ध) जातक

इस गाथा को शास्ता ने जेतवन में विहार करते हुए श्राद्ध (मतक भत्त) के बारे में कहा था।

उस समय मनुष्य बहुत सी भेड़ बकरी आदि को मारकर मृत संबंधियों की याद में मतकभत्त करते थे। भिक्षुओं ने उन मनुष्यों को वैसा करते देख कर शास्ता से पूछा भंते, मनुष्य बहुत से प्राणियों की प्राणहानि कर श्राद्ध करते हैं। क्या, भंते, इससे ऐसा करनेवालों की उन्नति

हो सकती है? शास्ता ने कहा, भिक्षुओ, श्राद्ध करने के विचार से भी प्राणहानि करनेवालों की कुछ भी उन्नति नहीं है। पूर्व समय के पंडितों ने आकाश में बैठ धर्मोपदेश कर प्राणनाश के दोष दिखा सकल जंबूद्वीप-वासियों से इस कर्म को छुड़वा दिया था। अब वह बात पूर्वजन्मों में छिप जाने के कारण यह कर्म फिर प्रादुर्भूत हो गया। यह कह अतीत की कथा कही।

पूर्व जन्म में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय एक त्रिवेदस दिशा प्रमुख (लोकप्रसिद्ध) आचार्य ब्राह्मण ने श्राद्ध करने के विचार से एक भेंड़ मँगवा कर अपने शिष्यों को कहा। तात, इस भेंड़ को नदी पर ले जा, नहला, गले में माला डाल, पंचागुलियों का चिन्ह दे, सजा कर ले आओ। उन्होंने अच्छा कह स्वीकार कर उस भेंड़ को नदी पर ले जा, वहां नहला, सजा, नदी के किनारे पर रक्खा। वह भेंड़ अपने पूर्वजन्म का विचार कर, ऐसे दुख से मुक्त हो जाऊँगा सोच, हर्षित हो, घड़े के फूटने की तरह ज़ोर से हँसा और फिर यह ब्राह्मण मुझे मारकर जिस दुख को मैंने भोगा है उसे भोगेगा ऐसा सोच ब्राह्मण के प्रति करुणा का भाव उत्पन्न कर ज़ोर से रोया! उन ब्रह्मचारियों ने उनसे पूछा, सम्म भेंड़, तू ज़ोर से हँसा और रोया। किस कारण तू हँसा और किस कारण तू रोया? तुम यह बात मुझसे अपने आचार्य के पास ले जाकर पूछना। उन्होंने उसे ले जाकर यह बात अपने आचार्य से कही।

आचार्य ने उनकी बात सुन कर भेंड़ से पूछा। भेंड़, तू किसलिए हँसा, किसलिए रोया। भेंड़ ने पूर्वजन्म-स्मरणज्ञान से अपने पूर्वकर्म का स्मरण कर ब्राह्मण से कहा। ह ब्राह्मण, पूर्वजन्म में मैंने तेरे सदृश ही मंत्रपाठी ब्राह्मण हो श्राद्ध करूँगा ऐसा सोच एक भेंड़ मार कर मृतक भत्त दिया। सो मैंने उस एक भेंड़ मारने के कारण एक कम पाँच सौ योनियों में अपना शीश कटवाया। यह मेरा पाँचसौवां अंतिम जन्म है। आज मैं दुःख से मुक्त हो जाऊँगा ऐसा सोच हर्षित हुआ और इस कारण हँसा। और जो रोया सो यह सोच कर रोया कि मैं तो एक भेंड़ के मारने के कारण पाँच सौ जन्मों में अपना सीस कटा कर आज इस दुख से मुक्त हो जाऊँगा, लेकिन यह ब्राह्मण मुझे मार कर मेरी तरह पाँच सौ जन्मों तक सीस कटाने का दुख भोगेगा। सो तेरे प्रति करुणा से रोया। भेंड़, डर मत मैं तुझे नहीं मारूँगा। ब्राह्मण, क्या कहते हो? तुम चाहे मारो चाहे न मारो, मैं आज मरण-दुख से नहीं छूट सकता। भेंड़, मत डर मैं तेरी रक्षा करता हुआ तेरे ही साथ घूमूंगा। ब्राह्मण, तेरी रक्षा अल्पमात्र है। मेरा किया हुआ पाप बड़ा भारी है।

ब्राह्मण भेंड़ को मुक्त कर, इस भेंड़ को किसी को न मारने दूंगा ऐसा सोच, शिष्यों को ले, भेंड़ के साथ ही साथ घूमने लगा। भेंड़ ने छुटते ही एक पत्थर की शिला के पास उगी हुई झाड़ी की ओर गर्दन उठा कर पत्ते खाने शुरू किए। उसी क्षण उस पत्थर शिला पर बिजली गिरी। उसमें से पत्थर की एक फाँक ने छीज कर, भेंड़ की फैली हुई गर्दन पर गिर, गर्दन काट दी। जन-समूह एकत्र हो गया। उस समय बोधिसत्व उस जगह वृक्ष होकर उत्पन्न हुए थे। उन्होंने उन लोगों के देखते ही अपनी देवशक्ति से आकाश में पल्थी मार कर बैठ, अच्छा हो यदि ये प्राणी पापकर्म के इस प्रकार के फल को जानकर प्राणहानि न करें, ऐसा सोच मधुर स्वर में धर्मोपदेश करते हुए यह गाथा कही:

एव चे सत्ता जानेय्युं दुक्खायं जाति सम्भवो ।
न पाणो पाणिनं हंते पाणघाती हि सोचति ।।

यदि प्राणी यह समझ ले कि जाति (जन्म लेना) दुख है तो एक प्राणी दूसरे प्राणी की हत्या न करे। प्राणघात करनेवाले को चिंतित रहना पड़ता है।

इस प्रकार महासत्व ने निरय (नरक) भय का डर दिखा कर धर्मोपदेश किया। मनुष्य उस धर्मोपदेश को सुन निरय से भयभीत हो, प्राणातिपात अर्थात जीवहिंसा से हटे। बोधिसत्व उपदेश दे, मनुष्यों को शील (सदाचार) में प्रतिष्ठित कर, अपने कर्मानुसार परलोक गये। जन-समूह ने भी बोधिसत्व के उपदेशानुसार आचरण कर, दान देना आदि पुण्यकर्म कर, देवनगर को भर दिया।

(जातक, वर्ग २, १८)

नामसिद्धि जातक

यह गाथा शास्ता ने जेतवन में विहार करते हुए नामसिद्धि भिक्षुक के बारे में कही।

एक तरुण का नाम ही था पापक। श्रद्धा से बुद्ध शासन में प्रव्रजित हो गया। भिक्षु उसे बुलाते—आयुष्मान् पापक, आओ, आयुष्मान् पापक, ठहरो। वह सोचने लगा, दुनिया में पापक नाम बहुत बुरा है, मनहूस है, मैं दूसरा अच्छा रखवाऊँगा।

उसने आचार्य उपाध्यायों के पास जाकर कहा, भंते, मेरा नाम अमांगलिक है, मुझे दूसरा नाम दें।

उन्होंने कहा, आयुष्मान्, नाम प्रासप्तिमात्र है, बुलाने भर को है। नाम से कोई अर्थसिद्धि नहीं होती। जो नाम है उसी से संतुष्ट रह।

उसने बारबार आग्रह किया। भिक्षु-संघ में सभी जान गए कि इसे अच्छे नाम का आग्रह है।

एक दिन धर्मसभा में बैठे भिक्षुओं ने बातचीत चलाई, आयुष्मानो, अमुक भिक्षु नाम में सिद्धि समझता है और अच्छा नाम ढूँढता है।

तब शास्ता ने धर्मसभा में आ पूछा, भिक्षुओ, बैठे क्या बातचीत कर रहे थे। यह बातचीत।

भिक्षुओ, वह केवल अभी नामसिद्धिक नहीं हैं वह पहिले भी नाम में ही सिद्धि समझता था। यह कह पूर्वजन्म की कथा कही।

पूर्व समय में तक्षशिला में बोधिसत्व अनंत विख्यात आचार्य हुए। ये पाँच सौ शिष्यों को वेद पढ़ाते थे। उनके एक शिष्य का नाम था पापक। उसे लोग बुलाते, पापक, आ। पापक, जा।

उसने सोचा, मेरा नाम अमांगलिक है। मैं दूसरा नाम रखवाऊँगा।

वह आचार्य के पास जाकर बोला, आचार्य, मेरा नाम अमांगलिक है। मुझे दूसरा नाम दें।

आचार्य ने कहा, तात, जा देश-विदेश घूमकर जो तुझे अच्छा लगे ऐसा एक मांगलिक नाम ढूँढ कर ला। आने पर तेरा नाम बदलूंगा।

वह अच्छा कह रास्ते के लिए भोजन ले, निकल, एक गाँव से दूसरे गाँव घूमता हुआ एक नगर में पहुँचा। वहां जीवक नाम का एक आदमी मर गया था। उसे उसके रिश्तेदार जलाने के लिए ले जा रहे थे। उसने देख कर पूछा, इसका क्या नाम था?

इसका नाम जीवक था।

क्या जीवक भी मरता है?

जीवक भी मरता है, अजीवक भी। नाम तो पुकारने भर को होता है। मालूम होता है तू मूर्ख है।

यह बात सुन वह नाम के प्रति कुछ उदासीन हो नगर में गया। वहां एक दासी को उसके मालिक काम करके मज़दूरी न ला देने के कारण दरवाज़े पर बिठा कर रस्सी से पीट रहे थे। उस दासी का नाम था धनपाली? उसने गली में से गुज़रते हुए उसे पिटते देख कर पूछा। इसे क्यों पीट रहे हो।

यह मज़दूरी नहीं लाकर दे सक रही है।

इसका नाम क्या है?

इसका नाम है धनपाली।

नाम से धनपाली है तो मज़दूरीमात्र भी कमा कर नहीं ला दे सकती है।

धनपाली भी दरिद्र होती है, अधनपाली भी। नाम बुलाने भर को होता है। तू मूर्ख है।

वह नाम के प्रति कुछ और उदासीन हो नगर से निकला। रास्ते में उसने एक आदमी को देखा जो रास्ता भटक गया था। उसने उससे पूछा तुम क्या करते घूम रहे हो?

स्वामी, मैं रास्ता भूल गया हूं।

तुम्हारा नाम क्या है?

पंथक।

पंथक भी मार्ग भूलते हैं।

पंथक भी भूलते हैं और अपंथक भी भूलते हैं। नाम पुकारने भर को होता है। मालूम होता है तू मूर्ख है।

वह नाम के प्रति उदासीन होकर बोधिसत्व के पास गया। बोधिसत्व ने पूछा, क्यों तात, अपनी रुचि का नाम ढूँढ लाए?

आचार्य, जीवक भी मरते हैं, अजीवक भी। धनपाली भी दरिद्र होती है, अधनपाली भी। पंथक भी रास्ता भूलते हैं, अपंथक भी। नाम बुलाने भर को होता है। नाम में सिद्धि नहीं है। कर्म से ही सिद्धि होती है। मुझे दूसरे नाम की आवश्यकता नहीं। मेरा जो नाम है वही रहे।

बोधिसत्व ने उनके देखे और किए को मिला कर यह गाथा कही:

जीवकञ्च मतं दिस्वा धनपालिञ्च दुग्गतं
पंथकं च बने मूल्हं पापको पुनरागतो।

जीवक को मरा देख, धनपाली को दरिद्र देख, पंथ को जंगल में भटकता देख, पापक फिर लौट आया।

शास्ता ने यह पूर्वजन्म की कथा सुना, भिक्षुओ, यह केवल इसी जन्म में नाम सिद्धिक नहीं है, पहले भी नाम सिद्धिक रहा है कह, जातक को मिलाया।

(जातक, १० लित्तवर्ग, ९७)

दुम्मेघ जातक

यह गाथा बुद्ध ने जेतवन में विहार करते हुए लोकोपकार के बारे में कही।

पूर्व समय में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय, बोधिसत्व ने उस राजा की पटरानी की कोख में जन्म ग्रहण किया। माता की कोख से निकलने पर नाम ग्रहण के दिन उसका नाम ब्रह्मदत्त कुमार रक्खा गया। जब वह कुमार १६ वर्ष का हो गया तो उसने तक्षशिला जा, विद्या सीखकर, तीनों वेदों तथा अठारह विद्याओं में पूर्णता प्राप्त की। तब उसके पिता ने उसे उपराज बना दिया।

उस समय वाराणसी निवासी देवताओं के भक्त थे। वे देवताओं को नमस्कार करते थे और बहुत सी भेड़, बकरी, मुर्गे, सुअर आदि को मार नाना प्रकार के पुष्पगंधों तथा रक्त-मांस के साथ बलिकर्म करते थे।

बोधिसत्व ने सोचा इस समय लोग देवताओं की भक्ति में बहुत प्राणबध करते हैं। साधारण लोग अधिकांश अधर्म में ही नियुक्त हैं। मैं पिता के मरने पर राज्य प्राप्त कर किसी को बिना कष्ट दिए, प्राण-बध न करने दूँगा। उसने एक दिन रथ पर चढ़ कर नगर से निकल कर देखा कि एक बड़े भारी बरगद के वृक्ष के नीचे बहुत से लोग एकत्रित हुए हैं और उस वृक्ष में रहनेवाले देवता से पुत्र, पुत्री, यश, धन आदि जो चाहते हैं सो माँगते हैं। वह रथ से उतर कर उस वृक्ष के पास गया, गंध-पुष्प से उसकी पूजा की, जल से उसका अभिषेक किया और उसकी प्रदक्षिणा की। इस प्रकार उस देवता का भक्त बन उसे नमस्कार किया। फिर रथ पर चढ़ नगर में प्रविष्ट हुआ।

उस समय से इसी प्रकार बीच-बीच में वहां जाकर देवता की भक्त की तरह पूजा करता। कुछ समय के बाद पिता की मृत्यु होने पर उसने राज्यपद पर प्रतिष्ठित हो, चार अगतियों से बच, दस राजधर्मों से विरुद्ध न जा, धर्मपूर्वक राज्य करते हुए सोचा। मेरी इच्छा पूरी हुई, मैं राज्य पर प्रतिष्ठित हुआ। अब मैंने जो पहले एक बात सोची थी उसे पूरा करूँगा। यह सोच, अमात्यों तथा ब्राह्मण गृहपति आदि को एकत्रित करवा कर, उन्हें संबोधित किया, भो, क्या आप जानते हैं कि मुझे राज्य क्यों मिला।

देव, नहीं जानते हैं।

क्या मुझे कभी अमुक वटवृक्ष को गंध आदि से पूजते तथा हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए देखा है?

देव, देखा है।

उस समय मैंने मिन्नत मानी थी कि यदि मुझे राज्य मिलेगा तो मैं तुम्हारे निमित्त बलिकर्म करूँगा। मुझे यह राज्य इन्हीं देवता के प्रताप से मिला है, सो मैं अब इसका बलिकर्म करूँगा। तुम देर न करो, शीघ्र ही देवता के बलिकर्म की तैयारी करो।

देव, क्या क्या चीज़ें लें?

मैंने देवता की प्रार्थना करते हुए यह मिन्नत मानी थी कि जो मेरे राज्य में हिंसा आदि पाँच दुःशील कर्म तथा दस अकुशल कर्म में लगे रहते हैं उन्हें मार कर उनके आँत की वत्ति, रक्त, मांस आदि से बलिकर्म करूँगा। सो नगरवासी जान लें कि अब वह पाँच प्रकार तथा दस प्रकार के दुःशील कर्म करनेवाले एक हज़ार जनों को मरवा कर उनके हृदय मांस आदि लिवा कर उससे देवता का बलिकर्म करने का इच्छुक है। यह कह कर, जो अब से लगा कर दुःशील कर्मों में अनुरक्त रहेंगे उनके एक सहस्त्र जन मार कर यज्ञ कर के मिन्नत से मुक्त होऊँगा। इस अर्थ का प्रकाश करते हुए यह गाथा कही।

दुम्मेधानं सहस्सेन यञ्ञो मे उपयाचितो।
इदानि खो हं यजिस्सामि बहू अधम्मिको जनो॥

मैंने एक सहस्त्र दुर्बुद्धि की बलि देकर यज्ञ करने की मिन्नत मानी थी सो अब यज्ञ करूंगा, क्योंकि अधार्मिक जनता बहुत है।

अमात्यों ने बोधिसत्व का वचन सुन, देव, अच्छा, कह, बारह योजन की वाराणसी में मुनादी फिरवा दी। मुनादी की आज्ञा सुन कर एक भी दुःशील कर्म करने वाला न रहा। सो जब तक बोधिसत्व राज्य करते रहे तब तक एक आदमी भी पाँच व दस प्रकार के कुकर्मों में से किसी एक कर्म को भी करता न दिखाई दिया। इस प्रकार बोधिसत्व किसी एक भी आदमी को कष्ट न देकर समस्त राष्ट्रवासियों से सदाचार की रक्षा करवाते हुए, अपने आप भी दानादि पुण्य करते हुए, जीवन के अंत में अपनी परिषद् को ले, देवनगर की पूर्ति करते हुए परलोक को गए।

(जातक, वर्ग ५, ५०)

बक जातक

यह गाथा शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय चीवर बनानेवाले भिक्षु के बारे में कही।

एक जेतवन वासी भिक्षु चीवर-संबंधी काटना, रफ़ू करना, बिठाना तथा सीना आदि जो कृत्य हैं उन सबके करने में दक्ष था। अपने दक्षपन से वह चीवर बनाता था। इसलिए वह चीवर-वर्धक नाम से प्रसिद्ध हुआ। लेकिन यह क्या करता था। पुराने चिथड़ों में होशियारी का हाथ लगा, उनके मृदु सुंदर चीवर बना, रँगने के बाद उन्हें कलफ दे, शंख से रगड़, उज्वल मनोज्ञ करके रखता था। जो चीवर बनाना नहीं जानते थे वह भिक्षु नया कपड़ा लेकर उसके पास आते और कहते हम चीवर बनाना नहीं जानते, हमें चीवर बना दे। वह कहता, अबुसो, चीवर बना कर समाप्त करने में बहुत समय लगता है। मेरे पास बना बनाया चीवर पड़ा है, इस कपड़े को रख कर चीवर को ले जाओ। वह चीवर लाकर दिखाता। वह उसके रंग की तड़क-भड़क देख कर,

अंदर के बारे में कुछ न जानते हुए, पक्का है मान, वह चीवर ले और चीवरवर्धक को नया कपड़ा देकर चले जाते। थोड़ा मैला होने पर, गरम पानी से धोया जाने पर वह चीवर अपनी असलियत को दिखा देता। जहां-तहां पुरानापन दिखाई देने लगता। वे भिक्षु पछताते थे। इस प्रकार आने वालों को पुराने चिथड़ों से ठगने के कारण वह भिक्षु सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया। जैसे यह जेतवन में वैसे ही एक गाँव में एक और चीवरवर्धक भिक्षु संसार को ठगता था। उसे मिलनेवाले भिक्षुओं ने कहा, भंते, जेतवन में एक चीवरवर्धक भिक्षु इस प्रकार संसार को ठगता है।

उस भिक्षु के मन में हुआ, मैं उस जेतवासी भिक्षु को ठगूं। सो वह चीथड़ों का अच्छा चीवर बना कर, सुंदर रंग दे, रंग कर, उसे पहन, जेतवन गया। दूसरे ने उसे देखते ही चित्त में लोभ उत्पन्न कर पूछा, भंते, क्या यह चीवर आपने बनाया है?

अवुसो, हां।

भंत्ते, यह चीवर हमें दे दो। आपको दूसरा मिलेगा।

अवुसो, हम ग्रामवासी हैं। हमें प्रत्यय आसानी से नहीं मिलते, मैं यह चीवर तुझे देकर स्वयं क्या पहनूँगा।

भंते, मेरे पास नया वस्त्र है। उसे ले जा कर आप चीवर बना लें।

अवुसो, मैंने इसमें हाथ की मेहनत की है। लेकिन तुम्हारे ऐसा कहने पर मैं क्या कर सकता हूं। ले ले, कह कर वह चीथड़ों का चीवर उसे दे, नया कपड़ा ले, उसे ठग कर चल दिया। जेतवन-वासी भिक्षुक को वह चीवर पहिन, कुछ दिनों के बाद गरम पानी से धोने पर पता लगा कि वह चीथड़ों का चीवर है। उसे देख वह लज्जित हुआ कि ग्रामवासी चीवरवाले ने जेतवनवासी चीवरवाले को ठग लिया। उसका ठगा जाना भिक्षुसंघ में प्रकट हो गया।

एक दिन धर्मसभा में बैठे हुए भिक्षु उस कथा को कह रहे थे। बुद्ध ने आकर पूछा, भिक्षुओ, अब बैठे क्या बातचीत कर रहे हो? उन्होंने वह बात कही। बुद्ध ने कहा भिक्षुओ, न केवल अभी जेतवनवासी चीवर वाला औरों को ठगता रहा है और न केवल ग्रामवासी ने उस जेतवनवासी चीवरवाले को ठगा है, पहले भी ठगा है। यह कह पूर्वजन्म की कथा आरंभ की।

पूर्व समय में बोधिसत्व एक जंगल में एक कमल के तालाब के पास खड़े वृक्ष पर वृक्षदेवता की योनि में उत्पन्न हुए। तब गर्मी के मौसम में एक दूसरे छोटे तालाब में पानी की कमी हो गई। इस तालाब में बहुत सी मछलियां रहती थीं। एक बगुले ने सोचा, एक तरीक़े से इन मछलियों को ठग कर खाऊँगा, ऐसा विचार कर पानी के किनारे चिंतित सा बैठ गया। उसे देखकर मछलियों ने पूछा, आर्य चिंतित क्यों बैठे हो?

बैठा हुआ तुम्हारे लिए चिंता कर रहा हूं।

आर्य, हमारे लिए क्या चिंता कर रहे हो?

इस तालाब में पानी नपा-तुला है। भोजन की कमी है। गरमी की अधिकता है। मैं तुम्हारे लिए सोच रहा हूं कि अब ये मछलियां क्या करेंगी।

तो, आर्य, हम क्या करें?

यदि तुम मेरा कहा करो तो मैं तुम्हें एक एक करके चोंच से पकड़ पंचवर्णों के कमलों से आच्छन्न एक महातालाब में ले जाकर छोड़ आऊं।

आर्य, प्रथम कल्प लेकर मछलियों की चिंता करनेवाला कोई बगुला नहीं हुआ। क्या तू हमें एक एक करके खाना चाहता है?

मैं अपने पर विश्वास करनेवालों को तुम्हें नहीं खाऊँगा। लेकिन यदि मेरी तालाब होने की बात पर विश्वास न हो तो मेरे साथ एक मछली को तालाब देखने के लिए भेजो।

मछलियों ने उसकी बात पर विश्वास कर, यह जल और स्थल दोनों जगहों पर समर्थ है एक काणी महामछली दी, और कहा इसे ले जाओ। उसने उसे ले जाकर तालाब में छोड़ दिया। उसने उन मछलियों से तालाब के सौंदर्य की प्रशंसा की। उन्होंने उसकी बात सुन, जाने की इच्छुक हो कहा, अच्छा आर्य, हमें ले चलो।

बगुला पहिले उस काणे महामत्स्य को तालाब के किनारे ले जाकर तालाब दिखा कर तालाब के किनारे उत्पन्न वरुण वृक्ष पर जा बैठा। फिर उस मछली को शाखाओं के बीच में डाल, चोंच से कोंच-कोंच कर मारा, और मांस खा, काँटों को वृक्ष की जड़ में डाल दिया। फिर जाकर, मैं उस मछली को छोड़ आया अब दूसरी आवे, इस उपाय से एक-एक ले जा, सब को खाकर, आ कर देखा तो वहां एक भी बाक़ी न थी। केवल एक क़ेंकड़ा वहां बाक़ी रह गया था। बगुले ने उसे भी खाने की इच्छा से कहा।

भो कर्कट, मैं उन मछलियों को ले जाकर तालाब में छोड़ आया। आ, तुझे भी ले चलूँगा।

लेकर जाते हुए मुझे कैसे पकड़ोगे?

क्यों, चोंच में पकड़ कर ले जाऊँगा।

तू इस प्रकार ले जाते हुए मुझे गिरा देगा। मैं तेरे साथ न जाऊँगा।

डर मत, मैं तुझे अच्छी प्रकार पकड़ कर ले जाऊँगा।

केंकड़े ने सोचा, इसने मछलियों को तालाब में ले जाकर नहीं छोड़ा है। यदि मुझे तालाब में ले जाकर छोड़ देगा, तो इसमें इसकी कुशल है। यदि नहीं छोड़ेगा तो इसकी गर्दन छेद कर इसके प्राण हर लूँगा। सो उसने कहा——

सौम्य बगुले, तू ठीक से न पकड़ सकेगा। लेकिन हमारा जो पकड़ना होता है वह पक्का होता है। इसलिए यदि मुझे अपने डंक से तू अपनी गर्दन पकड़ने दे, तो तेरी गर्दन अच्छी तरह पकड़े मैं तेरे साथ चलूँगा। उसने उसकी ठगने की इच्छा को न जान कर, अच्छा कह, स्वीकार किया।

केंकड़े ने अपने ढंग से लोहार की सँड़सी की तरह उसकी गर्दन को अच्छी तरह पकड़ कर कहा, अब चल।

वह उसे ले जाकर तालाब दिखा कर वरुण वृक्ष की ओर उड़ा।

केंकड़े ने कहा——मामा, तालाब तो यहां है, लेकिन तू कहां ले जा रहा है?

बगुले ने कहा——मालूम होता है कि तू समझता है कि मैं तेरा प्यारा मामा और तू मेरी

बहिन् का पुत्र है। उठाए फिरते हुए मैं तेरा दास हूं। देख, इस वरुण वृक्ष के नीचे पड़े हुए काँटों के ढेर को। जैसे मैं इन सब मछलियों को खा गया, वैसे ही तुझे भी खाऊँगा।

केंकड़े ने उत्तर दिया, यह मछलियां अपनी मूर्खता से तेरा आहार हुईं। मैं तुझे अपने को खाने न दूँगा। किंतु तेरा ही विनाश करूँगा। तू अपनी मूर्खता के कारण नहीं जानता कि तू मुझसे ठगा गया है। मरना होगा तो दोनों मरेंगे। देख, मैं तेरे सिर को काट कर भूमि पर फेंक दूँगा। ऐसा कह उसने सँड़सी की तरह अपने डंक से उसको भयभीत किया।

बगुले ने कहा--स्वामी, मुझे जीवन दें। मैं तुझे नहीं खाऊँगा।

यदि ऐसा है तो उतर कर मुझे तालाब में छोड़।

उसने रुक कर, तालाब पर ही उतर, केंकड़े को तालाब के किनारे कीचड़ पर रक्खा। केंकड़ा कैंची से कुमुद के डंठल काटने की तरह उसकी गर्दन काट कर, पानी में घुस गया। वरुण वृक्ष के देवता ने उस आश्चर्य को देख साधुकार देते हुए यह गाथा कही :

नाच्चंत निकतिप्पञ्ञो निकत्या सुखमेधति।
आराधेति निकतिप्पञ्ञो वको कक्कटकामिव॥

धूर्तबुद्धि आदमी अपनी अधिक धूर्तता से सदैव सुख नहीं पा सकता। धूर्तबुद्धि अपने किए का फल भोगता है, जैसे बगुले ने केंकड़े के द्वारा भोगा।

(जातक, वर्ग ४, २८)

उस समय तपस्वी लोग किस प्रकार की शारीरिक तपस्याओं में संलग्न रहते थे यह दीर्घनिकाय के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट होगा:--

ऐसा कहने पर अचेल काश्यप ने भगवान से कहा--आवसु गौतम, उन श्रमणों और ब्राह्मणों की ये तपस्यायें उनके श्रमण और ब्राह्मण भाव के द्योतक हैं, जैसे कि नंगा रहना, सभी आचार-विचारों को छोड़ देना, हथचट्टा व्रत, बुलाई भिक्षा का त्याग, ठहरिये कह कर दी गई भिक्षा का त्याग, अपने लिए लाई भिक्षा का त्याग, अपने लिए पकाये भोजन का त्याग, हाँड़ी की भिक्षा का त्याग, ओखल के मुँह से निकली भिक्षा का त्याग, पटरा दंड या मुँह से निकाली मूसल के बीच में लाई भिक्षा का त्याग, निमंत्रण का त्याग, दो भोजन करनेवालों के बीच से लाई, गर्भिणी स्त्री द्वारा लाई, दूध पिलाती स्त्री द्वारा लाई, अन्य पुरुष के पास गई स्त्री द्वारा लाई, चंदावाली भिक्षा का त्याग। वहां से नहीं लेता जहां कोई कुत्ता खड़ा हो, वहां से भी नहीं जहां मक्खियां भन-भन कर रही हों। न मांस, न मछली, न सुरा, न कच्ची शराब, न चावल की शराब (तुषोदक) ग्रहण करता है। वह एक ही घर से जो भिक्षा मिलती है लेकर लौट जाता। एक ही कौर खाने वाला होता है, इत्यादि। वह एक ही कलछी ; खाकर रहता है, इत्यादि। वह एक-एक दिन बीच करके भोजन करता है, इत्यादि। इस तरह वह आधे आधे-महीने पर भोजन करते हुए विहार करता है।

आवुस गौतम, कुछ श्रमण और ब्राह्मणों के यह भी तपस्या करने के तरीक़े हैं, जिनसे उनका

श्रमण ब्राह्मण भाव द्योतित होता है। वह साग मात्र खाता है, केवल सामा खाकर रहता है या केवल नीवार। चमड़ा खाकर रहता है। सेवाल-कण, काँजी, खली, तृण, गोबर या जंगल के फल-फूल या वृक्ष से स्वयं गिरे फल को खाकर रहता है।

आवुस गौतम, कुछ श्रमणों और ब्राह्मणों के ये भी तपस्या के तरीके हैं। वह सन का कपड़ा धारण करता है। श्मशान के कपड़ों को, कफ़न, फेंके चिथड़े, बल्कल, मृगचर्म, मृग के चमड़े में छेद करके उसमें सिर डाल कर, कुश के बनाए वस्त्र, चटाई, मनुष्य के केश के कंबल, घोड़े के बाल के कंबल धारण करके रहता है। उल्लू के पंख धारण करके रहता है। सिर और दाढ़ी के बालों को नोचनेवाला होता है। सिर और दाढ़ी के बालों को नुचवाता है। आसन को छोड़ कर सदा ठड़ेसरी रहता है। उकड़ूं बैठनेवाला हो सदा उकड़ूं ही बैठता है। काँटों पर ही बैठता या सोता है। तख्ते पर सोता है, ज़मीन पर सोता है, एक ही करवट से सोता है। शरीर पर धूल-गरदा लपेटे रहता है। केवल खुली ही जगह पर रहता है। जहां पाता है वहीं बैठ जाता है। मैला खाता है। केवल गर्म पानी पीता है। सुबह दोपहर और शाम तीन बार जल शयन करता है।

भगवान ने कहा :—काश्यप जो नंगा रहता है, आचार-विचार को छोड़ देता है इत्यादि वह शील-संपत्ति चित्त-संपत्ति और प्रजा-संपत्ति की भावना नहीं कर पाता है और वह उनका साक्षात्कार भी नहीं कर पाता। अतः वह श्रामण्य और ब्राह्मण्य के बिल्कुल दूर है। काश्यप, जब भिक्षु वैर और द्रोह से रहित होकर मैत्री भावना करता है, चित्त-मलों के क्षय होने से निर्मल चित्त की मुक्ति और प्रज्ञा की मुक्ति को इसी जन्म में स्वयं जानकर, साक्षात्कर, प्राप्त कर विहार करता है। काश्यप, यथार्थ में वही भिक्षु श्रमण या ब्राह्मण कहलाता है।

काश्यप, साग मात्र खाने वाला इत्यादि है, वह शील-संपत्ति, चित्त-संपत्ति, और प्रजा-संपत्ति की भावना नहीं कर पाता।

काश्यप, जो सन का बना कपड़ा धारण करता है, इत्यादि, वह भी इन भावनाओं को नहीं कर पाता है।

ऐसा कहने पर काश्यप ने भगवान् से कहा—हे गौतम, श्रामण्य दुष्कर है ब्राह्मण दुष्कर है।

काश्यप, संसार में लोग ऐसा कहते हैं, श्रामण्य दुष्कर है ब्राह्मण्य दुष्कर है।

काश्यप, जो नंगे रहते हैं, आचार-विचार छोड़ देते हैं। इतने मात्र से श्रामण्य और ब्राह्मण्य दुष्कर होता है, सुदुष्कर होता तो श्रामण्य ब्राह्मण्य सुदुष्कर कहना उचित नहीं।

काश्यप, क्योंकि इस प्रकार की तपस्याओं से बिल्कुल भिन्न होने ही के कारण श्रामण्य और ब्राह्मण्य दुष्कर है, इसलिए यह कहना ठीक है, श्रामण्य दुष्कर, ब्राह्मण्य दुष्कर है।

(दीर्घनिकाय १, ८, ३)

जन्म के आधार पर वर्गों के ऊँचे-नीचे होने की भावना का खंडन, बौद्ध साहित्य में बहुत मिलता है। बुद्ध भगवान कर्म के अनुसार वर्णव्यवस्था मानते थे। केवल जन्म के आधार पर निर्मित वर्णव्यवस्था का उन्होंने बराबर विरोध किया है। इस संबंध में बौद्ध-साहित्य में अनेक

उल्लेख आए हैं। चारों वर्णों की शुद्धि के संबंध में बुद्ध भगवान के क्या विचार थे यह मज्झिम-निकाय (९३) के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा :—

एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथ पिंडिक के आराम जेतवन में विहार कर रहे थे। उस समय नाना देशों के पाँच सौ ब्राह्मण किसी काम से श्रावस्ती में ठहरे थे। तब उन ब्राह्मणों को यह विचार हुआ—यह ब्राह्मण गौतम चारों वर्णों की शुद्धि का उपदेश करता है। कौन है जो श्रमण गौतम से इन विषयों में वाद कर सके। उस समय श्रावस्ती में आश्वलायन नामक निघंटु-केटुभ, अक्षर-प्रभेद सहित तीनों वेदों तथा पाँचवें इतिहास में भी पारंगत, पदक, वैयाकरण, लोकायत, महापुरुष, लक्षण में निपुण, वापित-शिर, तरुण माणवक रहता था। तब उन ब्राह्मणों को यह हुआ, यह श्रावस्ती में आश्वलायन माणवक रहता है, यह श्रमण गौतम से इस विषय में वाद कर सकता है।

तब वे ब्राह्मण जहां आश्वलायन माणवक था वहां गये। जाकर आश्वलायन माणवक से बोले।

आश्वलायन, यह श्रमण गौतम चातुर्वर्णी शुद्धि उपदश करता है। जाइये आप आश्वलायन श्रमण गौतम से इस विषय में वाद कीजिये। ऐसा कहने पर आश्वलायन माणवक ने उन ब्राह्मणों से कहा। श्रमण गौतम धर्मवादी हैं। धर्मवादी वाद करने में दुष्कर होते हैं। मैं श्रमण गौतम के साथ इस विषय में वाद नही कर सकता।

दूसरी बार भी उन ब्राह्मणों ने आश्वलायन माणवक से कहा। तीसरी बार भी उन ब्राह्मणों ने आश्वलायन माणवक से कहा। भो आश्वलायन, यह श्रमण गौतम चातुर्वर्णी शुद्धि का उपदेश करता है। जाइये आप आश्वलायन श्रमण गौतम से इस विषय में वाद कीजिये। आप आश्वलायन युद्ध में बिना पराजित हुए ही मत पराजित हो जायें। ऐसा कहने पर आश्वलायन माणवक ने उन ब्राह्मणों से कहा। मैं श्रमण गौतम के साथ नहीं पार पा सकता। श्रमण गौतम धर्मवादी हैं। मैं श्रमण गौतम के साथ इस विषय में वाद नहीं कर सकता, तो भी मैं आप लोगों के कहने से जाऊँगा।

तब आश्वलायन माणवक बड़े भारी ब्राह्मणगण के साथ जहां भगवान थे वहां गए। जाकर भगवान के साथ संमोदन कर (कुशलप्रश्न पूछ) एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए आश्वलायन माणवक ने भगवान से कहा—भो गौतम, ब्राह्मण ऐसा कहते हैं ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण हैं। ब्राह्मण ही शुक्लवर्ण हैं, दूसरे वर्ण कृष्ण हैं। ब्राह्मण ही शुद्ध होते हैं, अब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण ही ब्रह्म के औरस पुत्र हैं, मुख से उत्पन्न, ब्रह्मज, ब्रह्मनिर्मित, ब्रह्म के दायाद हैं। इस विषय में आप गौतम क्या कहते हैं।

लेकिन आश्वलायन, ब्राह्मणों की ब्राह्मणियां, ऋतुमती, गर्भिणी, जनन करती, पिलाती देखी जाती हैं। योनि से उत्पन्न होते हुए भी वह ब्राह्मण ऐसा कहते हैं, ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण हैं।

यद्यपि आप, गौतम, ऐसा कहते हैं, फिर भी ब्राह्मण तो ऐसा ही कहते हैं। ब्राह्मण ही श्रेष्ठ हैं।

तो क्या मानते हो, आश्वलायन, तुम ने सुना है कि यवन और कंबोज में और दूसरे भी सीमांत देशों में दो ही वर्ण होते हैं--आर्य और दास। आर्य ही दास हो सकता है, दास ही आर्य हो सकता है।

हां भो, मैंने सुना है।

आश्वलायन, ब्राह्मणों को क्या बल और क्या आश्वास है, जो ब्राह्मण ऐसा कहते हैं, ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण हैं।

यद्यपि गौतम, आप ऐसा कहते हैं, फिर भी ब्राह्मण तो ऐसा ही कहते हैं।

तो क्या मानते हो, आश्वलायन, क्षत्रिय प्राणिहिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, चुगलखोर, कटुभाषी, बकवादी, लोभी, द्वेषी, मिथ्या-दृष्टि (झूठी धारणावाला) हो, तो क्या काया छोड़ मरने के बाद दुर्गति प्राप्त कर नरक में उत्पन्न होगा या नहीं।

इसी प्रकार ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र प्राणि हिंसक आदि हो तो क्या नरकमें उत्पन्न होगा या नहीं।

भो गौतम, क्षत्रिय भी प्राणिहिंसक इत्यादि हो तो नरक में उत्पन्न होगा, ब्राह्मण भी, वैश्य भी, शूद्र भी। सभी चारों वर्ण, भो गौतम, प्राणिहिंसक आदि हों तो नरक में उत्पन्न होंगे।

तो फिर, आश्वलायन, ब्राह्मणों को क्या बल, क्या आश्वास है जो ब्राह्मण ऐसा कहते हैं।

फिर भी ब्राह्मण तो ऐसा ही कहते हैं। तो क्या मानते हो, आश्वलायन, क्या ब्राह्मण ही प्राणहिंसा से विरत होता है, चोरी से विरत होता है, दुराचार, झूठ, चुगली, कटुवचन बकवाद से विरत होता है। अलोभी, अद्वेषी, सम्यक्दृष्टि (सच्ची दृष्टिवाला) हो शरीर छोड़ मरने के बाद, सुगति स्वर्गलोक में उत्पन्न होता है, क्षत्रिय नहीं, शूद्र नहीं, वैश्य नहीं?

नहीं, भो गौतम, क्षत्रिय भी प्राणहिंसा से विरत, सुगति, स्वर्गलोक में उत्पन्न हो सकता है, ब्राह्मण भी, वैश्य भी, शूद्र भी, सभी चारों वर्ण।

तो क्या मानते हो, आश्वलायन, क्या ब्राह्मण ही वैररहित, द्वेषरहित, मैत्रचित्त की भावना कर सकता है, क्षत्रिय नहीं, वैश्य नहीं, शूद्र नहीं?

नहीं, भो गौतम, क्षत्रिय भी इस स्थान में भावना कर सकता है। सभी चारों भावना कर सकते हैं।

यहां, आश्वलायन, ब्राह्मणों को क्या बल है जो ब्राह्मण ऐसा कहते हैं?

तो क्या मानते हो, आश्वलायन, क्या ब्राह्मण ही मंगल (स्वस्ति) स्नानचूर्ण लेकर, नदी को जा, मैल धो सकता है, क्षत्रिय नहीं?

नहीं, भो गौतम, क्षत्रिय भी मंगल स्नान चूर्ण ले, नदी पर जा, मैल धो सकता है, सभी चारों वर्ण।

यहां, आश्वलायन, ब्राह्मणों को क्या बल है?

तो क्या मानते हो, आश्वलायन, यदि यहां मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा नाना जाति के सौ पुरुष इकट्ठे करे और उन्हें कहे, आवें आप सब जो कि क्षत्रिय कुल से, ब्राह्मण कुल से और राजन्य कुल से उत्पन्न हैं और साल साखू की या सरल वृक्ष की या चंदन की या पद्मकाष्ठ की

उत्तरारिणी लेकर आग बनाएं, तेज प्रादुर्भूत करें। और आप भी आवें जोकि चांडाल कुल से निषाद कुल से, बसौर कुल से, रथकार कुल से, पुक्कसकुल से उत्पन्न हुए हैं और कुत्ते के पीने की, सुअर के पीने की कठरी की, धोबी की कठरी की या रेंड की लकड़ी की उत्तरारणी लेकर आग बनावें, तेज प्रादुर्भूत करें। तो क्या मानते हो, आश्वलायन, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र कुलों से उत्पन्नों द्वारा साल, सरल चंदन पद्म की उत्तरारणी को लेकर जो आग उत्पन्न की गई है, तेज प्राभूंदुत किया गया, क्या वही अर्चिमान (लौ वाला), वर्णवान्, प्रभास्वर अग्नि होगा ? उसी अग्नि से आग का काम लिया जा सकता है। और जो वह चांडाल, निषाद, बसोर, रथकार, पुक्कस कुलोत्पन्नों द्वारा श्वपान कठरी की, सूकरपान कठरी की, रेंड-काष्ठ की उत्तरारणी को लेकर उत्पन्न आग है, प्रादुर्भूत तेज है, वह अर्चिमान, वर्णवान्, प्रभास्वर न होगा। इस आग से अग्नि का काम नहीं लिया जा सकेगा।

नहीं, भो गौतम, जो वह क्षत्रिय कुलोत्पन्न द्वारा आग बनाई गई है वह भी अर्चिमान आग होगी, उस आग से भी अग्नि का काम लिया जा सकता है।

यहां, आश्वलायन ब्राह्मणों को क्या बल है ?

तो क्या मानते हो, आश्वलायन, यदि क्षत्रिय-कुमार ब्राह्मण-कन्या में पुत्र उत्पन्न हुआ है, क्या वह माता के समान, पिता के समान क्षत्रिय है, ब्राह्मण है कहा जाना चाहिए ?

भो गौतम, कहा जाना चाहिए।

आश्वलायन, यदि ब्राह्मण कुमार क्षत्रिय-कन्याओं के साथ विवाह करे तो उनके सहवास में पुत्र उत्पन्न हो। जो वह क्षत्रिय-कुमार द्वारा ब्राह्मण-कन्या में पुत्र उत्पन्न हुआ है क्या वह माता के समान और पिता के समान क्षत्रिय है, ब्राह्मण है, कहा जाना चाहिए ?

भो गौतम कहा जाना चाहिए ?

आश्वलायन, ब्राह्मण-कुमार, क्षत्रिय-कन्या के साथ सहवास करे वह ब्राह्मण कहा जाना चाहिए ?

ब्राह्मण कहा जाना चाहिए।

आश्वलायन, यहां घोड़ी को गदहे से जोड़ा खिलायें, उनके जोड़ से बछड़ा उत्पन्न हो। क्या वह माता पिता के समान घोड़ा है गदहा है कहा जान चाहिए ?

भो गौतम, यह अश्वतर (खच्चर) होता है। यहां भेद देखता हूं। उन दूसरों में कुछ भेद नहीं देखता।

आश्वलायन, यहां दो माणवक जुड़वां भाई हों। एक अध्ययन करनेवाला और उपनीत अर्थात् उपनयन द्वारा गुरु के पास प्राप्त है। दूसरा अनध्यापक और अनुपनीत है। श्राद्ध, यज्ञ या पाहुनाई में ब्राह्मण किसको प्रथम भोजन करायेंगे ?

भो गौतम, जो वह माणवक अध्यापक उपनीत है उसी को प्रथम भोजन करायेंगे। अनध्यापक अनुपनीत को देने से क्या महाफल होगा ?

तो क्या मानते हो, आश्वलायन, यहां दो माणवक जुड़वां भाई हों, एक अध्यापक उपनीत,

किंतु दुःशील पापधर्म हो, दूसरा अनध्यापक अनुपनीत किंतु शीलवान कल्याणधर्मा, इनमें किसको ब्राह्मण श्राद्ध या यज्ञ या पाहुनाई में प्रथम भोजन करायेंगे ?

भो गौतम, जो वह माणवक अनुपनीत किंतु शीलवान कल्याण धर्म है उसी को ब्राह्मण प्रथम भोजन करायेंगे। दुःशील पापधर्म को दान देने से क्या महाफल होगा ?

आश्वलायन, पहले तू जाति पर पहुँचा, जाति पर जा कर मंत्रों पर पहुँचा, मंत्रों पर जा कर अब तू चातुर्वर्णी शुद्धि पर आ गया, जिसका कि मैं उपदेश करता हूं।

ऐसा कहने पर आश्वलायन माणवक चुप हो गया, मूक हो गया, अधोमुख चिंतित, निष्प्रतिभ हो बैठा।

कर्म के आधार पर वर्णव्यवस्था के सिद्धांत के संबंध में मज्झिमनिकाय (९८) का निम्नलिखित उद्धरण बुद्ध भगवान के विचारों को और भी अधिक स्पष्ट करता है। उसमें बुद्ध भगवान ने अपना मत अत्यंत स्पष्ट शब्दों में दिया है कि—

'जन्म से न ब्राह्मण होता है न जन्म से अब्राह्मण
कर्म से ब्राह्मण होता है और कर्म से अब्राह्मण।'

ऐसा मैंने सुना।

एक समय भगवान इच्छानंगल में इच्छानंगल के वनखंड में विहार करते थे। उस समय बहुत से अभिज्ञात ब्राह्मण महाशाल (महाधनी), जैसे किंचंकि, तारुक्ख ब्राह्मण, जातुस्सोणि ब्राह्मण, तोदेय्य ब्राह्मण, तथा दूसरे अभिज्ञात ब्राह्मण महाशाल इच्छानंगल में वास करते थे। तब वासिष्ठ और भारद्वाज दो माणवकों (छात्रों) की जंघाविहार के लिए टहलते-घूमते समय यह बात चल पड़ी। ब्राह्मण कैसे होता है ?

भारद्वाज माणवक ने कहा, जब पुरुष दोनों ओर से सुजात होता है, माता-पिता दोनों ओर के पितामहों की सात पीढ़ी तक विशुद्ध वंशवाले, जातिवाद से अक्षिप्त हों, इतने से ब्राह्मण होता है।

वाशिष्ठ माणवक ने कहा, जब आदमी शीलवान् और व्रतसंपन्न होता है, इतने से ब्राह्मण होता है।

भारद्वाज माणवक वाशिष्ठ माणवक को नहीं समझा सका, वाशिष्ठ माणवक भारद्वाज को नहीं समझा सका।

तब वाशिष्ठ माणवक ने भारद्वाज माणवक को संबोधित किया।

यह शाक्यकुल से प्रव्रजित शाक्यपुत्र श्रमण गौतम इच्छानंगल के वनखंड में विहार करते हैं। उन आप गौतम का ऐसा कल्याण कीर्ति शब्द उठा हुआ है—वह भगवान् बुद्ध भगवान् हैं। चलो, भो भारद्वाज, जहां श्रमण गौतम हैं चलें। चलकर इस बात को श्रमण गौतम से पूछें। जैसा श्रमण गौतम बतलायेंगे वैसा करेंगे।

अच्छा भो, कह भारद्वाज माणवक ने वाशिष्ठ माणवक को उत्तर दिया।

तब वाशिष्ठ और भारद्वाज माणवक जहां भगवान् थे वहां गए। जाकर भगवान् को सम्मोदन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे हुये वाशिष्ठ माणवक ने भगवान् से गाथाओं में कहा---भो, हम अनुज्ञात, प्रतिज्ञात त्रैविद्य हैं। मैं पौष्कर साति का और यह तारुक्ष के माणवक हैं। त्रैविद्यों का जो स्थान है उसमें हम केवली हैं। पद, व्याकरण और जल्प में हम अपने आचार्य के समान हैं। गौतम, ऐसे हम दोनों के जातिवाद के विषय में विवाद है। भारद्वाज कहता है जाति से ब्राह्मण होता है। चक्षुमन्, मैं कर्म से कहता हूं, ऐसा आप जानें। हम दोनों एक दूसरे को समझा नहीं सकते। तब संबुद्ध करके विश्रुत भगवान् के पास आये हैं। अक्षय चंद्रमा को जैसे लोग जा कर हाथ जोड़ वंदना करके नमस्कार करते हैं, ऐसे लोक में गौतम को भी। लोक के चक्षु जैसे उत्पन्न आप गौतम से हम पूछते हैं जन्म से ब्राह्मण होता है या कर्म से ? हम अनजानों को बतावें जिससे हम ब्राह्मण को जानें।

भगवान् बोले वाशिष्ठ मैं तुम्हें क्रमशः यथार्थतः कहता हूं। प्राणियों की जाति में एक-दूसरे से जातिभेद है। तृण और वृक्षों में भी। जानते हो इसके लिए वह प्रतिज्ञा नहीं करते। जाति का लिंग है, इनमें जातियां एक दूसरे से भिन्न हैं। फिर कीट- पतंग से चींटीं तक जाति का लिंग है उनमें। छोटे-बड़े चौपायों में भी तुम जानते हो, जाति का लिंग ह। फिर जलचर पानी की मछलियों को भी जानते हो तुम जाति का लिंग है।

जैसा इन जातियों में जाति का अलग-अलग लिंग है इस प्रकार लिंग मनुष्यों में नहीं है। न केशों में, न सिर में, न आँख में, न मुख में, न नासिका में, न भौं में, न ग्रीवा में, न कंधे में, न पीठ में, न पेट में, न श्रेणी में, न उर में, न गोप्यस्थान में, न मैथुन में, न हाथ में न पैर में, न उँगली और नख में, न जंघा में, न उर में, न वर्ण या स्वर में जैसा कि अन्य जातियों में है वैसा जाति का कोई पृथक् लिंग नहीं। मनुष्य के शरीर में ये भेदक लिंग नहीं मिलता। मनुष्यों में भेद सिर्फ़ संज्ञा में हैं।

मनुष्यों में जो गोरक्षा से जीविका करता है ऐसे को कृषक जानो, ब्राह्मण नहीं। मनुष्यों में, जो शिल्प की जीविका करता है, ऐसे को शिल्पी जानो, ब्राह्मण नहीं। मनुष्यों में जो व्यापार से जीविका करता है,ऐसे को बनिया जानो, ब्राह्मण नहीं। जो मनुष्य पर प्रेश्रण से जीविका करता है वाशिष्ठ, ऐसे को प्रेष्यक जानो, ब्राह्मण नहीं। मनुष्यों में जो अदत्तदान से जीता है,वाशिष्ठ, ऐसे को चोर जानो ब्राह्मण नहीं। मनुष्यों में जो इषु-अस्त्र से जीता ह, वाशिष्ठ, ऐसे को योधाजीवी जानो, ब्राह्मण नहीं। मनुष्यों में जो पुरोहिती से जीता है, वाशिष्ठ, ऐसे को याजक जानो, ब्राह्मण नहीं। मनुष्यों में जो ग्रामराष्ट्र का उपयोग करता ह, वाशिष्ठ, ऐसे को राजा जानो ब्राह्मण नहीं। माता और योनि से उत्पन्न होने के कारण मैं ब्राह्मण नहीं कहता। वह 'भोवादी' है, वह तो संग्रही है।

मैं ब्राह्मण उसे कहता हूं जो अपरिग्रही है अर्थात् न लेने वाला है। जो सारे बंधनों को काट कर भय नहीं खाता। जो संग और आसक्ति से विरत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। क्रोध, तृष्णा-रूपी रस्सी के मतवाद-रूपी पगहे,और मुंह पर बांधने के जाबे को काट,एवं जूए को फेंक जो

बुद्ध अर्थात् ज्ञानी हुआ है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जो बिना दूषित चित्त किए गाली, वध और बंधन को सहन करता है, क्षमाबल ही जिसके बल का सेनापति है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जो अक्रोधी, व्रती, शीलवान्, बहुश्रुत, संयमी और अंतिम शरीर वाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। कमल के पत्ते पर जल और आरे की नोक पर सरसों की भांति जो भोग में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। यहीं नहीं इसी जन्म में अपने दुखों के विनाश को जान लेता है, जिसने अपने बोझ को उतार फेंका और जो आसक्तिरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जो गंभीर प्रज्ञावाला, मेधावी मार्ग-अमार्ग का ज्ञाता, उत्तम पदार्थ (सत्य) को पाये है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। घरवाले (गृहस्थ) और बेघरवाले दोनों ही में जो नहीं लिप्त रहता, जो बिना ठिकाने के घूमता फिरता तथा बेचाह है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। चर-अचर सभी प्राणियों में प्रहारित हो जो न मारता है, न मारने की प्रेरणा करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जो विरोधियों के बीच विरोध-रहित रहता है, जो दंड-धारियों के बीच दंडरहित है, संग्राहियों में जो संग्रहरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। आरे के ऊपर सरसों की भाँति जिसके चित्त से राग, द्वेष, मान, डाह फेंक दिये गये हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जो इस प्रकार की अकर्कश, आदरयुक्त तथा सच्ची वाणी को बोले कि जिससे कुछ भी पीड़ा न होवे, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। चीज चाहे दीर्घ हो या ह्रस्व, मोटी हो या पतली, शुभ हो या अशुभ, जो संसार की किसी भी बिना दी हुई चीज को नहीं लेता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। इस लोक और परलोक के विषय में जिसकी आशाएं नहीं रह गई हैं, जो आज्ञा-रहित और जो आसक्ति-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जिसको तृष्णा नहीं है, जो भली प्रकार जान कर अकथ पद का कहने वाला है, जिसने गाढ़े अमृत को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जिसने यहां पाप और पुण्य दोनों की आसक्ति को छोड़ दिया, जो शोकरहित निर्मल और शुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जो चंद्रमा की भाँति विमल, शुद्ध, स्वच्छ है, तथा जिसकी सभी जन्मों की तृष्णा नष्ट हो गई है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जिसने इस दुर्गम संसार के चक्कर में डालने वाले मोहरूपी उलटे मार्ग को त्याग दिया, जो संसार से पारंगत, ध्यानी तथा तर गया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जो यहां भोगों को छोड़, बेघर हो प्रव्रजित हो गया है, जिसके भोग और जन्म नष्ट हो गए, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जो यहां तृष्णा को छोड़ बेघर, वन-प्रव्रजित है, जिसकी तृष्णा और पुनर्जन्म नष्ट हो गए हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। मानुष भोगों के लोभों को छोड़ दिव्य भोग के लाभ को भी जिसने त्याग दिया, सारे ही लाभों में जो आसक्त नहीं है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। रति और अरति (घृणा) को छोड़, जो शीतलस्वभाव तथा क्लेशरहित है, जो ऐसा सर्वलोक विजयी वीर है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जो प्राणियों की मृत्यु और उत्पत्ति को भली-प्रकार जानता है, जो आसक्ति-रहित, सुगत और बुद्ध (ज्ञानी) है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जिसकी गति को देवता, गंधर्व और मनुष्य नहीं जानते, रागादि रहित और अर्हत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जिसके पूर्व और पश्चात् और मध्य में कुछ नहीं है, जो परिग्रह-रहित, आदान-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जो श्रेष्ठ, प्रवर, वीर, महर्षि, विजेता, अकम्प्य, स्नातक, और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जो पूर्वजन्म को जानता है, स्वर्ग और दुर्गति को देखता है, जिसका

जन्म क्षीण हो गया, जो अभिज्ञापरायण मुनि है, सारे कृत्य जिसके समाप्त हो गए हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

लोक में ये संज्ञायें हैं, ये कल्पित नाम गोत्र हैं, वहां वहां कल्पित करके लोकव्यवहार से चला आया है। अज्ञों की धारणा में चिरकाल से यह घुसा हुआ है। जाननेवाले नहीं कहते कि ब्राह्मण जन्म से होता है। जन्म से न ब्राह्मण होता है, न जन्म से अब्राह्मण, कर्म से ब्राह्मण होता है और कर्म से अब्राह्मण होता है। कर्म से कृषक होता है और कर्म से शिल्पी। कर्म से बनिया होता है और कर्म से प्रेषक। कर्म से चोर होता है और योधाजीवी भी कर्म से। कर्म से याजक और राजा भी कर्म से। प्रतीत्य समुत्पाददर्शी और कर्मविपाककोविद पंडितजन इस प्रकार कर्म को यथार्थ से जानते हैं। लोक कर्म से चल रहा है, प्रजा कर्म से चल रही है। चलते हुए रथ के चाके की भाँति आणी की भाँति प्राणी कर्म में बंधे हैं। तप, ब्रह्मचर्य, संयम और दम, इनसे ब्राह्मण होता है, यही उत्तम ब्राह्मण है। तीन विद्याओं से युक्त, शांत और पुनर्जन्म-रहित, वाशिष्ठ ऐसों को तुम विज्ञों के ब्रह्मा और शक्र जानो।

ऐसा कहने पर वाशिष्ठ और भारद्वाज माणवकों ने भगवान से कहा--आश्चर्य, भो गौतम, आश्चर्य, भो गौतम! जैसा औंधे को सीधा कर दे, यह हम भगवान गौतम की शरण जाते हैं। धर्म और भिक्षु संघ की भी। आप गौतम आज से हमें अंजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।

ब्राह्मण बनाने वाले असली धर्म क्या है इस संबंध में एक रोचक कथा दीघनिकाय (१.४) में आई है।

एक समय पाँच सौ भिक्षुओं के महाभिक्षुसंघ के साथ भगवान् अंग जनपद में विचरते जहां चंपा नगरी है वहां पहुंचे। वहां चंपा में भगवान् गर्गरा पुष्करणी के तीर पर विहार करते थे। उस समय सोणदंड (स्वर्णदंड) ब्राह्मण मगधराज श्रेणिक बिंबसार द्वारा दत्त जनाकीर्ण, तृण काष्ठ उदक धान्य सहित, राजयोग्य, राजदाय, ब्रह्मदेय चंपा की भूमि का स्वामी था। श्रमण गौतम के चंपा में आने का समाचार पाकर सोणदंड ब्राह्मण उनके दर्शनार्थ गया किंतु उसने इस डर से स्वयं कोई प्रश्न नहीं किया कि उससे कहीं कोई भूल न हो जावे। उसके मन में आया कि श्रमण गौतम मेरी अपनी विद्या से संबंध रखनेवाला कोई प्रश्न पूछता तो अच्छा रहता।

तब सोणदंड ब्राह्मण के चित्त को भगवान् ने अपने चित्त में जान कर सोचा, यह सोणदंड ब्राह्मण अपने चित्त से मारा जा रहा है। क्यों न मैं सोणदंड ब्राह्मण को उसकी अपनी त्रैविद्यक पंडिताई में ही प्रश्न पूछूं। तब भगवान् ने सोणदंड ब्राह्मण से कहा :—

ब्राह्मण, ब्राह्मण लोग कितने गुणों से युक्त पुरुष को ब्राह्मण कहते हैं और वह मैं ब्राह्मण हूं कहते हुये सच कहता है, झूठ बोलनेवाला नहीं होता।

तब सोणदंड ब्राह्मण को हुआ--अहो, जो मेरा इच्छित, आकांक्षित, अभिप्रेत, प्रार्थित था कि अहोवत, यदि श्रमण गौतम मेरी अपनी त्रैविद्यक पंडिताई में प्रश्न पूछता सो श्रमण गौतम मुझसे अपनी त्रैविद्यक पंडिताई में ही पूछ रहा है। मैं अवश्य प्रश्नोत्तर से उसके चित्त को संतुष्ट

करूँगा। तब सोणदंड ब्राह्मण शरीर को उठा कर, परिषद की ओर नजर दौड़ा, भगवान् से बोला।

हे गौतम, ब्राह्मण लोग पाँच अंगों से युक्त पुरुष को ब्राह्मण कहते हैं। कौन से पाँच? (१) ब्राह्मण दोनों ओर से सुजात हो, (२) अध्यापक, मंत्रधर, त्रिवेद पारंगत हो, (३) अभिरूप, दर्शनीय, अत्यंत गौरवर्ण से युक्त हो, (४) शीलवान हो, (४) पंडित, मेधावी, यज्ञ-दक्षिणा ग्रहण करनेवालों में प्रथम या द्वितीय हो। इस पाँच अंगों से युक्त को ब्राह्मण लोग ब्राह्मण कहते हैं।

इन पाँच अंगों में से एक अंग को छोड़ चार अंगों से भी ब्राह्मण कहा जा सकता है?

कहा जा सकता है, हे गौतम, इन पाँचों अंगों में से, हे गौतम, वर्ण (रंग) को छोड़ते हैं। वर्ण क्या करेगा यदि ब्राह्मण दोनों ओर से सुजात हो, अध्यापक, मंत्रधर हो, शीलवान हो, पंडित मेधावी हो, इन चार अंगों से युक्त को, हे गौतम, ब्राह्मण लोग ब्राह्मण कहते हैं।

ब्राह्मण, इन चार अंगों से एक अंग को छोड़ शेष तीन अंगों से भी ब्राह्मण कहा जा सकता है?

कहा जा सकता है, हे गौतम, इन चारों अंगों में से, हे गौतम, मंत्रों (वदों) को छोड़ते हैं। मंत्र क्या करेंगे, यदि ब्राह्मण दोनों ओर से सुजात हो, शीलवान् हो, पंडित मेधावी हो? इन तीन अंगों से युक्त को, हे गौतम, ब्राह्मण कहते हैं।

ब्राह्मण, इन तीनों अंगों से एक अंग को छोड़, दो अंगों स युक्त भी ब्राह्मण कहा जा सकता है?

कहा जा सकता है, हे गौतम, इन तीनों में से, हे गौतम, जाति को छोड़ते हैं। जाति (जन्म) क्या करेगी यदि ब्राह्मण शीलवान हो, पंडित मेधावी हो? इन दो अंगों से युक्त को ब्राह्मण कहते हैं।

ऐसा कहने पर उन ब्राह्मणों ने सोणदंड ब्राह्मण से कहा--

आप सोणदंड, ऐसा मत कहें। आप सोणदंड, ऐसा मत कहें। आप सोणदंड, वर्ण का प्रत्याखान करते हैं, मंत्र का प्रत्याख्यान करते हैं, जाति का प्रत्याख्यान करते हैं। एक अंश में आप सोणदंड श्रमण गौतम के ही वाद को स्वीकार कर रहे हैं।

तब भगवान ने उन ब्राह्मणों से कहा।

यदि, ब्राह्मणो, तुम को वह हो रहा है कि सोणदंड ब्राह्मण अल्पश्रुत है, असुवक्ता है, दुष्प्रज्ञ है। सोणदंड ब्राह्मण इस बात में श्रमण गौतम के साथ वाद नहीं कर सकता है, तो सोणदंड ब्राह्मण ठहरे, तुम्हीं मेरे साथ वाद करो। यदि ब्राह्मणो, तुमको ऐसा होता है कि सोणदंड ब्राह्मण बहुश्रुत है, सुवक्ता है, पंडित है, सोणदंड इस बात में श्रमण गौतम के साथ वाद कर सकता है, तो तुम ठहरो, सोणदंड ब्राह्मण को मेरे साथ वाद करने दो।

ऐसा कहने पर सोणदंड ब्राह्मण ने कहा।

आप गौतम, ठहरे। आप गौतम, मौन धारण करें। मैं ही धर्म के साथ इनका उत्तर दूंगा।

तब सोणदंड ब्राह्मण ने उन ब्राह्मणों से कहा।

आप लोग ऐसा मत कहें, आप लोग ऐसा मत कहें कि आप सोणदंड वर्ण का प्रत्याख्यान करते हैं, मैं वर्ण या मंत्र या जाति का प्रत्याख्यान नहीं करता।

उस समय सोणदंड ब्राह्मण का भांजा अंगक नामक माणवक उस परिषद में बैठा था। तब सोणदंड ने उन ब्राह्मणों से कहा।

आप सब हमारे भांजे अंगक माणवक को देखते हैं।

हां भो।

भो, (१) अंगक माणवक अभिरूप दर्शनीय, प्रासादिक, परम गौरवर्ण, पुष्कलता में युक्त है। इस परिषद में श्रमण गौतम को छोड़ कर वर्ण में इसके बराबर का दूसरा कोई नहीं है। (२) अंगक माणवक अध्यायक (वेदपाठी), मंत्रधर, निघंटु कल्प-अक्षर-प्रभेद सहित तीनों वेद और पाँचवें इतिहास में पारंगत है, पदक (कवि), वैयाकरण, लोकायत, महापुरुषों का क्षण, शास्त्रों में निपुण है। मैं ही उसे मंत्रों को पढ़ानेवाला हूं। (३) अंगक माणवक दोनों ओर से सुजात है, मैं उसके माता पिता दोनों को जानता हूं। यदि अंगक माणवक प्राणों को भी मारे, चोरी भी करे, परस्त्रीगमन भी करे, मृषा भी बोले, मद्य भी पीवे। यहां पर अब, भो, वर्ण क्या करेगा? मंत्र और जाति क्या करेगी? जब कि ब्राह्मण शीलवान, वृद्धशीलता से युक्त होता है, पंडित और मेधावी होता है, सुजा (यज्ञ-दक्षिणा) ग्रहण करने वालों में प्रथम या द्वितीय होता है। इन दोनों अंगों से युक्त को ब्राह्मण लोग ब्राह्मण कहते हैं। वह मैं ब्राह्मण हूं कहते हुए सच कहता है. झूठ बोलने वाला नहीं होता है।

ब्राह्मण इन दो अंगों को छोड़ एक अंग से भी युक्त को भी ब्राह्मण कहा जा सकता है?

नहीं, हे गौतम, शील से प्राक्षालित है प्रज्ञा (ज्ञान), प्रज्ञा से प्राक्षालित है शील। जहां शील है वहां प्रज्ञा है जहां प्रज्ञा है, वहां शील है। शीलवान् को प्रज्ञा होती है प्रज्ञावान को शील। किंतु शील लोक में प्रज्ञाओं का अगुआ कहा जाता है। जैसे हे गौतम हाथ से हाथ धोवे पैर से पैर धोवे, ऐसे ही, हे गौतम, शील-प्रक्षालित प्रज्ञा है।

यह ऐसा ही है, ब्राह्मण, शील-प्रक्षालित प्रज्ञा है, प्रज्ञा-प्रक्षालित शील है।

जहां शील है, वहां प्रज्ञा है। जहां प्रज्ञा है वहां शील है। शीलवान् को प्रज्ञा होती है। प्रज्ञावान् को शील। किंतु लोक में शील प्रज्ञा का सरदार कहा जाता है।

किस प्रकार आधुनिक महंतों के सदृश उस समय धनी प्रसिद्ध ब्राह्मण ऐश्वर्यमय जीवन व्यतीत करते थे, इसका परिचय निम्नलिखित उद्धरण से मिलेगा:—

हे अंबष्ट, जो वह ब्राह्मणों के पूर्वज ऋषि मंत्रकर्ता, मंत्र-प्रवक्ता थे। जिनके कि पुराने गीत, प्रोक्त, चिंतित, मंत्रपद (वेद) को ब्राह्मण आजकल अनुगान, अनुघोषण करते हैं, भाषित को अनुभाषित, वाचित को अनुवाचित करते हैं, जैसे कि अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भरद्वाज, वशिष्ठ, कश्यप, भृगु "उनके मंत्रों को आचार्य-सहित मैं अध्ययन करता हूं", क्या इतने से तुम ऋषि या ऋषित्व के मार्ग पर आरूढ़ कहे जाओगे?

यह संभव नहीं।

तो क्या अंबष्ट, तुमने वृद्ध ब्राह्मणों, आचार्यों, प्रचार्यों को कहते सुना है कि जो वे ब्राह्मणों के पूर्वज ऋषि अट्टक आदि थे, क्या वे ऐसे सुस्नात, सुविलिप्त, केशमोंछ संवारे, मणिकुंडल आभरण पहिने, स्वच्छ वस्त्रधारी, काम-भोगों में लिप्त, युक्त घिरे रहते थे, जैसे कि आज आचार्य सहित तुम ?

नहीं, हे गौतम।

क्या वे ऐसा शालि का भात, शुद्ध मांस की तीवन, कालिमा-रहित सूप, अनेक प्रकार की तरकारी (व्यंजन) भोजन करते थे, जैसे कि आचार्य सहित आज तुम ?

नहीं, हे गौतम।

क्या वे ऐसी साड़ी वेष्ठित कमनीयगात्रा स्त्रियोंकेसाथ रमतेथे, जैसे कि आचार्यसहित तुम ?

क्या वे ऐसी कटे बालों वाली घोड़ियों के रथ पर लंबे डंडे वाले कोड़ों से वाहनों को पीटते हुए गमन करते थे, जैसे कि तुम ?

नहीं, हे गौतम।

क्या वे ऐसे खोई खोदे परिघ (काष्ठ-प्राकार) उठाये, नगर-रक्षिकाओं में दीर्घायु पुरुषों से रक्षा करवाते थे, जैसे कि तुम ?

नहीं, हे गौतम।

इस प्रकार हे अंबष्ट, न आचार्य सहित तुम ऋषि हो और न ऋषित्व के मार्ग पर आरूढ़। अम्बष्ट, मेरे विषय में जो तुम्हें संशय हो, वह प्रश्न करो। मैं उसे उत्तर से दूर करूंगा।

(दीघ० १, ३, ५)।

विवाह आदि के संबंध में नसल की शुद्धि की दृष्टि से क्षत्रियों में उस समय अधिक कठिन प्रतिबंध थे, ब्राह्मणों में उतने नहीं थे, यह निम्नलिखित कथा से पता चलता है:—

तब भगवान् ने अंबष्ट माणवक को संबोधित किया।

तो अंबष्ट, यदि एक क्षत्रियकुमार ब्राह्मण-कन्या के साथ सहवास करे। उनके सहवास से पुत्र उत्पन्न हो। जो क्षत्रियकुमार से ब्राह्मण-कन्या के पुत्र उत्पन्न होगा क्या ब्राह्मणों में आसन और पानी पायेगा ? पायेगा, हे गौतम।

क्या ब्राह्मण श्राद्ध, स्थालिपाक, यज्ञ या पहुनाई में उसे साथ खिलायेंगे ?

खिलायेंगे, हे गौतम।

क्या ब्राह्मण उसे मंत्र (वेद) बँचायेंगे ?

बँचायेंगे, हे गौतम।

उसे स्त्री (ब्राह्मणी) पाने में देर होगी या नहीं ?

नहीं रुकावट होगी।

क्या क्षत्रिय उसे क्षत्रिय अभिषेक से अभिषिक्त करेंगे ?

नहीं, हे गौतम, क्योंकि माता की ओर से, हे गौतम, ठीक नहीं है।

तो अंबष्ट, यदि एक ब्राह्मण कुमार क्षत्रिय-कन्या के साथ सहवास करे और उनके सहवास से पुत्र उत्पन्न हो। जो वह ब्राह्मण कुमार से क्षत्रिय कन्या में पुत्र उत्पन्न है, क्या वह ब्राह्मणों में आसन पानी पायेगा ?

पायेगा, हे गौतम।

क्या ब्राह्मण श्राद्ध, स्थालिपाक, यज्ञ या पहुनाई में उसे साथ खिलायेंगे ?

खिलायगे, हे गौतम।

ब्राह्मण उसे मंत्र बँचायेंगे या नहीं ?

बँचायेंगे, हे गौतम।

क्या उसे ब्राह्मण स्त्री पाने में रुकावट होगी ?

रुकावट न होगी, हे गौतम।

क्या उसे क्षत्रिय क्षत्रिय-अभिषेक से अभिषिक्त करेंगे।

नहीं, हे गौतम।

सो किस हेतु।

क्योंकि, हे गौतम, पिता की ओर से वह ठीक नहीं हैं।

इस प्रकार, अंबष्ट, स्त्री की ओर से भी, पुरुष की ओर से भी क्षत्रिय श्रेष्ठ है, ब्राह्मण हीन है। तो अम्बष्ट, यदि ब्राह्मण किसी ब्राह्मण को छुरी से मुंडित करा, घोड़े के चाबुक से मार कर, राष्ट्र या नगर से निर्वासित कर दें। क्या वह ब्राह्मणों में आसन-पानी पायेगा ?

नहीं, हे गौतम।

क्या ब्राह्मण श्राद्ध, स्थालिपाक, यज्ञ, पहुनाई में उसे खिलावेंगे ?

नहीं, हे गौतम।

उसे ब्राह्मण स्त्री पाने में रुकावट होगी या नहीं ?

रुकावट होगी, हे गौतम।

तो अंबष्ट, यदि क्षत्रिय एक पुरुष को किसी कारण से छुरे से मुंडित करा, घोड़े के चाबुक से मार कर, राष्ट्र या नगर से निर्वासित कर दे, क्या वह ब्राह्मणों में आसन-पानी पायेगा ?

पायेगा, हे गौतम।

क्या ब्राह्मण उसे खिलायेंगे ?

खिलायेंगे हे गौतम।

क्या ब्राह्मण उसे मंत्र बँचायेंगे ?

बँचायेंगे, हे गौतम।

उसे स्त्री पाने में रुकावट होगी या नहीं ?

रुकावट नहीं होगी, हे गौतम।

अंबष्ट, क्षत्रिय बहुत ही नीच हो गया रहता है, जब कि उसे क्षत्रिय किसी कारण मुंडित

करते हैं। इस प्रकार, अंबष्ट, जबकि वह क्षत्रियों में परम नीचता को प्राप्त है, तब भी क्षत्रिय ही श्रेष्ठ है, ब्राह्मण हीन है। ब्रह्मा सनत्कुमार ने भी, अंबष्ट, यह गाथा कही है:—

गोत्र ले कर चलनेवाले जनों में क्षत्रिय श्रेष्ठ है।

जो विद्या और आचारण से युक्त हैं, वह देवमनुष्यों में श्रेष्ठ है।

सो अंबष्ट। यह गाथा ब्रह्मा सनत्कुमार ने उचित ही गायी है। अनुचित नहीं गाई है, सुभाषित है दुर्भाषित नहीं, सार्थक है निरर्थक नहीं, मैं भी सहमत हूं, मैं भी, अंबष्ट, कहता हूं गोत्र लेकर चलनेवाले जनों में क्षत्रिय श्रेष्ठ है। (दीघ० १, ३, ३)।

बुद्ध भगवान् के शील का वर्णन दीर्घनिकाय (१, १, १) में किया गया है। इस वर्णन से यह पता चलता है कि किस प्रकार के दुर्गुण, विनोद तथा विलास उस समय नागरिकों में प्रचलित थे इस दृष्टि से यह पूरा उद्धरण नीचे दिया जाता है।

१. प्रारंभिक शील

भिक्षुओ, यह शील तो बहुत छोटा और गौण है जिसके कारण अनाड़ी लोग मेरी प्रशंसा करते हैं। भिक्षुओ, वह छोटा और गौण शील कौन सा है जिसके कारण अनाड़ी मेरी प्रशंसा करते हैं? वे ये हैं, श्रमण गौतम जीवहिंसा को छोड़ हिंसा से विरत रहता है। वह दंड और शस्त्र को त्याग कर लज्जावान, दयालु और सब जीवों का हित चाहने वाला है।

भिक्षुओ, अथवा अनाड़ी मेरी इस प्रकार प्रशंसा करते हैं। श्रमण गौतम चोरी को छोड़कर चोरी से विरत रहता है। वह किसी से दी गई चीज़ को ही स्वीकार करता है, किसी से दी गई चीज की अभिलाषा करता है और इस तरह पवित्र आत्मावाला होकर विहार करता है।

भिक्षुओ, अथवा अनाड़ी लोग इस प्रकार मेरी प्रशंसा करते हैं। व्यभिचार छोड़ कर श्रमण गौतम निकृष्ट स्त्रीसंभोग से सर्वथा विरक्त रहता है।

भिक्षुओ, मिथ्याभाषण को छोड़ गौतम मिथ्याभाषण से सदा विरत रहता है।

वह सत्यवादी, सत्यव्रत, दृढवक्ता, विश्वासपात्र और जैसी कहनी वैसी करनी वाला है।

भिक्षुओ, चुग़ली करना छोड़ श्रमण गौतम चुग़ली करने से विरत रहता है। फूट डालने के लिए न इधर की बात उधर कहता है, न उधर की इधर। बल्कि फूटे हुए लोगों को मिलानेवाला, मिले हुए लोगों के मेल को और भी दृढ करनेवाला, एकता का प्रिय, एकरत तथा एकता से प्रसन्न होनेवाला और एकता स्थापित करने के लिए कहनेवाला है।

भिक्षुओ, कठोर भाषण को छोड़ श्रमण गौतम कठोर भाषण से विरत रहता है। वह निर्दोष, मधुर, प्रेमपूर्ण, जंचनेवाला, शिष्ट और बहुजनप्रिय भाषण करनेवाला है।

भिक्षुओ, निरर्थक बातूनीपन को छोड़ श्रमण गौतम निरर्थक बातूनपन से विरत रहता है। वह समयोचित बोलने वाला, यथार्थवक्ता, आवश्यकोचित वक्ता, धर्म और विनय की बात बोलनेवाला तथा सारयुक्त कहनेवाला है।

भिक्षुओ, श्रमण गौतम किसी बीज या प्राणी के नाश करने से विरत रहता है। एकाहारी



बुद्धगया का मंदिर

है, और बेवक़्त के खाने से, नृत्य, गीत, वाद और अश्लील हाव-भाव के दर्शन से विरत रहता है। माला, गंध, विलेपन, उबटन तथा अपने को सजने-धजने से श्रमण गौतम विरत रहता है। श्रमण गौतम ऊंची और बहुत ठाटबाट की शैया से विरत रहता है। कच्चे अन्न के ग्रहण से विरत रहता है। कच्चे मांस के ग्रहण से विरत रहता है। स्त्री और कुमारी के ग्रहण से विरत रहता है। कुत्ता और सुअर के ग्रहण से विरत रहता है। दास और दासी के ग्रहण से विरत रहता है। बकरी या भेड़ के ग्रहण से विरत रहता है। हाथी, गाय, घोड़ा और खच्चर ग्रहण से, खेत तथा माल-असबाब के और बटखरे में ठग बनीजी करने से, दलाली, ठगी, और भूठ। सोना-चाँदी बनाने के कुटिल काम से, हाथ-पैर काटने, वध करने से, बाँधने, लूटने-पीटने और डाका डालने के काम से विरत रहता है।

भिक्षुओ, अनाड़ी तथागत की प्रशंसा इसी प्रकार करते हैं।

२. मध्यमशील

भिक्षुओ, अथवा अनाड़ी मेरी इस प्रकार प्रशंसा करते हैं—जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण गृहस्थों के द्वारा श्रद्धापूर्वक दिये गये भोजन को खाकर इस प्रकार के सभी बीज और प्राणों के नाश में लगे रहते हैं, जैसे मूलबीज, (जिनका उगना मूल से होता है), स्कंधबीज (जिसका प्ररोह गाँठ से होता है) जैसे ईख, फलबीज और अग्रबीज, उस प्रकार गौतम बीज और प्राणी का नाश नहीं करता।

भिक्षुओ, अथवा जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण इस प्रकार के जोड़ने और बटोरने में लगे रहते हैं, जैसे अन्न, पान, वस्त्र, वाहन, शय्या, गंध तथा और भी वैसी ही चीजो का इकट्ठा करना, उस प्रकार श्रमण गौतम जोड़ने और बटोरने से नहीं लगा रहता है।

भिक्षुओ, अथवा जिस प्रकार कितने ही श्रमण और ब्राह्मण इस प्रकार के अनुचित दर्शन, में लगे रहते हैं, जैसे नृत्य, गीत, बाजा, नाटक, लीला, ताली, ताल देना, घड़े पर तबला बजाना, गीत-मंडली, लोहे की गोली का खेल, बाँस का खेल, धोपन हस्तियुद्ध, अश्वयुद्ध, महिषयुद्ध, वृषभ-युद्ध, बकरों का युद्ध, भेड़ों का युद्ध, मुर्गों का लड़ाना, बतखों का लड़ाना, लाठी का खेल, मुष्टि-युद्ध, कुश्ती, मारपीट का खेल, सेना, लड़ाई की चालें इत्यादि इस प्रकार श्रमण गौतम अनुचित दर्शन में नहीं लगा रहता।

भिक्षुओ, अथवा जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण जुआ आदि खेलों के नशे में लगे रहते हैं, जैसे अष्टपद, दशपद, आकाश, परिहारपथ, सन्निक, खलिक, घटिक, शलाकहस्त, अक्ष, पंगचिर, वंकक, मोक्खचिक, चिलिगुलिक, पत्ताल्हक, रथ की दौड़, तीर चलाने की बाजी, बुझौवल और नक़ल, उस प्रकार श्रमण गौतम जुआ आदि खेलों के नशे में नहीं पड़ता।

भिक्षुओ, अथवा जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण इस तरह की ऊँची और ठाट-बाट की शय्या पर सोते हैं, जैसे दीर्घ आसन, पलँग, बड़े-बड़े रोयेंवाला आसन, उजला कंबल, फूलदार बिछावन, रज़ाई, गद्दा, सिंह-व्याघ्र के चित्रवाला आसन, झालरदार आसन, काम किया,

हुआ आसन, लंबी दरी, हाथी का साज, घोड़े का साज, रथ का साज, कदलि-मृग की खाल का बना हुआ आसन, चँदवादार आसन, दोनों ओर तकिया रक्खा हुआ आसन इत्यादि, उस प्रकार श्रमण गौतम ऊँची और ठाट-बाट की शय्या पर नहीं सोता।

भिक्षुओ, अथवा जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण इस प्रकार अपने को सजने-बजने में लगे रहते हैं, जैसे उबटन लगवाना, शरीर को मलवाना, दूसरे के हाथ नहाना, शरीर दबवाना, दर्पण, अंजन, माला, लेप, मुखचूर्ण, मुखलेपन, हाथ के आभूषण, शिखा में कुछ बाँधना, छड़ी, तलवार, छाता, सुंदर जूता, टोपी, मणि, चँवर, लंबे-लंबे झालरवाले साफ़ उजले कपड़े आदि, उस प्रकार श्रमण गौतम अपने को सजने-धजने में नहीं लगा रहता।

भिक्षुओ, अथवा जिस प्रकार कितने ही श्रमण और ब्राह्मण इस प्रकार की व्यर्थ की कथा में लगे रहते हैं, जैसे राजकथा, चोर, महामंत्री, सेना, भय, युद्ध, अन्न, पान, वस्त्र, शय्या, माला, गंध, जाति, रथ, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, स्त्री, सूर, चौरस्ता, पनघट और भूतप्रेत की कथायें संसार की विविध घटनायें, सामुद्रिक घटनायें तथा इसी तरह की इधर-उधर की जनश्रुतियां, उस प्रकार श्रमण गौतम तिरश्चीन कथाओं में नहीं लगता।

भिक्षुओ, अथवा जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण इस प्रकार लड़ाई-झगड़ों की बातों में लगे रहते हैं, जैसे तुम इस मत को नहीं जानते, मैं जानता हूं, तुम क्या जानोगे, तुमने इसे ठीक नहीं समझा है, मैं इसे ठीक-ठीक समझता हूं, मैं धर्मानुकूल कहता हूं, तुम धर्मविरुद्ध कहते हो, जो पहले कहना चाहिए था उसे तुमने पीछे कह दिया और जो पीछे कहना था उसे पहिले कह दिया, बात कट गई, तुम पर दोषारोपण किया गया, तुम पकड़ लिये गये, इस आपत्ति से छूटने की कोशिश करो, यदि हो सके तो उत्तर दो, उस प्रकार गौतम लड़ाई-झगड़े की बात में नहीं रहता।

भिक्षुओ, अथवा कितने श्रमण और ब्राह्मण इधर-उधर जैसे राजा, महामंत्री, क्षत्रिय, ब्राह्मणों, गृहस्थों, कुमारों के दूत का काम करते फिरते हैं। वहां जाओ, यहां आओ, यह लावो, यह वहां ले जाओ इत्यादि, उस प्रकार श्रमण गौतम दूत का काम नहीं करता।

भिक्षु अथवा जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण पाखंडी और वंचक, बातूनी, ज्योतिष के पेशेवाले, जादू-मंत्र दिखानेवाले, और लाभ से लाभ की खोज करते हैं, वैसा श्रमण गौतम नहीं है।

३. महाशील

जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक दिये गये भोजन को खाकर इस प्रकार हीन-विद्या से जीवन बिताते हैं, जैसे अंगविद्या, उत्पाद, स्वप्न, लक्षण, मूषिक-विष, अग्निहवन, दर्वीहोम, तुष-होम, कण-होम, तंडुल-होम, घृत-होम, तेल-होम, मुख में घी लेकर कुल्ले से होम, रुधिर-होम, वास्तुविद्या, क्षेत्रविद्या, शिव भूत, भूरि, सर्प, विष, बिच्छू के झाड़फूँक की विद्या, मूषिक-विद्या, पक्षि, शर-परित्राण (मंत्रजाप जिससे लड़ाई में बाण शरीर पर न गिरे) और

मृग, चक्र उस प्रकार श्रमण गौतम इस प्रकार ही हीन-विद्या से निंदित जीवन नहीं बिताता।

भिक्षुओ, अथवा जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण इस प्रकार की हीन-विद्या में निंदित जीवन बिताते हैं जैसे, मणिलक्षण, वस्त्र, दंड, असि, वाण, धनुष, आयुध, स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, दास,दासी, हस्ति, अश्व, वृषभ, भैंस, गाय अज, मेष, मुर्गी, बत्तख, गोह, कर्णिका, कच्छप और मृग लक्षण, उस प्रकार श्रमण इस प्रकार की हीन विद्या से अपना निंदित जीवन नहीं बिताता।

भिक्षुओ, अथवा, जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण निंदित जीवन बिताते हैं जैसे राजा बाहर निकल जायगा, नहीं निकल जायगा, यहां का राजा बाहर निकल जायगा, बाहर का राजा यहां आयेगा, यहां के राजा की जीत होगी, और बाहर के राजा की हार, यहां के राजा की हार होगी और बाहर के राजा की जीत, इसकी जीत होगी और उसकी हार, श्रमण गौतम इस प्रकार की हीन-विद्या से निंदित जीवन नहीं बिताता।

भिक्षुओ, अथवा जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण निंदित जीवन बिताते हैं, जैसे चंद्रग्रहण होगा, सूर्यग्रहण नक्षत्रग्रहण होगा, चंद्रमा और सूर्य अपने अपने मार्ग ही पर रहेंगे, चंद्रमा-सूर्य अपने मार्ग पर से दूसरे मार्ग पर चले जायेंगे, नक्षत्र अपने मार्ग पर रहेगा, मार्ग से हट जायगा, उल्कापात होगा, दिशादाह होगा, भूकंप होगा, सूखा बादल गिरेगा, चंद्रमा-सूर्य और नक्षत्रों का उदय अथवा अस्त सदोष होगा और शुद्ध होना होगा, चंद्रग्रहण का यह फल होगा, चंद्रमा, सूर्य और नक्षत्र व उदय-अस्त सदोष या निर्दोष होने से यह फल होगा, उस प्रकार श्रमण गौतम इस प्रकार की हीन-विद्या से अपना निंदित जीवन नहीं बिताता।

भिक्षुओ, अथवा जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण इस प्रकार निंदित जीवन बिताते हैं, जैसे अच्छी वृष्टि होगी, बुरी होगी, सस्ती होगी, मँहगी पड़ेगी, कुशल होगा, भय होगा, रोग होगा, आरोग्य होगा, हस्तरेखा-विद्या, गणना, कवितापाठ इत्यादि से, उस प्रकार श्रमण गौतम नहीं बिताता है।

भिक्षुओ, अथवा जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण इस प्रकार निंदित जीवन बितात हैं, जैसे सगाई-विवाह के लिए उचित नक्षत्र बतलाना, तलाक़ देने के लिए उचित नक्षत्र बतलाना, उधार या ऋण में दिये गये रुपये के वसूल करने के लिए उचित नक्षत्र बतलाना, उधार या ऋण देने के लिए उचित नक्षत्र बतलाना, सजना-धजना, गर्भ पुष्टि करना, मंत्र-बल से जीभ को बाँध देना, ठुड्डी को बाँध देना, दूसरे के हाथ को उलट देना, दूसरे के कान को बहरा बना देना, दर्पण पर देवता को बुलाकर प्रश्न पूछना, कुमारी के शरीर पर और देववाहिनी के शरीर पर देवता बुलाकर प्रश्न पूछना, सूर्य-पूजा, महाब्रह्म-पूजा, मंत्र के बल मुँह से अग्नि निकालना, उस प्रकार श्रमण गौतम नहीं बिताता है।

भिक्षुओ, अथवा जिस प्रकार कितने श्रमण और ब्राह्मण इस प्रकार निंदित जीवन बिताते हैं, जैसे मिन्नत मानना, मिन्नत पुराना, मंत्र का अभ्यास करना, मंत्रबल से पुरुष को नपुंसक और नपुंसक को पुरुष बनाना, इंद्रजाल, बलिकर्म, आचमन, स्नान-कार्य, अग्नि-होम, दवा देकर वमन,

विरेचन, ऊर्ध्वविरेचन, शिरोविरेचन कराना, कान में डालने के लिए तेल तैयार कराना, आँख के लिए, नाक में तेल देकर छिंकवाना, अंजन तैयार करना, छुरी-काँटा की चिकित्सा करना, वैद्यकर्म, उस प्रकार श्रमण गौतम नहीं बिताता।

भिक्षुओ, यह शील बहुत छोटे और गौण हैं जिसके कारण अनाड़ी मेरी प्रशंसा करते हैं।

वैर से वैर शांत नहीं होता, अवैर से ही वैर शांत होता है यह सिद्धांत विनयपिटक (महावग्ग, स्कं० १०, १; ६, ७)। में एक सुंदर कथा के रूप में दिया गया है:—

उस समय भिक्षुसंघ में झगड़ा करते, कलह करते, विवाद करते, एक-दूसरे को मुखरूपी शक्ति (हथियार) से बेधते फिरते थे। वह झगड़े को शांत न कर सकते थे। तब एक भिक्षु जहां भगवान थे वहां गया। जाकर भगवान को अभिवादन कर एक ओर खड़ा हो गया। एक ओर खड़े हुये उस भिक्षु ने भगवान से यह कहा—

भंते, यहां संघ में भिक्षु झगड़ा करते, झगड़े को शांत नहीं कर सकते। अच्छा हो भंते, यदि भगवान जहां वह भिक्षु हैं वहां चलें।

भगवान ने मौन से स्वीकार किया। तब भगवान जहां वे भिक्षु थे वहां गए। जाकर उन भिक्षुओं से बोले।

बस भिक्षुओ, मत झगड़ा, कलह, विग्रह, विवाद करो।

ऐसा कहने पर एक अधर्मवादी भिक्षु ने भगवान से यह कहा:—

भंते, भगवान धर्मस्वामी रहने दें, परवाह मत करें। भंते, भगवान, धर्मस्वामी, दृष्ट धर्म अर्थात् इसी जन्म के सुख के साथ विहार करें। हम इस झगड़े, कलह विवाद, विग्रह जान लेंगे।

दूसरी बार भी भगवान ने उन भिक्षुओं से यह कहा, बस इत्यादि।

दूसरी बार भी उस अधर्मवादी भिक्षु ने भगवान से यह कहा, भंते इत्यादि।

तब भगवान ने भिक्षुओं को संबोधित किया—भिक्षुओ, भूतकाल में वाराणसी में ब्रह्मदत्त नामक काशिराज था। वह महाधनी, महा-भोगवान, महासैन्ययुक्त, महावाहनयुक्त, महाराज्ययुक्त, भरे कोष्ठागारवाला था। उस समय दीधित नामक कोसल राजा था, जो कि दरिद्र, अल्पधन, अल्पभोग, अल्पसैन्य, अल्पवाहन, थोड़े राज्य वाला, अपरिपूर्ण कोष, कोष्ठागारवाला था। तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त ने चतुरंगिनी सेना तैयार कर कोशलराज दीधित पर चढ़ाई की। तब भिक्षुओ, कोशलराज दीधिति को ऐसा हुआ—काशिराज ब्रह्मदत्त आढ्य है और मैं दरिद्र हूं। मैं काशिराज ब्रह्मदत्त से भिड़ंत भी नहीं ले सकता हूं। क्यों न पहले ही नगर से चला जाऊं। तब भिक्षुओ, कोसलराज दीधिति महिषी (पटरानी) को लेकर पहले ही नगर से भाग गया। तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त ने कोसलराज दीधिति की सेना, वाहन, देश, कोष और कोष्ठाकार को जीत कर अधिकार में किया।

तब भिक्षुओ, कोसलराज दीधिति अपनी स्त्री सहित जिधर वाराणसी थी उधर को चला। क्रमशः जहां वाराणसी है वहां पहुँचा। तब भिक्षुओ, कोसलराज दीघिति ने अपनी स्त्री सहित वाराणसी के एक कोने में कुम्हार के घर में अज्ञात वेष से परिव्राजक का रूप धारण कर वास किया। तब भिक्षुओ, कोसलराज दीघिति की महिषी अचिर में ही गर्भिणी हुईं। उसको ऐसा दोहद हुआ कि वह सूर्य के उदय के समय क्रीड़ाक्षेत्र में सन्नाह और कवच से युक्त चतुरंगिनी सेना को खड़ी देखना चाहती थी, और खड्ग के धोवन को पीना चाहती थी। तब भिक्षुओ, कोसलराज दीघिति की महिषी ने कोसलराज दीघिति से यह कहा :—

देव मैं गर्भिणी हूं। मुझे ऐसा दोहद उत्पन्न हुआ है कि सूर्य के उदय के समय क्रीड़ाक्षेत्र में सन्नाह और वर्म से युक्त चतुरंगिनी सेना को खड़ी देखना चाहती हूं, और खड्ग की धोवन को पीना चाहती हूं।

देवि, दुर्गति में पड़े हम लोगों को कहां से क्रीड़ाक्षेत्र में सन्नाह और वर्म से युक्त चतुरंगिनी सेना खड़ी होगी और कहां से खड्ग की धोवन आवेगी।

देव, यदि मैं न पाऊँगी तो मर जाऊँगी।

भिक्षुओ, उस काशिराज ब्रह्मदत्त का पुरोहित कोसलराज दीघिति का मित्र था। तब भिक्षुओ, कोसलराज दीघिति जहां काशीराज ब्रह्मदत्त का पुरोहित था वहां गया। जाकर पुरोहित ब्राह्मण से यह बोला :—

सौम्य, तेरी सखिनी गर्भिणी है। उसको इस प्रकार का दोहद उत्पन्न हुआ है।

तो देव, हम भी देवी को देखना चाहते हैं।

तब भिक्षुओ, कोसलराज दीघिति की महिषी जहां काशिराज ब्रह्मदत्त का पुरोहित ब्राह्मण था वहां गई। पुरोहित ब्राह्मण ने दूर ही से कोसलराज दीघिति की महिषी को आते देखा। देख कर आसन से उठ कर कंधे पर उत्तरासंघ कर जिधर कोसलराज दीघिति की महिषी थी उधर हाथ जोड़ तीन बार उदान (चित्तोल्लास से निकला शब्द) कहा—अहो कोसलराज कोख में हैं, अहो कोसलराज कोख में हैं, कोसलराज कोख में हैं। और रानी से कहा—देवि, प्रसन्न हो, तू सूर्य के उदय के समय क्रीड़ाक्षेत्र में सन्नाह और वर्म से युक्त चतुरंगिनी सेना को खड़ी देखेगी और खड्ग की धोवन को पियेगी।

तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त का पुरोहित ब्राह्मण जहां काशिराज ब्रह्मदत्त था वहां गया। जाकर यह बोला। देव, ऐसी साइत है इसलिए कल सूर्य के उदय के समय क्रीड़ास्थल में सन्नाह और वर्म ये युक्त चतुरंगिनी सेना खड़ी हो और खड्ग धोये जायें।

तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त ने उन आदमियों को आज्ञा दी—भणे, जैसा पुरोहित ब्राह्मण कहते हैं, वैसा करो।

भिक्षुओ, इस प्रकार कोसलराज दीघिति की महिषी ने सूर्य के उदय के समय क्रीड़ास्थल में सन्नाह और वर्म से युक्त चतुरंगिनी सेना को खड़ी देख पाया तथा खड्ग की धोवन को पी पाया।

तब भिक्षुओ, कोसलराज दीधिति की महिषी ने उस गर्भ के पूर्ण होने पर पुत्र प्रसव क्रिया। माता-पिता ने उसका नाम दीर्घायु रक्खा। तब भिक्षुओ, बहुत काल न जाते-जाते दीर्घायु कुमार विज्ञ हो गया। कोसलराज दीधिति को वह हुआ—यह काशिराज ब्रह्मदत्त हमारे अनर्थ का करने वाला है। इसने हमारी सेना, वाहन, देश, कोष्ठ और कोष्ठागार को छीन लिया है। यदि यह जान पायेगा तो हम तीनों को मरवा डालेगा। क्यों न मैं दीर्घायु कुमार को नगर से बाहर बसा दूं।

तब भिक्षुओ, कोसलराज दीधिति ने दीर्घायु कुमार को नगर से बाहर बसा दिया। दीर्घायु कुमार नगर से बाहर बसते थोड़े ही दिनों में सारे शिल्पों को सीख गया। उस कोसलराज दीधिति का हजाम काशीराज ब्रह्मदत्त के पास रहता था। भिक्षुओ, एक समय कोसलराज दीधिति के हजाम ने कोसलराज दीधिति की स्त्री सहित वाराणसी के एक कोने में कुमार के घर में अज्ञात वेष में परिब्राजक क रूप में वास करते देखा। देखकर जहां काशिराज ब्रह्मदत्त था गया। जाकर काशिराज ब्रह्मदत्त स यह बोला:—

देव, कोसलराज दीधिति स्त्री सहित वाराणसी में परिब्राजक के रूप में वास कर रहा है।

तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त ने आदमियों को आज्ञा दी। तो भणे, कोसलराज दीधिति को स्त्री सहित ले आओ।

अच्छा देव, कह वे आदमी काशिराज ब्रह्मदत्त को उत्तर दे कोसलराज दीधिति को स्त्री सहित ले आए।

तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त ने आदमियों को आज्ञा दी—तो भणे, कोसलराज दीधिति को स्त्री सहित मजबूत रस्सी से पीछे की ओर बाँह करके अच्छी तरह बाँध, छुरे से मुंडवा, ज़ोर की आवाज़ वाले नगाड़े के साथ, एक सड़क से दूसरी सड़क पर, एक चौरास्ते से दूसरे चौरास्ते पर घुमा, दक्खिन दरवाज़े से नगर के दक्खिन की ओर चार टुकड़े कर चारों दिशाओं में बलि फेंक दी।

अच्छा देव, कह वे आदमी काशिराज ब्रह्मदत्त को उत्तर दे कोसलराज दीधिति की स्त्री सहित मजबूत रस्सी से पीछे की ओर बाँह बाँध, छुरे से सिर मुंड़वा, ज़ोर के आवाज़ वाले नगाड़े के साथ एक सड़क से दूसरी सड़क पर, एक चौरास्ते से दूसरे चौरास्ते पर घुमाते थे।

तब भिक्षुओ, दीर्घायु कुमार को यह हुआ मुझे माता-पिता का दर्शन किए हुए देर हुई। चलो माता-पिता के दर्शन करूं। तब भिक्षुओ, दीर्घायु कुमार ने वाराणसी में प्रवेश कर माता-पिता को मोटी रस्सी से बाहें पीछे की ओर बँधे, एक चौरास्ते से दूसरे चौरास्ते पर घुमाते देखा। देखकर जहां माता-पिता थे वहां गया। कोसलराज दीधिति ने दूर ही से कुमार दीर्घायु को आते देखा। देखकर दीर्घायु कुमार से यह कहा:—

तात दीर्घायु, मत तुम छोटा-बड़ा देखो। तात दीर्घायु, बैर से बैर शांत नहीं होता, अवैर से ही तात दीर्घायु, वैर शांत होता है।

ऐसा कहने पर भिक्षुओ, उन आदमियों ने कोसलराज दीधिति से यह कहा—यह कोसलराजा उन्मत्त हो बक-झक कर रहा है। दीर्घायु इसका कौन है, किसको यह ऐसे कह रहा है—तात दीर्घायु, मत तुम छोटा-बड़ा देखो, अवैर से ही तात दीर्घायु, वैर शांत होता है।

भणे, मैं उन्मत्त हो बक-झक नहीं कर रहा हूं। मेरी बात को जो विज्ञ है वह जानेगा।

भिक्षुओ, दूसरी बार भी तीसरी बार भी कोसलराज दीघिति ने कुमार दीर्घायु से यह कहा। तात छोटा-बड़ा मत देखो, अवैर से ही तात दीर्घायु, वैर शांत होता है।

तीसरी बार भिक्षुओ, उन आदमियों ने कोसलराज दीघिति से यह कहा यह कोसलराज दीघिति उन्मत्त हो बक-झक रहा है।

भणे, मैं उन्मत्त हो बक-झक नहीं रहा हूं।

तब भिक्षुओ, वे आदमी कोसलराज दीघिति को स्त्री सहित एक सड़क से दूसरी सड़क पर, एक चौरास्ते से दूसरे चौरास्ते पर घुमा, दक्षिण द्वार से ले जा, नगर के दक्षिण चार टुकड़े कर, चारों दिशाओं में बलि डाल, पहरेदार रख, चले गए।

तब भिक्षुओ, दीर्घायु कुमार ने वाराणसी में जा शराब ले पहरेदारों को पिलाया। जब वे मतवाले होकर पड़ गए। तब लकड़ी ला, चिता बना, माता-पिता के शरीर को चिता पर रख, आग दे, हाथ जोड़, तीन बार चिता की प्रदक्षिणा की।

उस समय भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त अपने महल पर था। काशिराज ब्रह्मदत्त ने दीर्घायु को तीन बार चिता की प्रदक्षिणा करते देखा। देखकर उसको ऐसा हुआ निस्संशय वह आदमी कोसलराज दीधिति का जातिवाला या रक्तसंबंधी है। अहो, मेरे अनर्थ के लिए किसी ने यह बात मुझे नहीं बतलाई।

तब भिक्षुओ, दीर्घायु कुमार अरण्य में जा, पेट भर रो, आँसू पोंछ, वाराणसी में प्रवेश कर, अंतःपुर के पास की हथसार में जा, महावत से बोला––आचार्य, मैं आपका शिल्प सीखना चाहता हूं।

तो भणे, माणवक सीखो।

तब भिक्षुओ, दीर्घायु कुमार रात के भिनसार को हथसार में मंजु स्वर से गाता और वीणा बजाता था। काशिराज ब्रह्मदत्त ने रात के भिनसार को उठ कर हथसार में मंजुस्वर से गीत गाते और वीणा बजाते किसी आदमी को सुना। सुनकर आदमियों से पूछा।

भणे, यह कौन रात के भिनसार को उठकर हथसार में मंजु स्वर से गाता तथा वीणा बजाता था?

देव, अमुक महावत का शिष्य माणवक रात के भिनसार को उठकर मंजु स्वर से गाता और वीणा बजाता था।

तो भणे, उस माणवक को यहां ले आओ।

अच्छा देव, कह वे आदमी काशिराज ब्रह्मदत्त को उत्तर दे दीर्घायु कुमार को ले आये।

राजा ने पूछा भणे माणवक, क्या तू रात के भिनसार को उठ कर मंजु स्वर से गाता और वीणा बजाता था?

हां, देव।

तो भणे माणवक, गाओ और वीणा बजाओ।

अच्छा देव, कह दीर्घायु कुमार ने काशिराज ब्रह्मदत्त को संतुष्ट करने की इच्छा से मंजु स्वर से गाया और वीणा बजाया।

भणे माणवक, तू मेरी सेवा में रह।

अच्छा देव, कह दीर्घायु कुमार ने काशिराज ब्रह्मदत्त को उत्तर दिया।

तब भिक्षुओ, दीर्घायु कुमार काशिराज ब्रह्मदत्त का पहले उठनेवाला, पीछे सोनेवाला, क्या काम है पूछनेवाला, प्रियचारी और प्रियवादी सेवक हो गया। तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त ने बहुत थोड़े ही समय बाद दीर्घायु कुमार को अपने अंतरंग के विश्वसनीय स्थान पर स्थापित किया।

एक बार काशिराज ब्रह्मदत्त ने दीर्घायु कुमार से यह कहा——तो भणे माणवक, रथ जोतो शिकार के लिए चलेंगे।

अच्छा देव, कह उत्तर दे, दीर्घायु कुमार ने रथ जोत काशिराज ब्रह्मदत्त से यह कहा।

देव, रथ जुत गया अब जिसका काल समझते हों वैसा करे।

तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त रथ पर चढ़ा और दीर्घायु कुमार ने रथ को हाँका। उसने ऐसे रथ हांका कि सेना दूसरी ओर चली गई और रथ दूसरी ओर। तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त ने दूर जाकर दीर्घायु कुमार से कहा।

तो भणे माणवक, रथ को खोलो थक गया हूं, लेटूँगा।

अच्छा देव, काशिराज ब्रह्मदत्त को उत्तर दे, रथ खोल पृथ्वी पर पल्थी मार कर बैठ गया।

तब काशिराज ब्रह्मदत्त दीर्घायु कुमार की गोद में सिर रखकर सो गया। थका होने के कारण क्षण भर ही में उसे नींद आ गई। तब भिक्षुओ, दीर्घायु कुमार को यह हुआ——यह काशिराज ब्रह्मदत्त हमारे बहुत से अनर्थों को करनेवाला है। इसने हमारी सेना, वाहन, देश, कोष और कोष्ठागार को छीन लिया। इसने मेरे माता-पिता को मार डाला। यह समय है कि जब मैं वैर साधूं। ऐसा सोच म्यान से उसने तलवार निकाली। तब भिक्षुओ, दीर्घायु कुमार को यह हुआ——मरने के समय पिता ने मुझे कहा था तात दीर्घायु, मत तुम बड़ा-छोटा देखो, तात दीर्घायु वैर से वैर शांत नहीं होता, अवैर से ही तात दीर्घायु वैर शांत होता है। यह मेरे लिए उचित नहीं कि मैं पिता के वचनों का उल्लंघन करूं ऐसा सोच म्यान में तलवार डाल दी। दूसरी बार भी, तीसरी बार भी, दीर्घायु को यह हुआ।

तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त भयभीत, उद्विग्न, शंकायुक्त, त्रस्त हो, सहसा जाग उठा। तब दीर्घायु कुमार ने काशिराज ब्रह्मदत्त से यह कहा, देव, क्यों तुम भयभीत हो जाग उठे।

भणे माणवक, मुझे स्वप्न में कोसलराज दीघिति के पुत्र दीर्घायु कुमार ने खड्ग से मार गिराया था।

इसी से मैं भयभीत हो जाग उठा।

तब भिक्षुओ, दीर्घायु कुमार ने बायें हाथ से काशिराज ब्रह्मदत्त के सिर को पकड़ दाहिने हाथ में खड्ग ले, काशिराज ब्रह्मदत्त से यह कहा।

देव, मैं ही हूँ कोसलराज दीघिति का पुत्र दीर्घायु कुमार। तुम हमारे बहुत अनर्थ करने वाले हो। तुमने हमारी सेना, वाहन, देश, कोष और कोष्ठागार को छीन लिया। तुमने मेरे माता पिता को मार डाला। यही समय है कि मैं पुराने वैर को साधूं।

तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त दीर्घायु कुमार के पैरों में सिर से पड़, दीर्घायु कुमार से यह बोला। तात दीर्घायु, मुझे जीवनदान दो। तात दीर्घायु, मुझे जीवनदान दो। देव को जीवनदान मैं दे सकता हूँ देव भी मुझे जीवनदान दें।

तो तात दीर्घायु तुम मुझे जीवनदान दो, मैं तुझे जीवनदान देता हूँ।

तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त और दीर्घायु कुमार ने एक दूसरे को जीवन दान दिया और एक ने दूसरे का हाथ पकड़ा और द्रोह न करने की शपथ की।

तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त ने दीर्घायु कुमार से यह कहा।

तो तात दीर्घायु, रथ जोतो चलें।

अच्छा देव, दीर्घायु कुमार ने काशिराज ब्रह्मदत्त को उत्तर दे, रथ को जोत, काशिराज ब्रह्मदत्त से कहा।

देव, अब तुम्हारा रथ जुत गया। अब जिसका समय समझो वैसा करो।

तब भिक्षुओ काशिराज ब्रह्मदत्त रथ पर चढ़ा और दीर्घायु कुमार ने रथ हाँका। उसने रथ को ऐसा हाँका कि थोड़ी दर में सेना से मिल गया। तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त ने वाराणसी में प्रवेश कर अमात्यों और परिषदों को एकत्रित कर कहा।

भणे, यदि कोसलराज दीघिति ने पुत्र दीर्घायु कुमार को देखा तो उसका क्या करोगे?

किन्हीं-किन्हीं ने कहा, हम देव हाथ काट डालेंगे, हम देव पैर काट डालेंगे, हम देव हाथ-पैर काट लेंगे, हम देव कान काट लेंगे, हम देव नाक काट लेंगे, हम देव नाक-कान काट लेंगे, हम देव सिर काट लेंगे।

भणे, यह कोसलराज दीघिति का पुत्र दीर्घायु कुमार है। इसका तुम कुछ नहीं कर पाओगे। इसने मुझे जीवनदान और मैंने इसे जीवनदान दिया।

तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त ने दीर्घायु कुमार से यह कहा।

तात दीर्घायु, पिता ने मरने के समय जो तुमसे कहा, तात दीर्घायु मत तुम छोटा-बड़ा देखो, अवैर से ही तात दीर्घायु वैर शांत होता है। क्या सोच कर तुम्हारे पिता ने ऐसा कहा।

मत बड़ा अर्थात् मत चिरकाल तक वैर करो, यह सोच देव, मेरे पिता ने मरने के समय मत बड़ा कहा। और जो देव मेरे पिता ने मरने के समय कहा मत छोटा सो मत जल्दी मित्रों से बिगाड़ करो यह सोच कर मेरे पिता ने मरने के समय कहा मत छोटा। और जो देव मेरे पिता ने मरने के समय कहा, वैर से वैर शांत नहीं होता अवैर से ही वैर शांत होता है, सो देव ने मेरे माता-पिता को मारा यह सोच यदि मैं देव को प्राण से मारता तो जो देव के हित चाहने-वाले हैं वे मुझे प्राण से मार देते। और फिर जो मेरे हित चाहने-वाले हैं वे उनको प्राण से मारते। इस

प्रकार वह वैर वैर से न शांत होता। किंतु इस वक्त देव ने मुझे जीवनदान दिया और मैंने देव को जीवनदान दिया इस प्रकार अवैर से वह वैर शांत होता था। देव, यह समझ कर मेरे पिता ने मरते समय कहा, तात दीर्घायु, अवैर से ही वैर शांत होता है।

तब भिक्षुओ, काशिराज ब्रह्मदत्त ने, आश्चर्य है, अद्भुत है रे, कितना पंडित यह दीर्घायु कुमार है जो कि पिता के संक्षेप से कहे का, इतना विस्तार से अर्थ जानता है, ऐसा कह उसके पिता की सेना, वाहन, देश, कोष, कोष्ठागार को लौटा दिया और अपनी कन्या को प्रदान किया।

भिक्षुओ, दंड ग्रहण करनेवाले, शस्त्र ग्रहण करनेवाले उन क्षत्रिय राजाओं का भी ऐसे आपस में मेल हो तो क्या भिक्षुओं को यह शोभा देता है कि वे ऐसे अच्छी तरह विख्यात धर्म में प्रव्रजित हुए तुम्हारा मेल न हो।

दुराचारी और सदाचारी में अंतर निम्नलिखित कथा (विनय० महावग्ग, ६, ४, ७) में स्पष्ट किया गया है।

तब भगवान राजगृह में इच्छानुसार विहार कर साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के महान् भिक्षु-संघ के साथ जहां पाटलिग्राम है उधर चारिका के लिए चल दिये। तब भगवान् क्रमशः चारिका करते जहां पाटलिग्राम है वहां पहुँचे।

पाटलिग्राम के उपासकों ने सुना कि भगवान् पाटलिग्राम आये हैं, तब उपासक जहां भगवान् थे वहां गए। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे हुये उपासकों ने भगवान से यह कहा:

भंते, भगवान् हमारे आवसथागार (अतिथिशाला) को स्वीकार करें।

भगवान ने मौन से स्वीकार किया।

तब उपासक भगवान् की स्वीकृति को जान, आसन से उठ, भगवान् को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर, जहां आवसथागार था वहां गए। जाकर चारों ओर बिछौना बिछे आवसथागार को बिछवाकर, आसनों को लगवाकर, पानी की चाटियों को रखवाकर तथा तेल प्रदीप जलवा जहां भगवान् थे वहां गए। जाकर भगवान को अभिवादन कर एक ओर खड़े हो गये। एक ओर खड़े हुये पाटलीग्राम के उपासकों ने भगवान् से यह कहा—भंते, आवसथागार में सब बिछौने बिछ गये हैं, आसन लग गये हैं, पानी की मटकियां रख दी गई हैं, तेल प्रदीप जल गये हैं। भंते, भगवान् अब जिसका समय समझेंगे। तब भगवान् पहिन कर, पात्र-चीवर ले भिक्षु-संघ के साथ जहां आवसथागार था वहां गए। जाकर पैरों को धोकर, आवसथाकार में प्रविष्ट हो, पच्छिम की दीवार के पास पूर्वाभिमुख बैठे। पाटलीग्राम के उपासक भी पैरों को धो कर, आवसथागार में प्रविष्ट हो, पूर्व की दीवाल के पास पश्चिमाभिमुख हो, जिधर भगवान् थे उधर ही मुंह कर के बैठे। तब भगवान् ने पाटलिग्राम के उपासकों को आमंत्रित किया।

गृहपतियो, दुराचार, दुःशील (दुराचारी) के ये पाँच दुष्परिणाम हैं। कौन से पाँच ?

गृहपतियो, दुःशील, दुराचारी मनुष्य आलस्य के कारण अपनी भोग-संपति की बहुत हानि करता है। दुःशील तथा दुराचार का यह पहला दुष्परिणाम है।

गृहपतियो, और फिर दुःशील दुराचारी की बदनामी होती है। दुःशीलता तथा दुराचार का यह दूसरा दुष्परिणाम है।

और गृहपतियो, दुःशील दुराचारी जिस किसी सभा में जाता है चाहे वह क्षत्रियों की सभा हो, चाहे ब्राह्मणों की सभा हो, चाहे वैश्यों की सभा हो, चाहे श्रमणों की सभा हो उसमें अविशारद हो झेंपा हुआ जाता है। दुःशील दुराचार का यह तीसरा दुष्परिणाम है।

गृहपतियो, और दुराचारी अत्यंत मूढ़ता को प्राप्त हो मरता है। दुःशील दुराचारी का यह चौथा दुष्परिणाम है।

गृहपतियो, दुःशील दुराचारी शरीर छोड़ने पर, मरने पर नरक में, निरय में उत्पन्न होता है। दुःशील दुराचारी का यह पाँचवां दुष्परिणाम है। दुःशील दुराचार के यह पाँच दुष्परिणाम हैं।

गृहपतियो, सदाचारी के पाँच सुपरिणाम हैं। कौन से पाँच ?

गृहपतियों, सदाचारी हिम्मती होने के कारण बहुत सी धन-संपत्ति प्राप्त करता है, सदाचारी का यह पहला सुपरिणाम है।

और फिर गृहपतियो, सदाचारी सदाचार-युक्त की नेकनामी होती है। सदाचारी सदाचार-युक्त का यह दूसरा परिणाम है।

और फिर गृहपतियो, सदाचारी सदाचार-युक्त जिस जिस सभा में जाता है—चाहे क्षत्रियों की सभा हो, चाहे ब्राह्मणों की सभा हो, चाहे वैश्यों की सभा हो, चाहे श्रमणों की सभा—उस सभा में वह विशारद हो निःसंकोच जाता है। सदाचारी सदाचार-युक्त का यह तीसरा सुपरिणाम है।

और फिर गृहपतियो, सदाचारी बिना मूढ़ता को प्राप्त हुए मरता है। सदाचारी के सदाचार का यह चौथा सुपरिणाम है।

और फिर गृहपतियो, सदाचारी सदाचार-युक्त शरीर छोड़ने पर, मरने पर सुगति में उत्पन्न होता है। सदाचारी के सदाचार का यह पाँचवां सुपरिणाम है।

गृहपतियो, सदाचार के यह पाँच सुपरिणाम हैं।

तब भगवान् ने बहुत रात तक उपासकों को धार्मिक कथा से संदर्शित समुत्तेजित कर उद्योजित किया।

गृहपतियो, रात बीत गई, जिसका तुम समय समझते हो वैसा करो।

अच्छा भंते, कह पाटलिग्राम-वासी उपासक आसन से उठ कर, भगवान् को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर, चले गये। तब पाटलिग्रामिक उपासकों के चले जाने के थोड़ी ही देर बाद भगवान शून्यागार में चले गये।

भिक्षुओं के जीवन-संबंधी नियम

जूतों के संबंध में नियम

उस समय नागरिकों का जीवन कितना विलासपूर्ण था इसका प्रमाण निम्नलिखित अनेक प्रकार के जूतों के उल्लेखों से मिलता है। भिक्षुओं के संबंध में किस प्रकार धीरे-धीरे नियम बने, यह बताना इन कथाओं का मुख्य उद्देश्य है।

भगवान् ने आयुष्मान् सोण को संबोधित किया। सोण तू सुकुमार है, सोण, अनुमति देता हूं तेरे लिए एक तल्ले के जूते की।

भंते, मैं अस्सी गाड़ी सोना (अशर्फ़ी) और हाथियों के सात अनीक (१ अनीक = ६ हाथी और एक हथिनी) को छोड़ घर से बेघर हो प्रव्रजित हुआ। मेरे लिए लोग कहनेवाले होंगे,सोण कोटिबीस अस्सी गाड़ी अशर्फ़ी और हाथियों के सात अनीक को छोड़ कर प्रव्रजित हुआ सो वह अब एकतल्ले जूते में आसक्त हुआ। यदि भगवान् भिक्षुसंघ के लिए अनुमति दें तो मैं भी इस्तेमाल करूंगा। यदि भगवान् भिक्षुसंघ के लिए अनुमति नहीं देंगे तो मैं भी इस्तेमाल नहीं करूँगा।

तब भगवान् ने इसी संबंध में इसी प्रकरण में धार्मिक कथा कह भिक्षुओं को संबोधित किया। भिक्षुओ, अनुमति देता हूं एक तल्ले वाले जूते की। भिक्षुओ, दो तल्ले वाले जूते को नहीं धारण करना चाहिए, न तीन तल्ले वाले जूते को धारण करना चाहिए, न अधिक तल्ले वाले जूते को धारण करना चाहिए। जो धारण करे उसे दुक्कट का दोष हो।

उस समय षड्वर्गीय भिक्षु नीलीपत्ती वाले, पीली पत्तीवाले, लालपत्ती वाले, मजीठिया रंग की पत्तीवाले, काली पत्तीवाले, महारंग से रंगी पत्तीवाले, महानाम रंग से रँगी पत्तीवाले जूते को धारण करते थे। लोग हैरान होते थे कि कैसे भिक्षु ऐसे रंगीन जूतों को धारण करते हैं जैसे कि कामभोगी गृहस्थ। भगवान् से यह बात कही। उन्होंने आज्ञा दी—भिक्षुओ, ऐसे रंगीन जूतों को नहीं धारण करना चाहिए। जो धारण करे उसे दुक्कट का दोष हो।

उस समय षड्वर्गीय भिक्षु एड़ी ढकने वाले, पुटबद्ध (यूनानी चप्पल की तरह), पडिगुंठिम (फ़ुलबूट की तरह) रूईदार, तीतर के पंखों जैसे, भेंड़ के सींग बँधे हुए, बकरे के सींग बंधे हुए, बिच्छू की डंक की तरह नोकवाले, मोरपंख सिले हुए और चित्रवाले जूतों को धारण करते थे। लोग हैरान थे कि भिक्षु लोग ऐसे अनेक किस्म के जूते धारण करते हैं, जैसे कि कामभोगी गृहस्थ। भगवान् से यह बात कही। उन्होंने आज्ञा दी—

भिक्षुओ, ऐसे अनेक क़िस्म के जूतों को नहीं धारण करना चाहिए। जो धारण करे उसे दुक्कट का दोष हो।

उस समय षड्वर्गीय भिक्षु सिंहचर्म, व्याघ्रचर्म, चीते के चर्म, हिरन के चर्म, ऊदबिलाव के चर्म, काडक के चर्म और उल्लू के चर्म से परिष्कृत जूतों को धारण करते थे। भगवान् ने यह

बात कही : "भिक्षुओ, ऐसे अनेक चर्मों के बने जूते नहीं धारण करना चाहिए। जो धारण करे उसे दुक्कट का दोष हो।

इसके आगे कथाओं के रूप में उन विशेष परिस्थितियों का वर्णन है जिनमें उपर्युक्त नियम के अपवाद बने तथा जूते पहिनने के संबंध में अन्य नियम बने, जैसे—

भिक्षुओ, अनुमति देता हूं पहिनकर छोड़े हुये बहुत तल्ले के जूते की, भिक्षुओ नया बहुत तल्लेवाला जूता नहीं पहिनना चाहिए।

भिक्षुओ, आचार्य या आचार्यतुल्यों को, उपाध्याय या उपाध्यायतुल्यों को बिना जूते के टहलते देख जूता पहिनकर नहीं टहलना चाहिए। इत्यादि।

(विनय, महा० ५, १, ४-९)

भोजन-संबंधी नियम

भिक्षुओं के आचरण के संबंध में किस तरह छोटी-छोटी बातों के विषय में नियम बनाये गये इसके उदाहरण-स्वरूप निम्नलिखित कथा विनयपिटक (चुल्लवग्ग, स्कं० ८, २-२) से उद्धृत की जाती है :—

उस समय भिक्षु भोज के समय दान का अनुमोदन न करते थे। लोग हैरान होते थे कि कैसे शाक्यपुत्रीय श्रमण भोजन के समय अनुमोदन नहीं करते। भिक्षुओं ने सुना। उन भिक्षुओं ने भगवान् से यह बात कही। भगवान् ने इसी संबंध में इसी प्रकरण में धार्मिक कथा कह भिक्षुओं को संबोधित किया।

भिक्षुओ अनुमति देता हूं, भोजन के समय अनुमोदन करने की।

• तब भिक्षुओं को यह हुआ कि किसे भोजन के समय अनुमोदन करना चाहिए। भगवान् से यह बात कही।

भिक्षुओ, अनुमति देता हूं स्थविर (वृद्ध) भिक्षु को अनुमोदन करने की।

उस समय एक पूग (बनियों के समुदाय) ने संघ को भोज दिया था।

आयुष्मान सारिपुत्र संघ-स्थविर थे। स्थविर भिक्षु को भगवान् ने भोजन के समय अनुमोदन करने की अनुमति दी है। ऐसा सोच भिक्षु आयुष्मान् सारिपुत्र को अकेले छोड़ चले गये। तब आयुष्मान् सारिपुत्र उन मनुष्यों से दान का अनुमोदन कर सबसे पीछे अकेले ही चले। भगवान् ने आयुष्मान् सारिपुत्र को दूर ही से आते देखा। देखकर आयुष्मान् सारिपुत्र से यह कहा :

सारिपुत्र, भोजन ठीक तो हुआ।

भोजन ठीक हुआ। भंते, मुझे अकेले छोड़ भिक्षु चले आये।

तब भगवान् ने इसी संबंध में इसी प्रकरण में धार्मिक कथा कह भिक्षुओं को संबोधित किया।

भिक्षुओ, अनुमति देता हूं भोजन की पाँत में चार-पाँच स्थविरों अनुस्थविरों को अनुमोदन कर लेने तक प्रतीक्षा करने की।

उस समय एक स्थविर ने शौच की इच्छा रहते प्रतीक्षा की। शौच को वह रोकते मूर्छित होकर गिर पड़ा। भगवान् से यह बात कही।

भिक्षुओ, अनुमति देता हूं काम होने पर अपने बादवाले भिक्षुओं को पूछ कर जाने की।

उस समय षड्वर्गीय भिक्षु बिना ठीक से पहने ढँके भोजन की पाँत में जाते थे। स्थविर भिक्षुओं को भी धक्का देकर बैठते थे। नवक भिक्षुओं को भी आसन से रोकते थे। संघाती को भी बिछाकर बैठते थे।

तो भिक्षुओ, भोजन की पाँति के लिए भिक्षुओं के व्रत का विधान करता हूं, जैसे भिक्षुओं को भोजन की पाँति में बर्तना चाहिए।

यदि आराम में काल की सूचना आई हो, तो तीनों मंडलों को ढाँकते, परिमंडल (चीवर) पहिन, कमरबंद को बाँध, चौपेत कर संघाटी को पहन, मुद्धी दे, धोकर पात्र ले, ठीक से, बिना जल्दी के गाँव में प्रवेश करना चाहिए। आगे बढ़कर स्थविर भिक्षुओं के आगे-आगे नहीं जाना चाहिए।

गृहस्थों के घर के भीतर, सुप्रतिछिन्न (अच्छी तरह ढके शरीरवाला) होकर जाना चाहिए, खूब संयम के साथ, नीची निगाह करके, शरीर को उतान नहीं करके घर के भीतर जाना चाहिए। हँसी-मज़ाक़ के साथ नहीं, चुपचाप घर में जाना चाहिए। देह भाँजते नहीं, बाँह भाँजते नहीं, शिर हिलाते नहीं, खंभे की तरह खड़े नहीं, देह को अवगुंठित किए नहीं, निहुरे नहीं गृहस्थ के घर के भीतर जाना चाहिए। सुप्रतिछन्न होकर घर के भीतर बैठना चाहिए। खूब संयम के साथ, नीची निगाह करके, अवगुंठित नहीं, पल्थी मार कर नहीं, स्थविर भिक्षुओं को धक्का देकर नहीं। नए भिक्षुओं को आसन से हटाकर नहीं बैठना चाहिए, संघाटी बिछा कर नहीं बैठना चाहिए। पानी लेते समय दोनों हाथ से पात्र पकड़ पानी को लेना चाहिए। नवा कर अच्छी तरह बिना घंसे पात्र को धोना चाहिए। यदि पानी फेंकने का बर्तन हो, तो नवा कर धोये पानी को उदक प्रति-ग्राहक में डाल देना चाहिए। उदक-प्रतिग्राहक को नहीं भिगोना चाहिए। यदि उदकप्रतिग्राहक नहीं हो तो नीचे कर के भूमि पर पानी डालना चाहिए जिसमें कि पास के भिक्षुओ पर पानी का छींटा न पड़े, संघाटी पर पानी का छींटा न पड़े। भात परोसते समय दोनों हाथ से पात्र को पकड़ भात को देना चाहिए। सूप के लिए जगह बनानी चाहिए। यदि घी तेल या उतरिभंग (पीछे का स्वादिष्ट भोजन) हो तो स्थविर को कहना चाहिए कि सबको बराबर दीजिए। सत्कारपूर्वक भिक्षान्न को ग्रहण करना चाहिए। पात्र के अनुसार भिक्षान्न को ग्रहण करना चाहिए। समतल रक्खे भिक्षान्न को ग्रहण करना चाहिए। जबतक सबको भात न पहुँच जाये, स्थविर को नहीं खाना चाहिए। सत्कार के साथ भिक्षान्न को खाना चाहिए। पात्र की ओर खयाल रखते हुए एक ओर से मात्रा के अनुसार सूप के साथ खाना चाहिए।

पिंड को मींज-मींज कर नहीं खाना चाहिए। अधिक की इच्छा से दाल या भाजी को भात से नहीं ढकना चाहिए। निरोग होते अपने लिए दाल या भात को माँगकर भोजन नहीं करना चाहिए। न अवज्ञा के ख्याल से दूसरे के पात्र को देखना चाहिए। न बहुत बड़ा ग्रास बनाना

चाहिए। ग्रास को गोल बनाना चाहिए। ग्रास को बिना मुख तक लाये मुख के द्वार को नहीं खोलना चाहिए। भोजन करते समय सारा हाथ मुख में नहीं डालना चाहिए। ग्रास पड़े मुख से बात नहीं करना चाहिए। ग्रास को उछाल-उछाल कर नहीं खाना चाहिए। ग्रास को काट-काट कर नहीं खाना चाहिए। गाल फुला-फुला कर नहीं खाना चाहिए। हाथ झाड़-झाड़ कर नहीं खाना चाहिए। जूठन बिखेर-बिखेर कर नहीं खाना चाहिए। जीभ निकाल कर नहीं खाना चाहिए। चप-चप कर नहीं खाना चाहिए। सुड़सुड़ा कर नहीं खाना चाहिए। हाथ चाट-चाट कर नहीं खाना चाहिए। ओठ चाट-चाट कर नहीं खाना चाहिए। जूठा लगे हाथ से पानी का बर्तन नहीं पकड़ना चाहिए। जबतक सब खा नहीं चुके संघ के स्थविर को पानी नहीं लेना चाहिए। पानी दिये जाते वक्त दोनों हाथ से पकड़ कर पानी लेना चाहिए। नवाकर बिना घंसे पात्र को धोना चाहिए। यदि पानी फेंकने का बर्तन हो, तो नवा कर उसे बर्तन में डाल देना चाहिए। यदि उदक-प्रतिग्राहक न हो, तो नवाकर भूमि पर पानी डाल देना चाहिए, जिसमें कि पास के भिक्षुओं पर पानी का छींटा न पड़े।

जूठन सहित पात्र के धोवन को घर के भीतर नहीं फेंकना चाहिए।

लौटते वक्त नवक भिक्षुओं को पहले लौटना चाहिए, स्थविर भिक्षुओं को पीछे सुप्रतिछन्न हो गृहस्थ के घर में जाना चाहिए।

भिक्षुओ, भोजन की पाँत के लिए भिक्षुओं का यह व्रत है, जैसे कि भिक्षुओं को भोजन के समय बर्तना चाहिए।

छींक आदि के मिथ्या विश्वास

उस समय बड़ी भारी परिषद् से घिरे धर्मोपदेश करते भगवान् ने छींका। भिक्षुओं में भंते, भगवान् जीते रहें, सुगत जीते रहें, कह ऊँचा शब्द महान् शब्द किया।

भिक्षुओ, छींकने पर जीते रहें कहने से क्या उसके कारण पुरुष जियेगा मरेगा ?

नहीं, भंते ।

भिक्षुओ, छींकने पर जीते रहें नहीं कहना चाहिए।

उस समय भिक्षुओं के छींकने पर लोग जीते रहें भंते कहते थे। भिक्षु संदेहयुक्त हो नहीं बोलते थे। लोग हैरान होते थे कि कैसे शाक्यपुत्रीय श्रमण छींकने पर जीते रहें भंते कहने पर नहीं बोलते। भगवान् से यह बात कही।

भिक्षुओ, गृहस्थ मांगलिक होते हैं। भिक्षुओ, अनुमति देता हूं गृहस्थों को जीते रहें भंते कहने पर चिरंजीव कहने की ।

लहसुन खाने का निषेध

उस समय भगवान बड़ी परिषद् के बीच बैठे धर्मोपदेश करते थे। एक भिक्षु ने लहसुन खाया था। भिक्षु न टोंके इस विचार से वह एक ओर अलग बैठा था। भगवान् ने उस भिक्षु को एक ओर अलग बैठा देखा। देखकर भिक्षुओं से कहा: भिक्षुओ, क्यों वह भिक्षु अलग बैठा है ?

भंते, इस भिक्षु ने लहसुन खाया है। भिक्षु न टोंकें इससे यह अलग बैठा हुआ है।

भिक्षुओ, क्या वह खाने लायक़ चीज है जिसे खाकर इस प्रकार की परिषद् से बाहर रखना पड़े ?

नहीं, भंते।

भिक्षुओ, लहसुन नहीं खाना चाहिए।

उस समय आयुष्मान सारिपुत्र के पेट में दर्द था। तब आयुष्मान् महा मोग्गलान जहां आयुष्मान सारिपुत्र से वहां गये। जाकर अयुष्मान् सारिपुत्र से यह बोले:—

आवुस सारिपुत्र, तुम्हारा पेट का दर्द किससे अच्छा होता है।

लहसुन से, आवुस।

भगवान् से यह बात कही।

भिक्षुओ, अनुमति देता हूं रोग होने पर लहसुन खाने की।

(विनय, चुल्लवग्ग, स्कं० ५, ६; ३, ४)

विनयपिटक में इस प्रकार की सैकड़ों ही रोचक कहानियां भिक्षुओं के आचार आदि के संबंध में नियम बनाने के विषय में मिलती हैं।

फलों के रसों का पान

भिक्षुओ, अनुमति देता हूं आठ पेय वस्तुओं की—आम्रपान, जंबूपान, मोच (केला) पान, मधुपान, अंगूर का रस, सालूक का रस, और फारूसक (फालसे) का रस। भिक्षुओ, अनुमति देता हूं अनाज के फल के रस को छोड़ सभी फलों के रस की, एक ढाक के रस को छोड़ सभी पत्तों के रस की, एक महुए के फूल के रस को छोड़ सभी फूलों के रस की। अनुज्ञा देता हूं ऊख के रस की।

(विनय, महावग्ग ३, स्क० ६, ६, ६)

आम खाने का रिवाज

आम खाने के रिवाज का उल्लेख संयोग से विनयपिटक में एक स्थल पर हुआ है।

उस समय मगधराज सेनिय बिंबसार के बाग में आम फले हुए थे। मगधराज सेनिय ने अनुमति दे रक्खी थी। आर्य लोग इच्छानुसार आम खावें।

षड्वर्गीय भिक्षुओं ने कच्चे आमों को ही तुड़वा कर खा डाला। मगधराज को आम की जरूरत थी, उसने आदमियों से कहा।

जाओ भंते, आराम से आम लाओ।

अच्छा देव, कह मगधराज को उत्तर दे आराम में जा बागवानों से कहा।

भणे, देव को आम की जरूरत है, आम दो।

आर्यो, आम नहीं हैं, कच्चे ही आमों को तुड़वा कर भिक्षुओं ने आम खा डाले।

तब उन मनुष्यों ने जाकर मगधराज से वह बात कही।

भणे, अच्छा हुआ आर्यों ने खा लिया। और भगवान् ने खाने की मात्रा भी कही है। लोग हैरान होते थे। कैसे शाक्यपुत्रीय श्रमण मात्रा को बिना जाने राजा का आम खाते हैं। भगवान् ने यह बात कही।

भिक्षुओ, आम नहीं खाना चाहिए। जो खाये उसे दुक्कट का दोष है।

उस समय एक पूग ने संघ को भोज दिया था, दाल में आम की फारियां भी डाली हुई थीं। भिक्षु हिचकिचाते उसे नहीं ग्रहण करते थे।

भिक्षुओ ग्रहण करो, खाओ, अनुमति देता हूं, आम की फारियों की।

उस समय एक पूग ने संघ को भोज दिया था। वह आम की फारी नहीं बना सके इससे परोसने के वक़्त पूरे आम को ले पाँती में फिरते थे। भिक्षु हिचकिचाते थे, न ग्रहण करते थे।

भिक्षुओ, ग्रहण करो खाओ भिक्षुओ, अनुमति देता हूं श्रमणों के योग्य पाँच प्रकार से फलों को खाने की--आग से छिलका उतारे, हथियार से छिले, नख से छिले, बे गुठली के और पाँचवें बीजवाले फल की। भिक्षुओ, अनुमति देता हूं इन पाँच प्रकार से श्रमणों के योग्य फलों के खाने की।

चिकित्साशास्त्र की उन्नत अवस्था

गृहस्थों के दिये नये चीवर ग्रहण करने के संबंध में भिक्षुओं को भगवान बुद्ध ने अनुमति किस प्रकार दी थी इस सिलसिले में एक लंबी किंतु अत्यंत रोचक कथा जीवकचरित के नाम से विनयपिटक में आई है (विनय० महावग्ग ३, स्कं० ८, १)। उस समय के जीवन के अनेक रूपों का यह अत्यंत रोचक चित्र है। अतः यह संपूर्ण कथा नीचे दी जा रही है।

उस समय बुद्ध भगवान् राजगृह में वेणुवन कलंदक निवाप में विहार करते थे।

उस समय वैशाली, समृद्धिशाली, बहुत मनुष्यों से आकीर्ण, अन्नपान संपन्न थी। उसमें ७७७७ प्रासाद, ७७७७ कूटागार, ७७७७ आराम, ७७७७ पुष्करिणियां थीं। गणिका अम्बपाली, अभिरूप, प्रासादिक, परम रूपवती, नाच-गीत और वाद्य में निपुण थी। चाहनेवाले मनुष्यों के पास पचास कार्षापण रात पर जाया करती थी। उससे वैशाली और भी प्रसन्न शोभित थी। तब राजगृह का नैगम किसी काम से वैशाली गया। उस काम को खतम कर फिर राजगृह लौट आया। लौटकर जहां राजा मगध श्रेणिक बिंबसार था, वहां गया। जाकर राजा बिंबसार से बोला।

देव, वैशाली ऋद्ध, स्फीत, और सुभिक्ष शोभित है। अच्छा हो देव, हम भी गणिका रक्खें।

तो भणे, वैसी कुमारी ढूंढो जिसको तुम गणिका रख सको।

उस समय राजगृह में सालवती नामक कुमारी अभिरूप दर्शनीय थी। तब राजगृह के नैगम ने सालवती कुमारी को गणिका खड़ी की। सालवती गणिका थोड़े काल में ही नाच, गीत और वाद्य में चतुर हो गई। चाहनेवाले मनुष्यों के पास सौ कार्षापण में रात भर जाया करती थी तब वह गणिका अचिर में ही गर्भवती हो गई। तब सालवती गणिका को यह हुआ। गर्भिणी स्त्री

पुरुषों को नापसंद होती है। यदि मुझे कोई जानेगा कि सालवती गर्भिणी है तो मेरा सत्कार चला जायगा। क्यों न मैं बीमार बन जाऊं। तब सालवती गणिका ने दौवारिक (दरबान) को आज्ञा दी।

भणे दौवारिक, कोई पुरुष आवे और मुझे पूछे तो कह देना बीमार है।

अच्छा आर्ये, उस दौवारिक ने सालवती से कहा।

सालवती ने उस गर्भ के परिपक्व होने पर एक पुत्र जना। तब सालवती ने दासी को हुक्म दिया:

हंद, जे, इस बच्चे को कचरे के सूप में रख कर कूड़े के ऊपर छोड़ आ।

दासी सालवती गणिका को, अच्छा आर्ये कह, उस बच्चे को कचरे के सूप में रख, ले जा कर कूड़े के ऊपर रख आई।

उस समय अभय राजकुमार ने सकाल में ही राजा की हाज़िरी को जाते समय कौओं से घिरे उस बच्चे को देखा। देख कर मनुष्यों से पूछा——

भणे, यह कौओं में घिरा क्या है? देव बच्चा है।

भणे, जीता है? देव जीता है।

तो भणे, इस बच्चे को ले जा कर हमारे अंतःपुर में दासियों को पालने के लिए दे आओ।

अच्छा देव, उस बच्चे को अभय राजकुमार के अंतःपुर की दासियों को पालने पोसने के लिए दे आये। जीता है (जीवित) करके उसका नाम भी जीवक रक्खा। कुमार ने पोसा था, इसलिए कौमारभृत्य नाम हुआ। जीवक कौमारभृत्य अचिर में ही विज्ञ हो गया। तब जीवक कौमारभृत्य जहां अभय राजकुमार था वहां गया, जाकर अभय राजकुमार से पूछा।

देव, मेरी माता कौन है? मेरा पिता कौन है?

भणे, मैं तेरी माता को नहीं जानता हूं। मैं तेरा पिता हूं मैंने तुझे पोसा है।

तब जीवक कौमारभृत्य को यह हुआ।

राजकुल (राजदरबार) मानी होता है। बिना शिल्प के जीविका करना मुश्किल है। क्यों न मैं शिल्प सीखूं।

उस समय तक्षशिला में एक दिशाप्रमुख (दिगंतप्रसिद्ध) वैद्य रहता था। तब जीवक अभय कुमार से बिना पूछे, जिधर तक्षशिला थी उधर चला। क्रमशः जहां तक्षशिला थी वहां वह वैद्य था वहां गया। जाकर उस वैद्य से बोला।

आचार्य, मैं शिल्प सीखना चाहता हूं।

तो भणे, जीवक सीखो।

जीवक कौमारभृत्य बहुत पढ़ता था, जल्दी धारण कर लेता था, अच्छी तरह समझता था, पढ़ा हुआ इसको भूलता न था। सात वर्ष बीतने पर जीवक ने यह सोचा बहुत पढ़ता हूं, पढ़ते हुए सात वर्ष हो गए, लेकिन इस शिल्प का अंत नहीं मालूम होता।

कब इस शिल्प का अंत जान पड़ेगा? तब जीवक जहां वह वैद्य था गया, जाकर उससे बोला।

आचार्य, मैं बहुत पढ़ता हूं, कब इस शिल्प का अंत जान पड़ेगा ?

तो भणे जीवक, खनती लेकर तक्षशिला के योजन योजन चारों ओर घूमकर जो अभैषज्य (दवा के अयोग्य) देखो उसे ले आओ।

अच्छा आचार्य। जीवक ने कुछ भी अभैषज्य न देखा और आकर अपने गुरु से कहा।

आचार्य तक्षशिला के योजन योजन चारों ओर घूम आया किंतु मैंने कुछ भी अभैषज्य नहीं देखा।

सीख चुके, भणे जीवक, यह तुम्हारी जीवका के लिए पर्याप्त है, ऐसा कह उसने जीवक कौमारभृत्य को थोड़ा पाथेय दिया। तब जीवक उस स्वल्प पाथेय को ले जिधर राजगृह था उधर चला। जीवक का वह स्वल्प पाथेय रास्ते में साकेत (अयोध्या) में ख़तम हो गया। तब जीवक को यह हुआ। अन्नपान रहित जंगली रास्ते हैं। बिना पाथेय के जाना सुकर नहीं है। क्यों न मैं पाथेय ढूंढूं।

उस समय साकेत में श्रेष्ठि (नगरसेठ) की भार्या को सात वर्ष से दर्द था। बहुत से बड़े बड़े दिगंत विख्यात वैद्य आ कर नहीं आरोग्य कर सके, और बहुत हिरण्य (अशरफ़ी) लेकर चले गये। तब जीवक ने साकेत में प्रवेश कर आदमियों से पूछा।

भणे, कोई रोगी है जिसकी मैं चिकित्सा करूं ?

आचार्य, इस श्रेष्ठिभार्या को सात वर्ष का सिर दर्द है। आचार्य, जाओ श्रेष्ठिभार्या की चिकित्सा करो।

तब जीवक ने जहां श्रेष्ठि गृहपति का मकान था, वहां जाकर दौवारिक को हुक्म दिया।

भणे दौवारिक, श्रेष्ठिभार्या को कह, आर्य वैद्य आया है, वह तुम्हें देखना चाहता है।

अच्छा आर्य, कह दौवारिक जाकर श्रेष्ठिभार्या से बोला।

आर्ये, वैद्य आया है। वह तुम्हें देखना चाहता है।

भणे, दौवारिक कैसा वैद्य है ?

आर्ये, तरुण है।

बस भणे दौवारिक, तरुण वैद्य मेरा क्या करेगा ? बहुत बड़े-बड़े दिगंत वैद्य सफल नहीं हुये।

तब वह दौवारिक जीवक जहाँ कौमारभृत्य था वहां गया। जाकर बोला।

आर्य, श्रेष्ठिभार्या (सेठानी) ऐसा कहती हैं।

जा भणे, दौवारिक, सेठानी को कह, आर्य वैद्य ऐसे कहता है--आर्ये, पहले कुछ मत दो जब आरोग्य हो जाना तो जो चाहना देना।

अच्छा आचार्य। दौवारिक ने श्रेष्ठिभार्या से कहा, आर्य वैद्य ऐसा कहते हैं।

तो भणे दौवारिक, वैद्य आवें।

अच्छा अय्या।

जीवक से कहा। आचार्य, सेठानी तुम्हें बुलाती हैं।

जीवक सेठानी के पास जाकर रोग पहचान सेठानी से बोला।

अय्या। मुझे पसर भर घी चाहिए।

सेठानी ने जीवक को पसर भर घी दिलवाया। जीवक ने उस पसर भर घी को नाना दवाइयों में पकवा कर, सेठानी को चारपाई पर उतान लिटवा कर नथनों में दे दिया। नाक से दिया वह घी मुख से निकल पड़ा। सेठानी ने पीकदान में थूक कर दासी को हुक्म दिया।

इस घी को बरतन में रख ले।

तब जीवक कौमारभृत्य को हुआ। आश्चर्य, यह घरनी कितनी कृपण है जोकि इस फेंकने लायक़ घी को बरतन में रखवाती है। मेरी बहुत सी महार्घ औषधियां इसमें पड़ी हैं। इसके लिए यह क्या देगी?

तब सेठानी ने जीवक के भाव को देखकर ताड़ कर जीवक से कहा।

आचार्य, तू किसलिए उदास है।

मुझे ऐसा हुआ।

आचार्य, हम गृहस्थिनें हैं। इस संयम को जानती हैं। यह घी दासों कमकरों के पैर में मलने और दीपक में डालने के लिए अच्छा है। आचार्य, तुम उदास मत होवो। तुम्हें जो देना है उसमें कमी न होगी।

तब जीवक ने सेठानी के सात वर्ष के सिर-दर्द को एक ही नास से निकाल दिया। सेठानी ने अरोग हो जीवक को चार हजार दिया। पुत्र ने मेरी माता को निरोग कर दिया ऐसा सोच चार हजार दिया। बहू ने मेरी सास को निरोग कर दिया ऐसा सोच चार हज़ार दिया। श्रेष्ठि गृहपति ने मेरी भार्या को निरोग कर दिया ऐसा सोच चार हजार, एक दास एक दासी और एक घोड़े का रथ दिया।

तब जीवक उन सोलह हजार तथा दास-दासी और अश्वरथ को ले जहां राजगृह था वहां चला।

क्रमशः जहां राजगृह जहां अभय राजकुमार था वहां गया। जा कर अभय कुमार से बोला।

देव, यह सोलह हज़ार, दास, दासी, और अश्वरथ मेरे प्रथम काम का फल है। इसे देव पोसाई में स्वीकार करें।

नहीं भणे जीवक, यह तेरा ही है। हमारे ही अंतःपुर (हवेली) की सीमा में मकान बनवा।

अच्छा देव, कह जीवक ने अभय कुमार के अंतःपुर में मकान बनवाया। उसी समय राजा मगध श्रेणिक बिंबसार को भगंदर था। धोतियां खून से सन जाती थीं, देवियां देखकर परिहास करती थीं। इस समय देव ऋतुमती हैं, देव को फूल उत्पन्न हुआ है, जल्दी ही देव प्रसव करेंगे। इससे राजा मूक होता था। तब राजा बिंबसार ने अभय राजकुमार से कहा।

भणे अभय, मुझे ऐसा रोग है जिसमें धोतियां खून से सन जाती हैं। देवियां देखकर परिहास करती हैं। तो भणे, अभय ऐसा वैद्य ढूंढो जो मेरी चिकित्सा करे।

देव, यह हमारा तरुण वैद्य जीवक अच्छा है, वह देव की चिकित्सा करेगा।

तो भणे अभय, जीवक वैद्य को आज्ञा दो, वह मेरी चिकित्सा करे।

तब अभय कुमार ने जीवक को हुक्म दिया।

भणे जीवक जा राजा की चिकित्सा कर।

अच्छा देव, कह जीवक कौमारभृत्य नख में दवा ले जहां राजा बिंबिसार थे वहां गया। जाकर राजा बिंबिसार से बोला।

देव, रोग को देखें।

तब जीवक ने राजा बिंबिसार के भगंदर रोग को एक ही लेप से निकाल दिया।

तब राजा बिंबिसार ने निरोग हो, पाँच सौ स्त्रियों को सब अलंकारों से अलंकृत-भूषित कर, उन आभूषणों को छोड़वा, पुंज बनवा, जीवक से कहा।

भणे जीवक, यह पाँच सौ स्त्रियों का आभूषण तुम्हारा है।

यही बस है कि देव मेरे उपकार को स्मरण करें।

तो भणे जीवक, मेरा उपस्थान (सेवा-चिकित्सा द्वारा) करो, रनवास और बुद्धप्रमुख भिक्षुसंघ का भी उपस्थान करो।

अच्छा देव, कह जीवक ने राजा बिंबिसार को उत्तर दिया।

उस समय राज्यश्रेष्ठी को सात वर्ष का सिर-दर्द था। बहुत से बड़े बड़े दिगंत विख्यात वैद्य आकर निरोग न कर सके और बहुत सा हिरण्य (अशरफ़ी) लेकर चले गए। वैद्यों ने उसे दवा करने से जवाब दे दिया था। किन्हीं वैद्यों ने कहा पाँचवें दिन श्रेष्ठी गृहपति मरेगा, किन्हीं ने कहा सातवें दिन। तब राजगृह के नैगम को यह हुआ। यह श्रेष्ठी गृहपति राजा का और नैगम का भी बहुत काम करने वाला है। लेकिन वैद्यों ने इसे जवाब दे दिया है। यह राजा का तरुण वैद्य जीवक अच्छा है। क्यों न हम श्रेष्ठी गृहपति की चिकित्सा के लिए राजा के जीवक वैद्य को माँगें।

तब राजगृह के नैगम ने राजा बिंबिसार के पास जा कहा।

देव, श्रेष्ठी देव का भी और नैगम का भी बहुत काम करने वाला है लेकिन वैद्यों ने जवाब दे दिया है। अच्छा हो जीवक वैद्य को श्रेष्ठी गृहपति की चिकित्सा के लिए आज्ञा दें।

तब राजा बिंबिसार ने जीवक कौमारभृत्य को आज्ञा दी।

जाओ भणे जीवक, श्रेष्ठी गृहपति की चिकित्सा करो।

अच्छा देव, कह जीवक श्रेष्ठि गृहपति के विकार को पहचान कर श्रेष्ठी गृहपति से बोला।

यदि गृहपति मैं तुम्हें निरोग कर दूं तो मुझे क्या दोगे?

आचार्य, सब धन तुम्हारा, और मैं तुम्हारा दास।

क्यों गृहपति, एक करवट से सात मास लेटे रह सकते हो।

आचार्य, मैं एक करवट सात मास लेटा रह सकता हूं।

क्या गृहपति तुम दूसरे करवट से भी सात मास लेटे रह सकते हो।

आचार्य, लेटा रह सकता हूं।

क्या उतान सात मास लेटे रह सकते हो। आचार्य लेटा रह सकता हूं।

तब जीवक ने श्रेष्ठी गृहपति को चारपाई पर लिटा कर, चारपाई से बाँध कर, सिर से चमड़े को फाड़ कर, खोपड़ी खोल, दो जंतु निकाल लोगों को दिखाए।

देखो यह दो जंतु हैं--एक बड़ा है एक छोटा है। जो वह आचार्य यह कहते थे कि पाँचवें दिन श्रेष्ठी गृहपति मरेगा उन्होंने इस बड़े जन्तु को देखा था। पाँच दिन में इसके श्रेष्ठी गृहपति की गुद्दी चाट लेने पर गृहपति मर जाता।

उन आचार्यों ने ठीक देखा था जो आचार्य यह कहते थे कि सातवें दिन गृहपति मरेगा उन्होंने इस छोटे जंतु को देखा था।

खोपड़ी जोड़कर सिर के चमड़े को सीकर लेप कर दिया। तब श्रेष्ठी गृहपति ने सप्ताह बीत जाने पर जीवक से कहा।

आचार्य, मैं एक करवट से सात मास नहीं लेट सकता हूं।

गृहपति, तुमने मुझे क्यों कहा था कि लेट सकता हूं।

आचार्य, यदि मैंने कहा था तो मर भले ही जाऊं किंतु मैं एक करवट से सात मास नहीं लेट सकता।

तो गृहपति, दूसरी करवट सात मास लेटो।

तब श्रेष्ठी गृहपति ने सप्ताह बीतने पर जीवक से कहा।

आचार्य, मैं दूसरी करवट सात मास नहीं लेट सकता।

तो गृहपति, सात मास उतान लेटो।

तब श्रेष्ठी गृहपति ने सप्ताह बीतने पर कहा।

आचार्य मैं उतान सात मास नहीं लेट सकता।

गृहपति, मुझसे क्यों कहा था। कि लेट सकता हूं।

आचार्य, यदि मैंने कहा था तो मर भले ही जाऊं किंतु मैं उतान सात मास लेटा नहीं रह सकता।

गृहपति, यदि मैंने यह न कहा होता तो इतना भी तू न लेटता। मैं तो जानता था, तीन सप्ताह में श्रेष्ठी गृहपति निरोग हो जायगा। उठो गृहपति, निरोग हो गये। जानते हो मुझे क्या देना है ?

आचार्य, सब धन तुम्हारा है और मैं तुम्हारा दास।

बस गृहपति, सब धन मेरा मत हो, और न तुम मेरे दास। राजा को सौ हज़ार दे दो और सौ हज़ार मुझे।

तब गृहपति ने निरोग हो सौ हज़ार राजा को दिया और सौ हज़ार जीवक कौमारभृत्य को।

उस समय बनारस के श्रेष्ठी के पुत्र को मक्खचिका (सिर के बल घुमरी काटना) खेलते हुए अँतड़ी में गाँठ पड़ जाने का रोग हो गया था, जिससे पी हुई खिचड़ी भी अच्छी तरह नहीं पचती थी, खाया भात भी अच्छी तरह न पचता था, पेशाब पाखाना भी ठीक से न होता था।

उससे कृश, रुक्ष, दुर्वर्ण, पीला, ठठरी भर रह गया था। तब बनारस के श्रेष्ठी को यह हुआ—मेरे पुत्र को ऐसा रोग है क्यों न मैं राजगृह जाकर अपने पुत्र की चिकित्सा के लिए राजा के जीवक वैद्य को माँगूं। तब बनारस के श्रेष्ठी ने राजगृह जाकर बिंबिसार से यह कहा—

देव, पुत्र का ऐसा रोग है। अच्छा हो यदि देव मेरे पुत्र की चिकित्सा के लिए वैद्य को आज्ञा दें।

तब राजा बिंबिसार ने जीवक को आज्ञा दी।

भणे जीवक, बनारस जाओ और बनारस के श्रेष्ठी के पुत्र की चिकित्सा करो।

अच्छा देव। वह बनारस जाकर जहां बनारस के श्रेष्ठी का पुत्र था वहां गया।

जाकर श्रेष्ठी के पुत्र के विकार को देखा और पहचाना, लोगों को हटा कर क़नात घिरवा खंभों को बँधवा, भार्या को सामने कर, पेट के चमड़े को फाड़, आँत की गाँठ को निकाल, भार्या को दिखाया।

देखो अपने स्वामी का रोग, इसी से जाउर पीना भी नहीं पचता था।

गाँठ को सुलझा कर, अँतडियों को भीतर डाल कर, पेट के चमड़े को सी कर लेप लगा दिया। बनारस के श्रेष्ठी का पुत्र थोड़े ही समय में निरोग हो गया। बनारस के श्रेष्ठी ने मेरा पुत्र निरोग कर दिया सोच जीवक कौमारभृत्य को सोलह हज़ार दिया। तब जीवक उन सोलह हज़ार को ले फिर राजगृह लौट आया।

उस समय राजा प्रद्योत को पांडुरोग की बीमारी थी। बहुत से बड़े-बड़े दिगंत-विख्यात वैद्य आकर निरोग न कर सके। बहुत सा हिरण्य (अशरफ़ी) लेकर चले गये। तब राजा प्रद्योत ने राजा मगध श्रेणिक बिंबिसार के पास दूत भेजा।

मुझे देव, ऐसा रोग है। अच्छा हो यदि देव जीवक वैद्य को आज्ञा दें कि वह मेरी चिकित्सा करे।

तब राजा बिंबिसार ने जीवक को हुक्म दिया।

जाओ भणे जीवक, उज्जैन जाकर राजा प्रद्योत की चिकित्सा करो।

अच्छा देव, कह जीवक उज्जैन जाकर जहां राजा प्रद्योत था वहां गया।

राजा प्रद्योत के विकार को पहिचान कर बोला।

देव घी पकाता हूं इसे पियें।

भणे जीवक, बस घी के बिना और और जिससे तुम निरोग कर सको उसे करो। घी से मुझे घृणा है।

तब जीवक को यह हुआ। इस राजा का रोग ऐसा है कि बिना घी के आराम नहीं किया जा सकता। क्यों न मैं घी को कषाय वर्ण, कषाय गंध, कषाय रस पकाऊं?

तब जीवक ने नाना औषधियों से कषाय वर्ण, कषाय गंध, कषाय रस घी पकाया।

तब जीवक को यह हुआ, राजा को घी पीकर पचते वक़्त उवांत होता जान पड़ेगा।

यह राजा क्रोधी है, मुझे मरवा न डाले। क्यों न मैं पहले ही ठीक कर रक्खूं।

तब जीवक जाकर राजा प्रद्योत से बोला।

देव, हम लोग वैद्य हैं, जैसे वैसे विशेष मुहूर्त में मूल उखाड़ते हैं, औषधि संग्रह करते हैं। अच्छा हो यदि देव वाहनशालाओं और नगरद्वारों पर आज्ञा दे दें कि जीवक जिस वाहन से चाहे उस वाहन से जावे। जिस द्वार से चाहे उस द्वार से जावे। जिस समय चाहे उस समय जावे। जिस समय चाहे उस समय नगर के भीतर आवे।

तब राजा प्रद्योत ने वाहनागारों तथा द्वारों पर आज्ञा दे दी। उस समय राजा प्रद्योत की भद्रवतिका नामक हथिनी दिन में पचास योजन चलनेवाली थी।

तब जीवक कौमारभृत्य राजा के पास घी ले गया। देव, कषाय पियें। तब जीवक राजा को घी पिलाकर हथिसार में जा, भद्रवतिका हथिनी पर सवार हो, नगर से निकल पड़ा। तब राजा प्रद्योत को उस पिये घी से उवांत हो गया तब राजा प्रद्योत ने मनुष्यों से कहा।

भणे, दुष्ट जीवक ने मुझे घी पिलाया है। जीवक वैद्य को ढूँढो।

देव, वह भद्रवतिका हथिनी पर नगर से बाहर गया है।

उस समय अमनुष्य से उत्पन्न काक नामक राजा प्रद्योत का दास दिन में साठ योजन चलने वाला था। राजा प्रद्योत ने काक दास को हुक्म दिया।

भणे काक, जा जीवक वैद्य को लौटा ला। आचार्य, राजा तुम्हें लौटाना चाहते हैं। भणे काक, यह वैद्य लोग बड़े मायावी होते हैं। उसके हाथ का कुछ मत लेना।

तब काक ने जीवक कौमारभृत्य को मार्ग में कौशांबी में कलेवा करते देखा। दास काक ने जीवक से कहा।

आचार्य, राजा तुम्हें लौटवाते हैं।

ठहरो भणे काक, तब तक खा लूं। हंत भणे काक, तुम भी खाओ।

बस आचार्य राजा ने आज्ञा दी है। यह वैद्य लोग बड़े मायावी होते हैं। उसके हाथ का कुछ मत लेना।

उस समय जीवक कौमारभृत्य नख से दवा लगा, आँवला खाकर, पानी पीता था। तब जीवक ने काक से कहा।

तो भणे काक, आँवला खाओ और पानी पीओ।

तब काक दास ने सोचा, यह वैद्य आँवला खा रहा है पानी पी रहा है, इसमें कुछ भी अनिष्ट नहीं हो सकता और आधा आँवला खाया और पानी पिया। उसका खाया वह आधा आँवला वमन हो निकल गया। तब काक दास जीवक कौमारभृत्य से बोला, आचार्य, क्या मुझे जीना है?

भणे काक, तू डर मत। तू भी निरोग होगा, राजा भी। वह राजा चंड है। मुझे मरवा न डाले इसलिए मैं नहीं लौटूंगा। ऐसा कह भद्रवतिका हथिनी काक को दे जहां राजगृह था वहां को चला। क्रमशः जहां राजगृह था, जहां राजा बिंबिसार था वहां पहुँचा। पहुँच कर राजा

बिंबिसार से वह सब बात कह डाली।

भणे जीवक, अच्छा किया जो नहीं लौटा, वह राजा चंड है। तुझे मरवा भी डालता।

तब राजा प्रद्योत ने निरोग हो जीवक कौमारभृत्य के पास दूत भेजा। जीवक आवें, इनाम दूंगा। बस आर्यदेव, मेरा उपकार याद रखें। उस समय राजा प्रद्योत को बहुत सौ हजार दुशालों के जोड़ों में श्रेष्ठ शिवि देश के दुशालों का एक जोड़ा प्राप्त हुआ था। राजा प्रद्योत ने उसी शिवि देश के दुशाले को जीवक के लिए भेजा। तब जीवक कौमारभृत्य को यह हुआ।

राजा प्रद्योत ने मुझे शिवि का दुशाला जोड़ा भेजा है। उस भगवान् अर्हत सम्यक्संबुद्ध के बिना या राजा मगध श्रेणिक बिंबिसार के बिना, दूसरा कोई इसके योग्य नहीं है।

उस समय भगवान् का शरीर दोषग्रस्त था। तब भगवान् ने आयुष्मान आनंद को संबोधित किया।

आनंद, तथागत का शरीर रोगग्रस्त है। तथागत जुलाब लेना चाहते हैं।

आयुष्मान् आनंद जहां जीवक था वहां जाकर बोले।

अवुस जीवक, तथागत का शरीर दोषग्रस्त है, जुलाब लेना चाहते हैं।

तो भंते आनंद, भगवान् के शरीर को कुछ दिन स्नेहित कर, जाकर जीवक को बोले।

अवुस जीवक, तथागत का शरीर अब स्निग्ध है, अब जिसका समय समझो वैसा करो।

तब जीवक कौमारभृत्य को यह हुआ।

यह मेरे लिए योग्य नहीं कि मैं भगवान् को मामूली जुलाब दूं। इसीलिए तीन उत्पल हस्त को नाना औषधियों से भावित कर जाकर भगवान को एक उत्पलहस्त (चम्मच) दिया।

भंते, इस पहले उत्पलहस्त को सूँघें, यह भगवान् को दस बार जुलाब दिलायेगा।

इस दूसरे उत्पल हस्त को सूँघें, इस तीसरे उत्पलहस्त को सूँघें, इस प्रकार भगवान् को तीस जुलाब होंगे।

जीवक भगवान् को तीस जुलाब के लिए औषधि दे, अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर चल दिया। तब जीवक को बड़े दरवाजे से निकलने पर यह हुआ । मैंने भगवान् को तीस जुलाब दिया। तथागत का शरीर रोगग्रस्त है, भगवान् को तीस जुलाब न होगा। एक कम तीस जुलाब होगा। जब भगवान् जुलाब हो जाने पर नहायेंगे, तब भगवान् को एक विरेचन होगा। तब भगवान् ने जीवक के चित्त-वितर्क को जानकर आयुष्मान् आनंद से कहा।

आनंद, जीवक को बड़े दरवाजे से निकलने पर ऐसा विचार हुआ। इसलिए आनंद गर्म जल तैयार करो।

अच्छा भंते, कह आयुष्मान् आनंद ने जल तैयार किया। तब जीवक जाकर भगवान् से बोला।

मुझे भंते, बड़े दरवाजे से निकलने पर ऐसा विचार हुआ। भंते, स्नान करें।

तब भगवान् ने गर्म जल से स्नान किया। नहाने पर भगवान् को एक और विरेचन हुआ। इस प्रकार भगवान् को पूरे तीस विरेचन हुए। तब जीवक ने भगवान से यह कहा।

जब तक भंते भगवान का शरीर स्वस्थ नहीं होता तब तक मैं जूस पिंडपात दूंगा।

भगवान का शरीर थोड़े ही में स्वस्थ हो गया। तब जीवक उस शिवि के दुशाले को ले जहां भगवान थे वहां गया। जाकर भगवान को अभिवादन कर एक ओर बैठा। एक ओर बैठे जीवक ने भगवान् से यह कहा:

मैं भंते, भगवान से एक वर माँगता हूं।

जीवक, तथागत वर के परे हो गये हैं।

भंते, जो युक्त है, जो निर्दोष है।

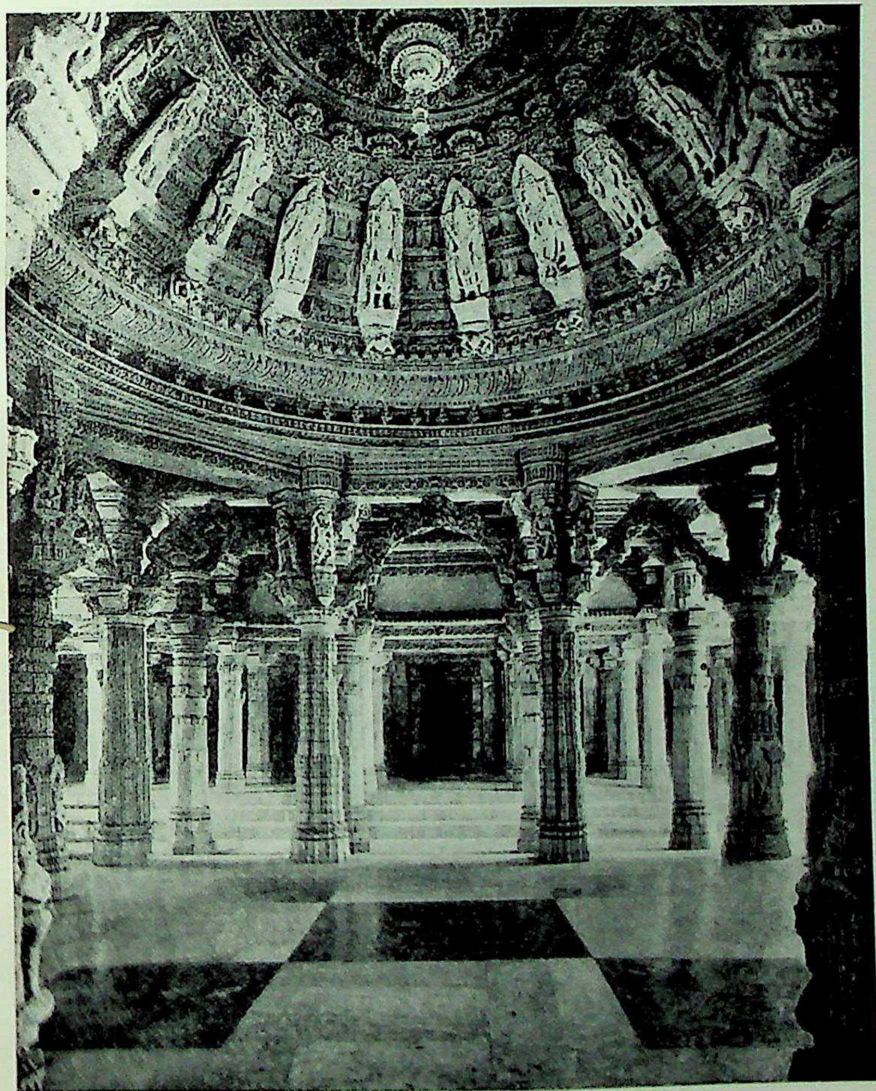
बोलो जीवक।

भंते भगवान् पांसुकूलिक (लत्ताधारी') हैं और भिक्षु भी। भंते, मुझे यह शिवि का दुशाला जोड़ा राजा प्रद्योत ने भेजा है। भंते भगवान मेरे इस शिवि के दुशाले जोड़े को स्वीकार करें और भिक्षुसंघ को गृहस्थों के दिये चीवर (गृहपति चीवर) की आज्ञा दें।

भगवान ने शिवि के दुशाले को स्वीकार किया। भिक्षुसंघ को आमंत्रित किया।

भिक्षुओ, गृहपति चीवर के उपयोग की अनुज्ञा देता हूं। जो चाहे पांसुकूलिक रहे, जो चाहे गृहपति चीवर धारण करे। दोनों में किसी से भी मैं संतुष्टि कहता हूं।

राजगृह के लोगों ने सुना कि भगवान ने भिक्षुओं के लिए गृहपति चीवर की अनुमति दे दी है। तब वे वैद्य लोग हर्षित हुए। हम दान देंगे, पुण्य करेंगे, क्योंकि भगवान् ने भिक्षुओं के लिए चीवर की अनुमति दे दी है। और एक ही दिन में राजगृह में कई हज़ार चीवर मिल गये। देहात के जनपद मनुष्यों ने सुना कि भगवान् ने भिक्षुओं के लिए गृहपति चीवर की अनुमति दे दी है। और देहात में भी एक ही दिन में कई हज़ार चीवर मिल गये।



आबू के जैन-मंदिर का भीतरी दृश्य

२—विश्रांति तथा द्वितीय साम्राज्य

कोई भी साम्राज्य बहुत समय तक शक्तिशाली नहीं बना रह सकता। वास्तव में विशाल साम्राज्य का संस्थापन तथा संचालन देश की शक्ति को धीरे-धीरे क्षीण कर देता है और इसकी सदा प्रतिक्रिया होती है। संसार के समस्त साम्राज्यों के इतिहासों में इसके उदाहरण मिलते हैं। लगभग ४०० वर्ष तक साम्राज्य-संचालन के बाद मध्यदेश की राजनीतिक शक्ति में भी शिथिलता आ गई और यह अवस्था लगभग ३०० वर्ष ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों भर बनी रही। इन शताब्दियों में राजनीतिक क्षेत्र का नेतृत्व प्रथम बार मध्यदेशवासियों के हाथ से निकल कर आर्यावर्त के अन्य भागों के हाथों में चला गया।

हम ऊपर देख चुके हैं कि सम्राट् अशोक के समय में प्रथम साम्राज्य चरम उत्कर्ष को पहुँच गया था। उनके उत्तराधिकारियों के समय में ही उत्तरापथ और दक्षिणापथ साम्राज्य के हाथ से निकल गये थे। मुग़ल साम्राज्य के समान केंद्रीय शासन उत्तर और दक्षिण भारत को अपने अंकुश में रखने में असमर्थ था। शुंग-वंश के समय में साम्राज्य आर्यावर्त तक सीमित रह गया था और कण्व-वंश के समय में केवल मध्यदेश पर साम्राज्य का शासन रह गया था। कण्व-वंश (७२ पू० ई०–२६ पू० ई०) के साथ ही प्रथम साम्राज्य का एक प्रकार से अंत हो गया और साथ ही दक्षिणापथ में सातवाहन-वंश की स्थापना हुई। कुछ दिन बाद उत्तरापथ में कुशान-राज्य शक्तिशाली हुआ। कुछ समय के लिए तो मध्यदेश भी इन दो सीमांत राज्यों के प्रभाव के अंतर्गत हो गया था, जिस तरह अंतिम मुग़ल सम्राटों को मराठा और सिक्ख तथा अफ़गानों के आगे झुकना पड़ा था।

सातवाहन-वंश की स्थापना प्रथम शताब्दी पूर्व ईसवी में कदाचित् हुई थी इस वंश के शासकों का मूल निवासस्थान महाराष्ट्र में कहीं था। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार प्रथम सातवाहन शिशुक या सिमुक ने मगध के अंतिम कण्व राजा सुशर्मन को स्थानापन्न किया था। तीसरे सातवाहन राजा शातकर्णि एक शक्तिशाली शासक थे। प्रथम शताब्दी के अंत में इनके राज्य का पश्चिमी भाग महाराष्ट्र शक क्षत्रियों ने छीन लिया था। किंतु शीघ्र ही अगले शक्तिशाली सातवाहन राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि ने इसे फिर से वापिस ले लिया।

गौतमीपुत्र के लड़के वासिष्ठीपुत्र पुलमावि १३० ई० में राजसिंहासन पर बैठे। इन्होंने ही आंध्र देश को विजय कर अपने राज्य में मिलाया था। इसी कारण पुराणों में सातवाहन राजा आंध्र नाम से पुकारे गये हैं। सातवाहन-वंश के अंतिम शक्तिशाली राजा श्री यज्ञशातकर्णि थे (१६५-१९५ ई०)। इनके समय में गुजरात से आंध्र तक का समस्त दक्षिणापथ सातवाहन

साम्राज्य के अंतर्गत आ गया था । १९५ ई० में इनकी मृत्यु के उपरांत इस वंश की शक्ति क्षीण होती गई।

सातवाहन कदाचित् ब्राह्मण थे। इन शासकों की संरक्षिता में अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञ हुए किंतु शुंगों के समान ये बौद्धधर्म के विरोधी नहीं थे। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि इनके समय में शिव तथा कृष्ण की पूजा का काफी प्रचार था। इनके राज्यकाल में प्राकृत साहित्य की भी काफी उन्नति हुई। एक सातवाहन शासक हाल ने प्रसिद्ध प्राकृत सतसई गाथा सप्तशतिका का संग्रह किया था। इन्हीं के समय में गुणाढच ने वृहत्कथा प्राकृत में लिखी थी।

मौर्य-वंश के अंतिम दिनों में साम्राज्य के क्षीण होने पर उत्तरापथ में कई बार लौट-पौट हुए। हिंदूकुश के ठीक उत्तर में वक्षु नदी का प्रदेश एक स्वतंत्र आर्य-यूनानी राज्य हो गया था। १८३ पू० ई० के लगभग यहां के शासक दिमित ने हिंदूकुश पार कर के मौर्य-साम्राज्य के पंजाब के अधिकांश भाग पर भी क़ब्ज़ा कर लिया था और इसकी सेना कदाचित् मध्यदेश में पंचाल, साकेत, माध्यमिका (चित्तौड़ के निकट) होते हुए पाटलिपुत्र तक पहुँच गई थी। अंतिम मौर्य-सम्राट् अत्यंत निर्बल थे। सेनापति पुष्पमित्र शुंग ने साम्राज्य की सेना की सहायता से आक्रमण-कारी यूनानी सेना को हटा कर भगा दिया था और फिर मौर्य-सम्राट् को हटा कर साम्राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली थी। इसके उपरांत उत्तरापथ में दो आर्य-यूनानी राज्य स्थापित हो गये। एक के हाथ में पूर्व-पंजाब था और इसकी राजधानी साकल (स्यालकोट) थी, दूसरे के हाथ में पश्चिमी पंजाब, गांधार और हिंदूकुश के उत्तर का भाग था। प्रथम यूनानी राजवंश में ही कदाचित् प्रसिद्ध राजा मिलिंद हुए जो बौद्धधर्मावलंबी थे। आर्य-यूनानी राजाओं की दूसरी शाखा के कुछ शासक कदाचित् भागवत या वैष्णव धर्मावलंबी थे। ये दोनों आर्य-यूनानी राज्य मध्य-एशिया के शक आक्रमणों के फलस्वरूप नष्ट हुये। उत्तरापथ तथा पंजाब के प्रथम शक शासक मोअ थे जो मगध के कण्व-वंश के लगभग समकालीन थे। भारत में बस जाने पर शकों ने भी आर्य-यूनानियों की तरह भारतीय धर्म और संस्कृति ग्रहण कर ली थी। प्रथम साम्राज्य के समाप्त हो जाने पर कई शताब्दी तक क्षत्रपों के हाथ में अवंति तक का समस्त पश्चिम आर्यावर्त (गुजरात, महाराष्ट्र) रहा। अवंति के शक-क्षत्रप रुद्रदामन अत्यंत शक्तिशाली राजा थे और इन्होंने दो बार समकालीन सातवाहन राजा शातकर्णि को भी हराया था। (७५ या १५० ई०)। शक-शासकों की आभीर राजाओं के साथ भी टक्कर हुई थी किंतु इनका राज्य द्वितीय साम्राज्य के आरंभ तक पश्चिम आर्यावर्त में बना रहा था।

१६५ पू० ई० में चीन की एक जाति यहूची मध्यएशिया की ओर तुर्की आक्रमण के फलस्वरूप बढ़ी और इसने उत्तर शक साम्राज्य के हिंदूकुश के उत्तर भाग पर अधिकार कर लिया। इन्हीं की एक प्रधान शाखा कुशान थी जिसने अपना आधिपत्य धीरे-धीरे फैलाया और फलस्वरूप पंजाब तक समस्त उत्तरापथ शकों के हाथ से कुशान शासकों के हाथ में चला गया। कुशान शासकों में सब से प्रसिद्ध महाराज कनिष्क थे (७८ ई०)। ये बौद्ध थे और उनके उद्योग से ही महायान बौद्धधर्म उत्तर-एशिया के देशों में फैलना आरंभ हुआ था। इनकी राजधानी पुरुष्पुर (पेशावर)

थी। महाराज कनिष्क के साम्राज्य का विस्तार मध्यएशिया से लेकर भारत में काश्मीर, सिंध और पंजाब तक था। पश्चिम मध्यदेश का कोसल तक का भाग भी कदाचित् इनके हाथ में चला गया था। महाराज कनिष्क ने ५०० बौद्ध भिक्षुओं की संगीति की थी। बौद्ध गांधार कला का विकास इनके ही समय में हुआ जिसके फलस्वरूप पहली वार बुद्ध भगवान की मूर्तियां बनाई गईं। अनुश्रुति के अनुसार महाराज कनिष्क बहुत विद्यानुरागी थे और इनके दरबार में अश्वघोष, नागार्जुन, चरक आदि अनेक योग्य विद्वान् रहते थे। कनिष्क के बाद कुशान साम्राज्य बहुत दिन नहीं चला। अंतिम प्रसिद्ध कुशान सम्राट् वासुदेव थे जो शैव या वैष्णव थे। कुशान साम्राज्य के छिन्न-भिन्न करने में पश्चिमोत्तर में हूण आक्रमणों और स्वयं आर्यावर्त में नाग शासकों का विशेष हाथ था। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार नागों के भारशिव (आधुनिक भर) वंश ने कुशान वंश से लगभग समस्त मध्यदेश अपने अधिकार में कर लिया था। मध्यदेशीय प्राचीन परंपरा के अनुसार उन्होंने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये थे। नाग शासकों के हाथ से मध्यदेश का मध्यभाग (वर्तमान उत्तरप्रदेश) गुप्त वंश के हाथ में गया था।

इस प्रकार प्रथम साम्राज्य के समाप्त हो जाने पर लगभग ३०० वर्ष तक मध्यदेश में कोई केंद्रीय राजनीतिक शक्ति नहीं पनप सकी। काशी तक का पूर्व मध्यदेश प्रायः कलिंग तथा सातवाहन शासकों की राजनीतिक परिधि के अंतर्गत रहा और पश्चिम मध्यदेश शक, क्षत्रप, कुशान तथा अंत में नाग शासकों की संरक्षिता में रहा। दक्षिण मध्यदेश में वाकटक वंश का राज्य स्थापित हो गया था। ३०० वर्ष की उलट-पलट और विश्रांति के बाद में द्वितीय गुप्त साम्राज्य की स्थापना के साथ राजनीतिक शक्ति का केंद्र फिर मध्यदेश में लौटा।

इस विश्रांति काल के संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृति की दृष्टि से इस काल के कोई भी शासक विदेशी नहीं कहे जा सकते। कलिंग तथा सातवाहन शासक तो कदाचित् मध्यदेश के राजवंशों की शाखाओं से संबंध रखने वाले थे ओर धर्म की दृष्टि से क्रम से जैन तथा वैदिक धर्मावलंबी थे। उत्तरापथ के शासकों के पूर्व पुरुष यद्यपि बाहर से आये थे किंतु इन सब ने भारतीय संस्कृति को अपना लिया था। आर्य-यूनानी, शक क्षत्रप, कुशान तथा नागवंशी सब के सब बौद्ध, वैदिक अथवा वैष्णव धर्मावलंबी थे। आरंभ में इनके आक्रमणों को भले ही विदेशी आक्रमण के नाम से पुकारा जावे किंतु इनका शासन पूर्णतया भारतीय शासन कहलायेगा। यही कारण है कि यद्यपि आक्रमण के समय इनके साथ संघर्ष हुआ किंतु शासन स्थापित हो जाने पर इनका विरोध नहीं हुआ। संस्कृति की एकता के कारण जनता को यह अनुभव ही नहीं हो पाता था कि वे किसी विदेशी शासन के अंदर रह रहे हों।

द्वितीय साम्राज्य के संस्थापक महाराज गुप्त (२७५-३०० ई०) मगध के एक साधारण राजा थे। उनके पौत्र चंद्रगुप्त प्रथम (३२०-३३५ ई०) का विवाह लिच्छवियों की कन्याकुमार देवी से हुआ था और इस संबंध के फलस्वरूप इनकी शक्ति के विकास में विशेष सहायता मिली। महाराजाधिराज चंद्रगुप्त प्रथम ने गुप्त-राज्य का विस्तार मगध के बाहर काशी, साकेत (कोसल) तथा प्रयाग (वत्स) तक किया था। महाराजाधिराज चंद्रगुप्त प्रथम के पुत्र समुद्र-

गुप्त (३३५-३७५ ई०) अत्यंत शक्तिशाली सम्राट् हुए। इन्होंने अपनी विजयों से पूर्व मध्यदेश के विशाल गुप्त राज्य को साम्राज्य का रूप दिया। सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय की यात्रा में दक्षिणापथ के राजाओं को हराकर उन्हें साम्राज्य के अधीन कर लिया।

सिंहल के राजा तथा पश्चिम आर्यावर्त के शक तथा उत्तरापथ के कुशान वंश के समकालीन शासकों को भी सम्राट् समुद्रगुप्त से सुलह करनी पड़ी, किंतु ये राज्य कुछ दिनों तक स्वतंत्र बने रहे। विजय यात्रा की समाप्ति पर सम्राट् ने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। सम्राट् स्वयं कदाचित् वैष्णवधर्म में आस्था रखते थे और विद्या तथा कला के प्रेमी थे।

इनकी विजयों से संबंध रखनेवाला प्रसिद्ध अभिलेख (३६० ई०) प्रयाग में अशोक के स्तंभ पर आज तक विद्यमान है। महाकवि हरिषेण-लिखित इस विजय-प्रशस्ति का सार नीचे दिया जाता है:—

जिसका मन विद्वानों के सत्संग-सुख का व्यसनी था, जो शास्त्र के तत्वार्थ का समर्थन करनेवाला था, जो सत्कविता और लक्ष्मी के विरोधों को विद्वानों के गुणित गुणों की आज्ञा से दबाकर बहुतेरी स्फुट कविता से मिले हुए कीर्तिराज्य को भोग रहा है।

जिसको उसके समान कुलवाले (ईर्ष्या के कारण) म्लान मुखों से देखते थे, जिसके सभासद् हर्ष से उच्छ्वसित हो रहे थे, जिसके पिता ने उसको रोमांचित होकर यह कह कर गले लगाया कि तुम सचमुच आर्य हो और अपने चित्त का भाव प्रकट करके स्नेह से चारों ओर घूमती हुई, आँसुओं से भरी, तत्व को पहचानने वाली दृष्टि से देखकर कहा कि इस अखिल पृथ्वी का इस प्रकार पालन करो।

जिसके अनेक अमानुष कर्मों को देख कर कुछ लोग अत्यंत चाव से आस्वादन कर अत्यंत सुख से प्रफुल्लित होते थे, और कुछ लोग उसके प्रणय से संतप्त होकर उसकी शरण में आकर उसको प्रणाम करते थे, और अपकार करनेवाले जिससे संग्रामों में सदा विजित होते थे।

(जिसके विषय में यह कहा जाता है कि) धर्म के बाँधे हुए परकोटे के समान जिसकी कीर्ति चंद्रमा की किरणों की तरह निर्मल और चारों ओर छिटक रही थी, जिसकी विद्वत्ता शास्त्र के तत्व तक पहुँच जाती थी।

जिसने सूत्रों (वेदमंत्रों) का मार्ग अपना अध्येय बना लिया था और जिसकी ऐसी कविता होती थी जो कवियों की मति के विभव का प्रकाश करती थी। ऐसा कौन गुण था जो उसमें न था। गुण और प्रतिभा के समझनेवाले विद्वानों का वह अकेला ध्यानपात्र था।

विविध सैकड़ों समरों में उतरने में दक्ष, अपने भुजबल का पराक्रम ही जिसका अकेला साथी था, जो पराक्रम के लिए विख्यात था। जिसका फरसे, बाण, शंकु, शक्ति, प्रास, तलवार, तोमर, भिंदियाल, नारांच, वैतस्तिक आदि शस्त्रों के सैकड़ों घावों से सुशोभित और अतिशय सुंदर शरीर था।

और जिसका महाभाग्य, कौसल के राजा महेंद्र, महाकांतार के व्याघ्रराज, कौराल क मंत्रराज, पिष्टपुट के महेंद्र, गिरि कौट्टूर के स्वामिदत्त, एरंडपल्ल के दमन, कांची के विष्णुगोप,

अवमुक्त के नीलराज, वेंगी के हस्तवर्मा, पालक्क के उग्रसेन, देवराष्ट्र के कुबेर और कुस्थलपुर के धनंजय आदि सारे दक्षिणापथ के राजाओं के पकड़ने और फिर उन्हें मुक्त करने के अनुग्रह से उत्पन्न हुए प्रताप के साथ मिला हुआ था।

और जिसने रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चंद्रवर्मा, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नंदी, बलवर्मा आदि आर्यावर्त के अनेक राजाओं को बलपूर्वक नष्ट कर अपना प्रभाव बढ़ाया और सारे जंगल के राजाओं को अपना चाकर बनाया।

जिसका प्रचंड शासन समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल, कर्तृपुर आदि सीमांत प्रदेशों के राजा और मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, खर्परिक आदि सब जातियां सब प्रकार के कर देकर, आज्ञा मान कर और प्रणाम करने के लिए आकर पूरा करते थे।

जिसका शांत यश युद्ध में भ्रष्ट राज्य से निकाले हुए अनेक राजवंशों को फिर प्रतिष्ठित करने से भुवन में फैला हुआ था, और जिसको दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि शक, मरुंड, सैंहलक आदि सारे द्वीपों के निवासी आत्मनिवेदन किये हुये थे, अपनी कन्यायें भेंट में देते थे, अपने विषय-भुक्ति के शासन के लिये गरुड़ की राजमुद्रा से अंकित फ़रमान माँगते थे।

इस प्रकार की सेवाओं से जिसने अपने बाहुबल के प्रताप से समस्त पृथ्वी को बाँध दिया था। जिसका पृथ्वी में कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। जिसने सैकड़ों सच्चरितों से अलंकृत, अपने अनेक गुणगणों के उद्रेक से अन्य राजाओं की कीर्तियों को अपने चरणतल से मिटा दिया था। जो अचिंत्य पुरुष की भाँति साधु के उदय और असाधु के प्रलय का कारण था। जिसका कोमल हृदय भक्ति और प्रणतिमात्र से वश हो जाता था। जिसने लाखों गायें दान की थीं।

जिसका मन कृपण, दीन, अनाथ, आतुर जनों के उद्धार और दीक्षा आदि में लगा रहता था। जो लोक के अनुग्रह का साक्षात् जाज्वल्यमान स्वरूप था। जो कुबेर, वरुण, इंद्र और यम के समान था। जिसके सेवक अपने भुजबल से जीते हुए राजाओं के विभव को वापस देने में लगे हुये थे।

जिसने अपनी तीक्ष्ण और विदग्ध बुद्धि और संगीत-कला के ज्ञान और प्रयोग से इंद्र के गुरु काश्यप, तुंबुरु, नारद आदि को लज्जित किया था। जिसने विद्वानों को जीविका देने योग्य अनेक काव्य-कृतियों से अपना कविराज-पद प्रतिष्ठित किया था। जिसके अनेक अद्भुत, उदार चरित्र चिरकाल तक स्तुति करने के योग्य थे।

जो लोकनियमों के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिए ही मनुष्यरूप था, किंतु लोक में रहने वाला देवता ही था, जो महाराज श्रीगुप्त का प्रपौत्र, महाराज श्री घटोत्कच का पौत्र, और महाराजाधिराज श्री चंद्रगुप्त का पुत्र था।

जो लिच्छवि-कुल का दौहित्र था, महादेवी कुमार देवी से उत्पन्न था, उस महाराजाधिराज समुद्रगुप्त की सारी पृथ्वी के विजय-जनित अभ्युदय से संसार भर में व्याप्त तथा यहां से इंद्र के भवनों तक पहुंचने में ललित और सुखमय गति रखनेवाली कीर्ति बतलानेवाला पृथ्वी की बाहु के समान यह ऊँचा स्तंभ है।

जिसका यश उसके दान, भुजविक्रम, प्रज्ञा और शास्त्रवाक्य के उदय से ऊपर अनेक मार्ग से बढ़ता हुआ तीनों भुवनों को पवित्र करता है। महादेव जी के जटाजूट की अंतर्गुहा में रुक कर निकलने से वेग से बहते हुए गंगाजल की भांति यह काव्य उन्हीं स्वामी के चरणों के दास के, जिनके समीप रहने के अनुग्रह से जिसकी मति उन्मीलित हो गई है, महादंडनायक ध्रुवभूति के पुत्र, संधिविग्रहिक, कुमारामात्य, महादंडनायक हरिषेण का रचा हुआ सब प्राणियों के हित और सुख के लिए हो।

सम्राट् समुद्रगुप्त के बाद इनके पुत्र चंद्रगुप्त विक्रमादित्य (३७४-४१४ ई०) साम्राज्य के उत्तराधिकारी हुए। इन्होंने ही सब से पहले दक्षिण मध्यदेश के वाकाटक-वंश के साथ संबंध स्थापित किया। यह शक्तिशाली राज्य वर्तमान बुंदेलखंड, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, बरार और दक्षिणापथ के अधिकांश में समुद्र पर्यन्त फैला हुआ था। ये शासक वैदिक धर्मावलंबी थे तथा इस वंश के कई शासकों ने अश्वमेध यज्ञ किये थे। सम्राट् समुद्रगुप्त ने समकालीन राजा रुद्रसेन प्रथम को हराकर इस राज्य के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया था। सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय ने अपनी पुत्री का विवाह रुद्रसेन द्वितीय से करके इस वंश के साथ संबंध स्थापित कर लिया था। कदाचित् इस संबंध की सहायता से इन्होंने मालवा-गुजरात के शक-क्षत्रप रुद्रसिंह द्वितीय को हराकर इन प्रदेशों को भी साम्राज्य में मिला लिया (४०० ई० लगभग) और इस तरह द्वितीय साम्राज्य का विस्तार पश्चिम समुद्र तक हो गया।

दिल्ली में क़ुतुबमीनार के निकट एक लोहे का स्तंभ है। इस पर जिन चंद्र राजा की विजयों का यशोगान है वे कदाचित् सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ही थे। इसका हिंदी रूपान्तर निम्नलिखित है:—

बंगदेश में एकत्र होकर सामना करनेवाले शत्रुओं को रण में छाती से मारकर हटाते हुये जिसके खड्ग से भुजा पर कीर्ति लिखी गई। युद्ध में सिंधु के सात मुखों को उल्लंघन कर जिसने वाल्हीकों को जीता। जिसके पराक्रम के पवनों से दक्षिण समुद्र भी अब तक सुवासित हो रहा है।

जिसका शत्रु के नाश करनेवाले मान का शेष रूप महान् प्रताप, बड़े वन में शांत हुई अग्नि की भाँति, अभी तक पृथ्वी को नहीं छोड़ता है, यद्यपि वह राजा खिन्न होता हुआ, इस पृथ्वी को छोड़कर कीर्ति के द्वारा पृथ्वी पर विराजता हुआ अपने पुण्यकर्मों से प्राप्त दूसरे लोक को सदेह पहुँच गया है।

पृथ्वी में अपनी भुजा से प्राप्त और चिरकाल स्थायी एकाधिराज्य जिसने भोगा, पूर्ण चंद्र के समान मुख की कांति को धारण करनेवाले उस चंद्र नामवाले राजा ने भाव से विष्णु में चित्त को समावेशित कर विष्णुपद गिरि पर भगवान् विष्णु का यह ऊँचा ध्वज स्थापित किया।

इन्हीं के समय में प्रसिद्ध चीनी यात्री फ़ाहियान ने बौद्ध ग्रंथों की खोज तथा बौद्ध तीर्थों के दर्शनों के लिए मध्यदेश की यात्रा की थी (३९९-४१४ ई०)। संयोगवश फ़ाहियान ने अपने यात्रा-विवरण में इस समय के मध्यदेश का कुछ हाल भी दिया है। संस्कृत सीखने के लिए फ़ाहियान तीन वर्ष तक साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में ही रहा था।

मुद्रा तथा शिलालेखों से उस समय की शासनव्यवस्था पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। सम्राट् मंत्रिमंडल की सहायता से साम्राज्य का शासन करते थे। शासन की सुव्यवस्था के लिए साम्राज्य देशों अथवा भुक्तियों में विभक्त था जिनके गवर्नर उपरीक महाराज अथवा गोप्ता कहलाते थे। प्रत्येक देश अनेक विषयों (प्रांतों) में बँटा था जिनमें एक-एक विषयपति होता था। इनके अतिरिक्त साम्राज्य के अनेक अधिकारियों के उल्लेख भी मिलते हैं। विषयपति की सहायता के लिए नगरश्रेष्ठिन्, सार्थवाह, प्रथम कुलिक तथा प्रथमकायस्थ नामक प्रधान अधिकारी होते थे। ग्राम की संस्था अब भी ज्यों की त्यों थी और इस सिलसिले में ग्रामिक (मुखियाँ), ग्रामवृद्ध तथा ग्राम-पंचमंडली (पंचायत) का उल्लेख मिलता है।

सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के पुत्र सम्राट् कुमारगुप्त (प्रथम) महेंद्रादित्य (४१६-४५५ ई०) के समय में साम्राज्य समृद्धावस्था में बना रहा। उनके पुत्र सम्राट् स्कंदगुप्त विक्रमादित्य (४५५-४६७ ई०) अत्यंत पराक्रमी शासक थे। इन्हीं के समय में हूणों का प्रथम आक्रमण हुआ था किंतु साम्राज्य के सशक्त होने के कारण आक्रमणकारी इस समय सफल नहीं हो सके। सम्राट् स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद साम्राज्य की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती गई। गुप्तवंश के अंतिम प्रसिद्ध शासक सम्राट् भानुगुप्त थे (४६५-५१०)। इन्हीं के शासनकाल में मालवा पर हूणों का अधिकार हुआ था। शेष आर्यावर्त अब भी साम्राज्य के अंतर्गत था। सम्राट् भानुगुप्त के बाद गुप्त शासकों के राज्य की सीमा पूर्व-मध्यदेश तथा बंगाल तक सीमित रह गई। मगध का शासन गुप्तवंश के हाथ में लगभग ७०० ईसवी तक बना रहा।[१]

इस प्रकार द्वितीय साम्राज्य २०० वर्ष समृद्धावस्था में रहा। प्रायः साम्राज्यों का जीवनकाल लगभग इतना ही होता है। गुप्त साम्राज्य के समाप्त हो जाने पर मध्यदेश कई राजवंशों द्वारा शासित होने लगा। इनमें मुख्य कान्यकुब्ज राज्य था जो मौखरि-वंश से प्रारंभ होकर लगभग ६०० वर्ष तक (६००-१२०० ईसवी) कई वंश-परिवर्तनों के बाद गाहड़वार-वंश के महाराज जयचंद्र के साथ समाप्त हुआ था।

---

[१] उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास

८. गुप्तकालीन जीवन तथा संस्कृत साहित्य

प्रथम साम्राज्य के मौर्यवंश के बाद बौद्धधर्म को मध्यदेश में राजाश्रय नहीं मिल सका। प्रथम साम्राज्य के शुंग तथा कण्व वंश के शासकों तथा दक्षिणपथ के सातवाहन वंश के शासकों ने प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करने का यत्न किया किंतु यह केवल अश्वमेध, राजसूय आदि के कर्मकांड तक ही सीमित रह सका। बौद्धधर्म की यह प्रतिक्रिया गुप्तकाल तक चलती रही। कुछ इतिहासज्ञों ने तो इस कारण इस काल को अश्वमेध पुनरुद्धार युग तक नाम दे डाला है। किंतु वैदिक कर्मकांड वैदिक ब्राह्मणों तथा उनके प्रभाव से प्रभावित शासकों तक ही सीमित रहा। सर्वसाधारण में फिर इसका प्रचार नहीं हो सका।

वास्तव, में धर्म के क्षेत्र में हम इस समय विष्णु और शिव की उपासना का रूप प्रधानतया पाते हैं। पुराण, जो इस धार्मिक विचारावली के मुख्य आधार हैं, इसी काल में लिखे गये। पौराणिक वैष्णव और शैव धर्मों की यह परंपरा राजवंश-काल तक चलती रही और एक प्रकार से अबतक चल रही है।

गौतम बुद्ध का सुधार आंदोलन बौद्धधर्म के रूप में मध्यदेश में इस काल में भी चलता रहा यद्यपि इसकी शक्ति बराबर क्षीण हो रही थी। स्वयं गुप्त सम्राट् पौराणिक धर्मावलंबी वैष्णव थे अतः अन्य धर्मों के प्रति उनका दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण था। यही कारण है कि फ़ाहियान को यह अनुभव नहीं हुआ कि मध्यदेश में बौद्धधर्म की शक्ति क्षीण हो रही है अथवा इसके विरुद्ध देश में वातावरण है। इसी प्रकार जैनधर्म भी, विशेषतया पश्चिम मध्यदेश की जनता के बीच, चलता रहा।

पौराणिक धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसने धर्म के व्यवहारिक रूप में बौद्ध और जैनधर्मों का समावेश भी अपने अंतर्गत कर लिया। विरोध के स्थान पर आवश्यक अंगों का समावेश करके अथवा अनुकरण स्वरूप नए अंगों को बढ़ाकर धर्म का एक नया रूप ही बना डाला। जैनधर्म की अहिंसा का सिद्धांत तो नवीन वैष्णव धर्म में ज्यों का त्यों समाविष्ट हो गया। साथ ही परंपरागत कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत जनता की धार्मिक विचारावली में गहरे उतर चुके थे। गौतम बुद्ध को विष्णु का अंतिम अवतार मान लिया गया किंतु साथ ही जनपदकालीन महापुरुष राम और कृष्ण को भी अवतारी पुरुष बनाकर उनको बुद्ध का स्थान दिला दिया गया। निर्वाण के स्थान पर वैकुंठ की कल्पना सामने रक्खी गई। बौद्ध तीर्थस्थानों की जगह लेने के लिए शिव, विष्णु तथा राम और कृष्ण से संबंध रखने वाले स्थानों का महत्व बढ़ाया गया, बौद्ध-मंदिरों के स्थान पर पौराणिक देवताओं के मंदिर बनाये गये, तथा बौद्ध और जैन कल्पित कहानियों के स्थान पर पौराणिक कहानियों का सृजन हुआ। वैदिक, बौद्ध, जैन,

वासुदेव, शैव तथा शाक्त धर्मों की इस खिचड़ी से विकसित हुए मध्यदेश के इस नये धार्मिक रूप को हम पौराणिक धर्म कह सकते हैं। वैदिक धर्म तथा उसके सुधार आंदोलनों के बाद मध्यदेश में इसी का विकास हुआ।

प्राचीन आर्य-जनता के अतिरिक्त बहुत सी नवीन जातियां भी मध्यदेश में आकर इस काल में बस गई थीं। इन्होंने मध्यदेशीय संस्कृति ग्रहण कर ली थी किंतु आर्यों के वंशज अपनी नसल अलग रखना चाहते थे। फलस्वरूप अनेक नई उपजातियों का सृजन हुआ। विवाह का संबंध साधारणतया अपनी-अपनी जाति तक सीमित रक्खा जाने लगा। यह प्रथा स्वयं आर्यों के सामाजिक विभागों अर्थात् वर्णों के अंदर भी फैलने लगी।

प्राचीन अनार्य-वर्गों की भी निश्चित जातियां धीरे-धीरे बन गई थीं। धार्मिक भेदों, प्रवास तथा आचारभेद के कारण भी जातिभेद उत्पन्न हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। जो हो मध्य-देश के सामाजिक संगठन में अनेक जातियां तथा उपजातियां, जो संस्कृति के अनुसार तो भारतीय थीं किंतु अलग-अलग नसलों को पृथक् रखने तथा उपर्युक्त अन्य कारणों की दृष्टि से जिनमें विवाह-संबंधी प्रतिबंध थे, इसी काल में विकसित हुईं। समाज के उच्च वर्गों में खाने का प्रतिबंध अब भी नहीं था।

मध्यदेशीय संस्कृति के जीवित अवस्था में होने का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि स्वयं विदेशी आक्रमणकारियों को भारतीय संस्कृति में शीघ्र ही दीक्षित कर लिया गया। आज हिंदू समाज में यूनानी, कुशान, शक, हूण आदि को हम लोग सहसा पहचान नहीं सकते यद्यपि हिंदू जातियों के रूप में ये सब आज भी विद्यमान हैं। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि ये आक्रमणकारी कोई समुन्नत तथा पृथक् धार्मिक विचारावली को लेकर नहीं आये थे। जो हो, प्राचीन द्राविड़ आदि अनार्य भारतीयों के साथ-साथ ये भी मध्यदेशीय समाज के अंग हो गये। एक विद्याव्यसनी वयोवृद्ध सज्जन का अनुमान है कि वर्तमान हिंदू समाज में भारत-यूनानी खत्री, शक (सीदियन) जाट, यूहची (कुशान) गूजर तथा हूण अहीर जातियों के रूप में वर्तमान हैं। इस अनुमान के आधार पर विशेष खोज की आवश्यकता है। उन्हीं के अनुसार कुर्मी द्राविड़ शाखा से संबंधित हैं।

वैश्यवर्ग में भिन्न-भिन्न पेशे करनेवालों जैसे सुनार, तेली, लुहार, कुम्हार, किसान आदि के जन्मगत पृथक् भेद अभी भी नहीं हो पाये थे, यद्यपि ऊँच-नीच पेशों में विवाह-संबंधी कम अवश्य होता होगा।

धार्मिक शिक्षा के विषयों के संबंध में १४ विद्याओं का उल्लेख मिल जाता है, अर्थात् ४ वेद, ६ वेदांग, पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्म। इनके अतिरिक्त अनेक लौकिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती होगी। मगध में नालंद की बौद्ध-विद्यापीठ की स्थापना सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल में हुई थी और उनके उत्तराधिकारियों के समय में इसकी निरंतर उन्नति होती गई।

द्वितीय साम्राज्य के समय के भवनों तथा मंदिरों आदि के अवशेष बहुत कम बचे हैं। इनमें अजंता की गुफाओं के कुछ भाग तथा उनके चित्र विशेष महत्वपूर्ण हैं।

मध्यदेश के बाहर मध्यदेशीय संस्कृति के विकास का क्रम इस काल में भी परावर चलता रहा। जनपदकाल में यह संस्कृति समस्त आर्यावर्त, दक्षिण भारत तथा भारत के बाहर पश्चिमोत्तर की ओर ईरान तथा यूरप के कुछ भागों की ओर गई थी। प्रथम साम्राज्य काल में, लंका, ब्रह्मा, स्याम आदि प्रदेशों की ओर इसका प्रसार हुआ था। द्वितीय साम्राज्यकाल में वैष्णव तथा शैवधर्म कंबोज, सुमित्रा, जावा आदि पूर्व के द्वीप समूहों में फैला।

गुप्तकालीन मध्यदेश की अवस्था का आँखों देखा विवरण हम चीनी यात्री फ़ाहियान के ग्रंथ में पाते हैं। बुद्ध भगवान् से संबंधित स्थानों में फ़ाहियान की विशेष दिलचस्पी थी। यह स्वाभाविक है। इसके कुछ भागका सार नीचे दिया जाता है।

मथुरा से दक्षिण मध्यदेश कहलाता है। यहां शीत और उष्ण सम हैं, प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखापढ़ी और पंच पंचायत कुछ नहीं है। लोग राजा की भूमि जोतते हैं और उपज का अंश देते हैं। जहां चाहें जायें, जहां चाहें रहें। राजा न प्राणदंड देता है और न शारीरिक दंड देता है। अपराधी को अवस्थानुसार उत्तम साहस वा मध्यम साहस का अर्थदंड दिया जाता है। बारबार दस्युकर्म करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतिहार और सहचर वेतनभोगी हैं। सारे देश में कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है और न लहसुन प्याज खाता है, सिवाय चांडाल के। दस्यु को चांडाल कहते हैं। वे नगर के बाहर रहते हैं और नगर में जब पैठते हैं तो सूचना के लिए लकड़ी बजाते चलते हैं, कि लोग जान जायें और बच कर चलें, कहीं उनसे छू न जायें। जनपद में सुअर और मुर्गे नहीं पालते, न जीवित पशु बेचते हैं, न कहीं सूनागार और मद्य की दूकानें हैं। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का व्यवहार है। केवल चांडाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं।

यहां से दक्षिण-पूर्व अठारह योजन चले तब संकाश्य (ज़िला फरुखाबाद) नामक जनपद मिला। यह जनपद बहुत उपजाऊ है। प्रजा प्रभूत और सुखी है। यहां और देश के लोग आते हैं तो उन्हें कष्ट नहीं होने पाता। उन्हें जिस वस्तु की आवश्यकता हैं देते हैं।

कोसल जनपद के नगर श्रावस्ती पहुँचे। नगर में बहुत कम अधिवासी हैं और जो हैं तितर-बितर हैं। सब मिला कर दो सौ से कुछ ही अधिक घर होंगे। यह नगर राजा प्रसेनजित की राजधानी था। कपिलवस्तु नगर में न राजा है, न प्रजा। केवल खंडहर और उजाड़ है। कुछ श्रमण रहते हैं, और दस घर अधिवासी हैं। शुद्धोदन के महल में अब कुमार और माता की मूर्ति बनी है। कपिलवस्तु जनपद महाशून्य है। अधिवासी बहुत कम हैं। मार्ग में श्वेत हस्ती और सिंह से बचने की आवश्यकता है। बिना सावधानी के जाने योग्य नहीं है।

वैशाली नगर (ज़िला मुजफ़्फ़रपुर) के उत्तर एक महावन कूटागार विहार है। नगर में अंबपाली वेश्या रहती थी। उसने बुद्धदेव का स्तूप बनवाया था वह अब तक वैसा ही है। नगर के दक्षिण तीन ली पर अंबपाली वेश्या का बाग़ है जिसे उसने बुद्धदेव को दान दिया कि वे उसमें रहें। बुद्धदेव परिनिर्वाण के लिए जब सब शिष्यों सहित वैशाली नगर के पश्चिम द्वार से निकले

तो दाहिनी ओर वैशाली नगर को देखकर शिष्यों से कहा—यह मेरी अंतिम विदा है। पीछे लोगों ने वह स्तूप बनवाया।

(गंगा) नदी उतर कर दक्षिण एक योजन चलकर मगध जनपद के पुष्पपुर (पाटलिपुत्र, पटना) में पहुँचे। पुष्पपुर अशोक राजा की राजधानी थी। नगर में अशोक राजा का प्रासाद और सभाभवन हैं। सब असुरों के बनायें हैं। पत्थर चुनकर भीत और द्वार बनायें हैं। सुंदर खुदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के लोग नहीं बना सकते। अबतक वैसे ही हैं। मध्यदेश में इस जनपद का यह नगर सबसे बड़ा है। अधिवासी सम्पन्न और समृद्धिशाली हैं। दान और सत्य में स्पर्द्धालु हैं। प्रतिवर्ष रथयात्रा होती है। जनपद के वैश्यों के मुखिया लोग नगर में सदावर्त और औषधालय स्थापित करते हैं। देश के निर्धन, अपंग, अनाथ, विधवा, निःसंतान, लूले, लंगड़े और रोगी इस स्थान पर जाते हैं। उन्हें सब प्रकार की सहायता मिलती है। वैद्य रोगों की चिकित्सा करते हैं। वे अनुकूल पथ्य और औषध पाते हैं। अच्छे होते हैं, तब जाते हैं।

राजगृह के नये नगर में पहुँचे। नया नगर अजातशत्रु राजा का बसाया है। इसमें दो संघाराम हैं। नगर के दक्षिण निकलकर चार ली पर दक्षिण ओर से एक घाटी से होकर पाँच पर्वतों के दून में पहुँचे। पांचों पर्वत किनारे किनारे नगर की प्राचीर की भांति खड़े हैं। यहां बिंबिसार-राजा का प्राचीन नगर था। नगर के भीतर सुनसान है कोई मनुष्य नहीं है। घाटी में होकर पर्वत के किनारे-किनारे से पूर्व-दक्षिण ओर १५ ली चढ़कर गृध्रकूट पर्वत पर पहुँचे। इस पर्वत का शिखर हराभरा खड़ा है। यह पाँचों पर्वतों में सब से ऊंचा है। एक रात रहा और नये नगर को लौट आया।

गया (बुद्ध गया) नगर में पहुँचे। नगर के भीतर सुनसान और उजाड़ है। दक्षिण १२ ली चलकर बोधिसत्व के ६ वर्ष घोर तप करने के स्थान पर पहुँचे। इस स्थान पर जंगल था।

फ़ाहियान पाटलिपुत्र की ओर फिरा। गंगा के किनारे-किनारे पश्चिम चलकर वाराणसी जनपद के काशी नगर में पहुँचा। नगर के पश्चिम उत्तर १० ली पर ऋषिपत्तन विहार है। भगवान् के बोधिज्ञान प्राप्त होने के पीछे लोगों ने इस स्थान पर विहार निर्माण किया।

पत्तन मृगदाव विहार से पश्चिमोत्तर १३ योजन पर कौशांबी नामक जनपद है। विहार का नाम है गोक्षीर वन। अबतक पूर्ववत् है। भिक्षु संघ रहते हैं। प्रायः हीनयान अनुयायी हैं।

दक्षिण जनपद अत्यंत निराले हैं। मार्ग भयावह और दुस्तर हैं। कठिनाइयों को झेल कर जाने के इच्छुक सदा धन और उपहार वस्तु साथ लेकर जाते हैं और जनपद के राजा को देते हैं। राजा प्रसन्न हो रक्षक मनुष्य साथ भेजता है जो एक बस्ती से दूसरी बस्ती तक पहुँचाते और सुगम मार्ग बताते हैं। फ़ाहियान तो वहां न जा सका। देश के लोगों ने जो कहा उसे जैसा सुना, वैसा उसने वर्णन किया।

'वाराणसी से पूर्व लौट कर फ़ाहियान फिर पाटलिपुत्र पहुँचा। यहां वह तीन वर्ष रहा। संस्कृत भाषा और संस्कृत ग्रंथों का अभ्यास करता और विनयपिटक लिखता रहा। उसका साथी तावचिंग जब मध्यदेश में पहुँचा तो उसने श्रमणों को देखा। संघ का उत्कृष्ट आचार-

व्यवहार और बात-बात में उसे विनय का अनुसरण मिला। तो तावचिंग को चीन की प्रांत भूमि के भिक्षु संघ के अधूरे और विच्छिन्न विनय का स्मरण आया। उसने शपथ करके कहा, 'अब से जब तक बुद्ध न होऊँ, प्रांत की भूमि में जन्म न लूँ।' फिर वह यहीं रह गया और न लौटा। फ़ाहियान का तो मुख्य अभिप्राय समग्र विनय ले जाकर हान देश में प्रचार करना था। निदान वह अकेला लौटा।"[1]

प्रथम साम्राज्य के समाप्त होने पर मध्यदेश से बौद्ध और जैनधर्म के प्रभाव के साथ पाली तथा अर्द्धमागधी भाषाओं और साहित्यों की भी लोकप्रियता कम होती गई। फलस्वरूप हम भाषा और साहित्य के क्षेत्र में फिर संस्कृत का प्राधान्य पाने लगते हैं। संस्कृत का प्रथम अभिलेख १५० ई० का मिला है। इसके बाद शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्कों आदि का संस्कृत में होना नियम हो गया। इस समय लिपि प्राचीन ब्राह्मी का परिवर्तित रूप था जो गुप्तलिपि कहलाती है। इसके बाद का रूप कुटिल लिपि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विश्रांतिकाल (१-३०० ईसवी) में उत्तरापथ के कुशान वंश तथा द्वितीय साम्राज्यकाल (३००-६०० ई०) में समस्त आर्यावर्त की राजभाषा संस्कृत ही थी और यह परंपरा आगे के राजवंशों के समय में भी चलती रही है। सच तो यह है कि लौकिक संस्कृत भाषा और साहित्य का विकास इन्हीं कालों में हुआ।

हम देख चुके हैं कि रामायण तथा महाभारत का अंतिम संपादन द्वितीय साम्राज्यकाल में समाप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त प्राचीन धर्मसूत्रों के आधार पर समकालीन व्यवहार धर्म के मिश्रण से धर्मशास्त्र अथवा स्मृतिग्रंथों का एक पृथक् साहित्य ही बन गया। ये ग्रंथ इतिहास-काव्यों के समान अनुष्टुभ् छंद में ही हैं। प्रसिद्ध मनुस्मृति की रचना (लगभग २०० ई०) पश्चिम मध्यदेश में हुई तथा याज्ञवल्क्यस्मृति का संबंध (३५० ई०) पूर्व मध्यदेश के मिथिला जनपद से है। अन्य स्मृतियों में विष्णु स्मृति (३०० ई०) तथा नारदस्मृति (५०० ई०) अधिक प्रसिद्ध हैं। महाभारत में भी धर्मशास्त्र से संबंध रखनेवाले अनेक अंशों का समावेश किया गया है। धर्मशास्त्रों में किस प्रकार के विषय हैं, यह मनुस्मृति की निम्नलिखित विषय-सूची से स्पष्ट हो सकेगा:—

अध्याय १. जगत की उत्पत्ति से लेकर वर्णव्यवस्था तक, २. संस्कार, ब्रह्मचर्य-आश्रम के विस्तृत नियम, ३-५. विवाह तथा गृहस्थधर्म, ६. वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम, ७. राजधर्म, ८. व्यवहार, न्याय तथा दंडविधान, ९. स्त्री-पुरुष संबंध तथा दायभाग, १०. वर्णधर्म, ११. ब्राह्मणवर्ण के विशेष अधिकार तथा प्रायश्चित्त, १२. कर्म तथा कर्मफल।

परंपरागत पुराण-साहित्य को भी निश्चित रूप द्वितीय साम्राज्यकाल में ही दिया गया। प्राचीन अनुश्रुतियों में ऐतिहासिक, धार्मिक तथा धर्मशास्त्र-संबंधी सामग्री को बढ़ाकर इस नई साहित्यिक धारा की रचना की गई। पुराणों की संख्या १८ मानी जाती है, जिनमें ६ वैष्णव

---

[1] फ़ाहियान—अनुवादक, जगमोहन वर्मा।

पुराण (विष्णु, नारदीय, भागवत, गरुड़, पद्म, वाराह), ६ शैव पुराण (मत्स्य, कूर्म, लिंग, वायु, स्कंद, अग्नि) और ६ ब्रह्म पुराण (ब्रह्मांड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कंडेय, भविष्य, वामन और ब्रह्म) हैं। समस्त पुराण एक ही समय की रचनायें नहीं हैं। इनकी रचना धीरे-धीरे कई शताब्दी तक होती रही। प्राचीन पुराणों में नई सामग्री का समावेश भी बराबर होता रहा है। यह परंपरा राजवंशकाल तक चलती रही जब कि उपपुराण और विशेषतया भागवत की रचना हुई (९ वीं शती)। यद्यपि भागवत दक्षिण भारत की रचना है किंतु इसका प्रभाव मध्यदेश की धार्मिक विचारावली पर विशेष पड़ा।

अधिकांश धर्मशास्त्रों की रचना प्रथम साम्राज्य के बाद तथा द्वितीय साम्राज्य के उत्थान के पहले हुई, अतः इनकी रचना राज्याश्रय से अथवा राज्य की आवश्यकताओं से प्रेरित नहीं थी। प्रथम साम्राज्य के समाप्त हो जानेपर जानपदिक प्रेरणा ही इनके मूल में दिखाई पड़ती है। राजवंश काल में पहुँच कर मौलिक धर्मशास्त्रों की रचना तो विशेष नहीं हुई किंतु प्राचीन धर्मशास्त्रों की टीकाओं के रूप में नवीन सामग्री का समावेश हुआ। इस प्रकार के साहित्य में मेधातिथि-कृत मनुस्मृति की टीका (१० वीं शती) तथा विज्ञानेश्वर कृत (१२वीं शती) मिताक्षरा नाम की याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका सब से अधिक महत्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार दर्शन-सूत्रों की टीकाएं भी राजवंश काल में लिखी गईं। इनमें मीमांसा सूत्रों का शवर स्वामिन्-कृत भाष्य तथा कुमारिल कृत तंत्रवार्तिक और वेदांत-सूत्रों का शंकराचार्य कृत भाष्य विशेष प्रसिद्ध हैं।

वैदिक साहित्य की अथर्ववेद तथा धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों की परंपरा से संबंध रखनेवाले धर्मशास्त्र शीर्षक अर्द्धधार्मिक और अर्द्धराजनीतिक-सामाजिक साहित्य के अतिरिक्त हम संस्कृत में विशुद्ध काव्य साहित्य का विकास भी इसी काल में पाते हैं। इस परंपरा का संबंध यों तो आदिकाव्य रामायण तथा पंचम (इतिहास) वेद महाभारत के आख्यानों से जोड़ा जा सकता है किंतु इस धारा में अब हम अधिक परिमार्जन तथा अनेकरूपता पाते हैं। संस्कृत ललित-साहित्य, महाकाव्य तथा खंडकाव्य, नाटक और गद्यकाव्य इन तीन मुख्य वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें प्रथम दो शैलियां अधिक लोकप्रिय थीं। संस्कृत महाकाव्य शैली में लिखी गई उपलब्ध प्राचीनतम रचनायें हमें अश्वघोष की मिलती हैं। यह महाकवि कदाचित् मगध का रहनेवाला था किंतु कुशान वंश के सम्राट् कनिष्क के दरबार से इसका संबंध था। अश्वघोष रचित महाकाव्यों में सौंदरानंद महाकाव्य और बुद्धचरित प्रसिद्ध हैं। नाटकों में शारद्वती पुत्र प्रकरण का उल्लेख किया जा सकता है। अश्वघोष के बाद दूसरे प्रसिद्ध कवि भास (चौथी शताब्दी ई०) हुए हैं, जिनके लिखे १३ नाटक मिले हैं। इनमें पंचरात्र तथा स्वप्नवासवदत्ता की विशेष ख्याति है। प्रसिद्ध नाटक मृच्छकटिक के कारण शूद्रक का नाम भी अमर हो गया है (चौथी शती)।

नाटक-रचना की यह परंपरा राजवंश-काल में भी चलती रही। इस काल के नाटकों में सम्राट् हर्षवर्धन-कृत रत्नावली, भवभूति-कृत उत्तररामचरित (८वीं शती) और भट्ट

नारायण-कृत वेणीसंहार (६वीं शती) प्रसिद्ध रचनायें हैं। नाटकों में संस्कृत के साथ साधारण लोगों की बातचीत में प्राकृत भाषाओं का भी स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग होता था। आद्योपांत प्राकृत में लिखे गये नाटकों में राजशेखर कृत कर्पूरमंजरी (१०वीं० शती) सब से अधिक प्रसिद्ध है।

संस्कृत के महाकवियों में प्रथम स्थान कालिदास को प्राप्त है। ये कदाचित् अवंति (मालवा) की राजधानी उज्जैन के रहनेवाले थे और अधिकांश विद्वानों के मत के अनुसार सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के राजकवि थे। इनके रचित महाकाव्यों में रघुवंश और कुमारसंभव, खंडकाव्यों में मेघदूत और ऋतुसंहार तथा नाटकों में शकुंतला, विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र आजतक संस्कृतप्रेमी विद्यार्थियों तथा विद्वानों के प्रिय ग्रंथ हैं। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस नाटक तथा भारवि का किरातार्जुनीय महाकाव्य इस काल के अंत की रचनाएं हैं। (छठी शती)। माघ-कृत शिशुपालवध (६वीं शती) तथा श्रीहर्ष-कृत नैषधचरित (१२वीं शती) महाकाव्य शैली की अंतिम प्रसिद्ध रचनायें हैं। खंड तथा मुक्तक काव्यों में भर्तृहरि-कृत त्रिशतक (७वीं शती) अत्यंत लोकप्रिय हुए। गद्य आख्यान काव्य का प्रथम प्रसिद्ध ग्रंथ विष्णुशर्मा-कृत पंचतंत्र यद्यपि मध्यदेश में नहीं लिखा गया किंतु इसका संबंध इसी काल से है। दंडिन् का दशकुमारचरित ७वीं शताब्दी में लिखा गया। इसके उपरांत लिखे गये गद्यकाव्यों में सुबंधु-कृत वासवदत्ता (७वीं) और बाण-कृत कादंबरी तथा हर्षचरित (७वीं शती) में यह शैली पराकाष्ठा को पहुँच गई।

इस काल के अंत में मौलिक काव्यग्रंथों के अतिरिक्त सहायक साहित्य का लिखा जाना भी आरंभ हो गया था। इस श्रेणी के ग्रंथों में अमरसिंह-कृत प्रसिद्ध अमरकोष (५-६ शताब्दी) विशेष उल्लेखनीय है। इस परंपरा के अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ भरत कृत नाट्यशास्त्र (६वीं शती) दंडिन्-कृत काव्यादर्श, वामन-कृत काव्यालंकारसूत्र (८वीं), धनंजय-कृत दशरूप (१०वीं शती) तथा मम्मट-कृत काव्यप्रकाश (१२वीं शती) हैं। उपयोगी विषयों पर लिखे गए ग्रंथों में वात्स्यायन-कृत कामसूत्र (२-३ शताब्दी), आर्यभट्ट (४७६ ई०) कृत ज्योतिष का प्रसिद्ध ग्रंथ आर्यभटीय (५-६ श०) तथा वराहमिहिर (५०५-८७ ई०) कृत पंचसिद्धांतिका, वैद्यक के ग्रंथ चरक तथा सुश्रुत और वास्तुशास्त्र की रचना मानसार (६-७ ई०) का उल्लेख किया जा सकता है। उपर्युक्त संस्कृत ग्रंथों में यद्यपि समस्त मध्यदेश की रचनायें नहीं हैं, किंतु इनका पठनपाठन और प्रभाव मध्यदेश पर रहा इसलिए इनका उल्लेख कर दिया गया है। संस्कृत साहित्य की परंपरा के संबंध में द्वितीय साम्राज्यकाल तथा उसके परवर्ती राजवंशों के काल को पृथक् नहीं किया जा सकता है।

संस्कृत में महायान बौद्ध साहित्य भी इसी काल की रचना है, यद्यपि इसका संबंध मध्यदेश से विशेष नहीं है, न इसका यहां विशेष प्रचार हो सका।

इस बात का उल्लेख ऊपर हो चुका है कि जैन अर्द्धमागधी साहित्य को अंतिम रूप इसी काल में पश्चिम आर्यावर्त में मिला था। प्राकृत लौकिक साहित्य तथा अपभ्रंश साहित्य की रचनायें भी इन कालों में हुई हैं।

राजवंश-युग

(६०० ई०—१२०० ई०)

६. राजवंश-कालीन शासक

(६००–१२०० ई०)

द्वितीय साम्राज्य की केंद्रीय शक्ति के क्षीण हो जाने पर मध्यदेश तथा शेष आर्यावर्त के भिन्न-भिन्न प्रदेश फिर स्वतंत्र राज्यों के रूप में पृथक् हो गये। गुप्तवंश का राज्य धीरे-धीरे मगध तक सीमित रह गया था। इतिहासज्ञ इन शासकों को बाद के गुप्त शासक के नाम से पुकारते हैं। इस समय मध्यदेश का राजनीतिक केंद्र पूर्व मध्यदेश से पश्चिम मध्यदेश में लौटा। पाटलिपुत्र (मगध) के स्थान पर कान्यकुब्ज (पंचाल) शक्ति का केंद्र बना। मध्यदेश में कान्यकुब्ज का विशाल राज्य लगभग ६०० वर्ष तक अत्यंत संपन्न अवस्था में चला। इसका विस्तार साधारणतया पश्चिम मध्यदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) तक प्रायः सीमित रहा, यद्यपि वर्द्धन-वंश के समय में मगध और वंग तक इसका विस्तार हो गया था। बहुत दिनों तक पूर्व-मध्यदेश (मगध) इसके अंतर्गत रहा। दक्षिण मध्यदेश में अवश्य स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये थे और इनके साथ विवाह संबंध तथा युद्ध आदि चलते रहे। कान्यकुब्ज के शासकों में कई बार वंश परिवर्तन हुआ इनमें मौखरि, वर्द्धन, वर्मन्, आयुध, प्रतिहार, गाहड़वार वंश मुख्य थे बीच बीच में कुछ समय का इतिहास उपलब्ध नहीं है।

द्वितीय साम्राज्य के शिथिल होने पर कान्यकुब्ज मौखरि-वंश के शासकों के हाथ में चला गया था। इस वंश तथा बाद के गुप्त-वंश के शासकों के बीच कई बार विवाह-संबंध भी स्थापित हुआ। कन्नौज के मौखरि-वंश के क्षत्रिय राजाओं में सबसे प्रसिद्ध महाराज ईशानवर्मन् थे जिन्होंने कदाचित् आंध्र तक विजय-यात्रा की थी। उनके पुत्र महाराज सर्ववर्मन् ने पश्चिमोत्तर में हूणों को एक बार पराजित किया था। महाराज सर्ववर्मन् के पुत्र महाराज ग्रहवर्मन् का विवाह स्थानेश्वर के महाराज प्रभाकरवर्द्धन की पुत्री राज्यश्री से हुआ था। मालवा के राजा देवगुप्त ने धोखे से इन्हें मार डाला था। राज्यश्री बौद्ध भिक्षुणी हो गई। इस प्रकार कन्नौज के मौखरि-वंश का अंत हो गया। राज्यश्री के छोटे भाई महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन के स्थाणेश्वर (थानेसर) के राज्य के अंतर्गत कान्यकुब्ज का राज्य भी चला गया।

वर्द्धनवंश के शासकों का राज्य श्रीकंठ प्रदेश (कुरु जनपद) में था और इसकी राजधानी स्थाणेश्वर में थी। हूण आक्रमण की गड़बड़ी के दिनों में इस राज्य की स्थापना राजा नरवर्द्धन ने की थी। बाद के मगध के गुप्त-वंश और वर्द्धन-वंश के बीच में भी विवाह-संबंध रहा था। महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन ने विजयों के द्वारा राज्य की शक्ति विशेष बढ़ाई थीं। इनके पुत्र महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन थे, जिनके गौड़ (बंगाल) के राजा शशांक के

हाथ से मारे जाने पर उनके छोटे भाई महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन को राज्य का कार्य सम्हालना पड़ा। हर्षवर्द्धन ने गौड़ के शशांक को परास्त कर कान्यकुब्ज से हटाया। इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि इनकी बहन राज्यश्री के राज़ी न होने पर कन्नौज राज्य भी वर्द्धन-वंश के हाथ में आगया। महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन अपनी राजधानी स्थाणेश्वर से हटाकर कान्यकुब्ज ले आये। इस प्रकार कान्यकुब्ज की राज्य-परंपरा मौखरि-वंश के वाद वर्द्धन-वंश के रूप में परिवर्तित हो गई।

महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन एक अत्यंत सफल और शक्तिशाली शासक सिद्ध हुए। उन्होंने एक वार फिर लगभग समस्त मध्यदेश को एक शासन-सूत्र में बाँधा। उनके राज्य के विस्तार का ठीक-ठीक पता तो नहीं चलता है किंतु अनुमान से स्थाणेश्वर, कान्यकुब्ज (कुरु-पंचाल) प्रदेश के अतिरिक्त, श्रावस्ती-वाराणसी (अवध-काशी), वैशालि-मगध-अंग (विहार) तथा दक्षिण बंगाल और उड़ीसा तक का आर्यावर्त उनके राज्य के अंतर्गत आगया था और एक तरह से वह मध्यदेश तथा पूर्व आर्यावर्त का एक छोटा सा साम्राज्य सा हो गया था। दक्षिण-पश्चिम मध्यदेश मथुरा, बैराट (जयपुर), उज्जैन, बुंदेलखंड आदि स्वतंत्र राज्यों में बँटा था तथा उत्तरा-पथ और पश्चिम-आर्यावर्त में भी स्वतंत्र राज्य थे। नैपाल की तराई और आसाम कान्यकुब्ज के अंतर्गत नहीं थे।

सम्राट् हर्षवर्द्धन के समय में ही प्रसिद्ध चीनी यात्री यूनच्वांग (हुएनसांग) मध्यदेश की यात्रा के लिए आया था और उसके यात्रा-विवरण उस समय की मध्यदेश की स्थिति तथा विशेषतया सम्राट् की सेना, शासन-व्यवस्था आदि पर विशेष प्रकाश डालते हैं।

वर्द्धन-वंश के शासक शैव थे, किंतु सम्राट् हर्षवर्द्धन का झुकाव धीरे-धीरे बौद्ध धर्म की ओर हो गया था। सम्राट् हर्षवर्द्धन ने ६०६ से ६४९ ई० तक राज्य किया था। उनकी मृत्यु के साथ ही वर्द्धन-वंश का यह विशाल राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। पूर्व में आसाम के भास्कर वर्मन ने वंग पर अधिकार कर लिया। मगध में द्वितीय गुप्त-वंश के माधव गुप्त के पुत्र आदित्यसेन ने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया था। राजपूताना में गुर्जर शासकों ने भी अपने राज्य की सीमायें बढ़ा लीं। इस प्रकार कान्यकुब्ज का राज्य फिर सीमित रह गया।

हर्षवर्द्धन की मत्यु के बाद लगभग एक शताब्दी तक कान्यकुब्ज राज्य की स्थिति का ठीक पता नहीं चलता। कन्नौज के अगले प्रसिद्ध शासक वर्मन्-वंश के महाराज यशोवर्मन् (७२७-७५२ ई०) थे। इन्होंने मगध के समकालीन गुप्त शासक जीवगुप्त द्वितीय को परास्त किया था। यशोवर्मन् को स्वयं काश्मीर से हार माननी पड़ी थी। मालतीमाधव, महावीर-चरित और उत्तररामचरित नाटकों के लेखक संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि भवभूति तथा प्राकृत-काव्य गौडवहो के लेखक वाक्पति महाराज यशोवर्मन् के ही दरबार में थे।

महाराज यशोवर्मन् के तीन उत्तराधिकारियों के बाद कान्यकुब्ज का राज्य आयुध-वंश के शासकों के हाथ में गया। महाराज इंद्रायुध के समय में (लगभग ७८३ ई०) मध्यदेश की शक्ति

के लिए राष्ट्रकूटों तथा बंगाल के पाल शासकों ने हस्तक्षेप किया था, किंतु इनको स्थायी सफलता नहीं मिल सकी।

इसी गड़बड़ी में मंदौर (जोधपुर) तथा उज्जैन के शासक नागभट्ट द्वितीय प्रतिहार ने (८०५-३३ ई०) कान्यकुब्ज पर अधिकार करके वहां प्रतिहार-वंश की स्थापना की। प्रतिहार-वंश के शासक कदाचित् गुर्जर जाति के थे और उनका मूल निवासस्थान मंदौर (जोधपुर) में था, किंतु अवंति को जीत कर उज्जैन में उन्होंने अपनी राजधानी बना ली थी, अतः समस्त दक्षिण मध्यदेश पर इनकी शक्ति का आतंक पहले से ही था। कान्यकुब्ज के हाथ में आ जाने से इनकी शक्ति द्विगुणित हो गई। प्रतिहार-वंश के ही शासक मिहिरभोज (८३६-८५ ई०) थे। मिहिरभोज शक्तिशाली राजा थे और इनका आधिपत्य लगभग समस्त मध्यदेश पर फैल गया था। इन्होंने बंगाल के पाल-शासकों से भी युद्ध किया था और दक्षिण में राष्ट्रकूट राजाओं से अनेक युद्ध किये थे। सिंध के अरब शासक इनकी शक्ति से भयभीत रहते थे। मिहिरभोज के उत्तराधिकारी महेंद्रपाल प्रथम (८८५-९१० ई०) थे जिनके दरबार में कर्पूरमंजरी, बालभारत, बालरामायण, काव्यमीमांसा आदि प्रसिद्ध ग्रंथों के लेखक महाकवि राजेश्वर थे। मध्यदेश के अंतिम शक्तिशाली प्रतिहार-शासक देवपाल थे (९४८ ई० सिंहासन)। इनके बाद प्रतिहारों के विशाल राज्य का दक्षिण मध्यदेश का भाग कई स्वतंत्र वंशों के हाथ में धीरे धीरे पृथक् हो गया।

इन नये राज्यवंशों में शाकंभरी (अजमेर) के चाहमान, त्रिपुरी के कलचुरी, जेजकभुक्ति (बुंदेलखंड) के चंदेल और मालवा के परमार मुख्य थे। कान्यकुब्ज में प्रतिहार-शासक इसके बाद भी कुछ समय तक राज्य करते रहे। महाराजा राज्यपाल के समय में पंजाब पर सुलतान सुबुक्तगीन ने आक्रमण किया था और उन्होंने भटिंडा (पंजाब) के शासक राजा जयपाल की सहायता के लिए सेना भेजी थी। महाराजा राज्यपाल के उत्तराधिकारी महाराज अनंगपाल के समय में महमूद ग़ज़नवी ने आक्रमण किये थे। १०१८ ई० में महमूद ग़ज़नवी की सेना मध्यदेश में घुस आई थी। अंतिम प्रतिहार-शासक महाराजा यशपाल थे जिनका उल्लेख १०३६ ई० तक मिलता है।

प्रतिहार-वंश के समाप्त हो जाने पर मध्यदेश में कुछ दिन अराजकता रही और फ़िर कान्यकुब्ज का राज्य गाहडवार वंश के हाथ में गया। १०८० ई० के लगभग प्रथम गाहडवार चंद्रदेव के हाथ में कान्यकुब्ज का राज्य आया था और इसका विस्तार लगभग वर्तमान उत्तर-प्रदेश तक था। ११०० ई० के लगभग महाराज चंद्रदेव की मृत्यु के बाद इनके एक उत्तराधिकारी महाराज गोविंदचंद्र ने मगध तथा मालवा को भी अपने राज्य में मिला लिया था। महाराज गोविंदचंद्र के बाद उनके पुत्र महाराज विजयचंद्र ११५४ ई० के लगभग मध्यदेश के राज्य के उत्तराधिकारी हुए। उन्होंने पंजाब में आक्रमणकारी मुसलमानों से युद्ध किये किंतु अजमेर के राजा व्याघ्रराज वीसलदेव ने दिल्ली का प्रांत कदाचित् इनसे छीन लिया था। मध्यदेश के अंतर्गत कान्यकुब्ज राज्य के अंतिम स्वतंत्र गाहडवार-शासक महाराज जयचंद्र थे। इन्हींके

दरबार में श्रीहर्ष ने नैषधचरित तथा खंडनखंडखाद्य ग्रंथ लिखे थे। गंगा की घाटी में इनके राज्य का विस्तार अबतक भी गया तक था। एक प्रकार से वर्तमान उत्तरप्रदेश और बिहार का एक सम्मिलित राज्य था। इन्हीं के समय में सिहाबुद्दीन ग़ोरी का मध्यदेश पर आक्रमण हुआ था। ११९२ ई० में दिल्ली के चौहान-शासक महाराज पृथ्वीराज को हराने के बाद ११४९ ई० में इटावा के निकट मुहम्मद ग़ोरी तथा महाराज जयचंद्र की सेनाओं की मुठभेड़ हुई, जिसमें महाराज जयचंद्र की सेना परास्त हुई और वे स्वयं युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुये। इसके उपरांत मध्यदेश का शासन पहली बार स्थायी रूप से विधर्मी तथा भिन्न संस्कृति वाले सुलतान शासकों के हाथ में चला गया।

इस तरह हम यह पाते हैं कि द्वितीय साम्राज्य के समाप्त हो जाने पर भी लगभग समस्त मध्यदेश कान्यकुब्ज के विशाल राज्य के रूप में प्रायः एक केंद्रीय शासन में बना रहा। ६०० वर्ष के इस लंबे समय में वंश-परिवर्तन तो कई बार हुए, यह स्वाभाविक ही है, किंतु यों समस्त गंगा की घाटी क्षत्रिय राजवंशों की छत्रछाया में रही। पूर्व-मध्यदेश (मगध) कभी-कभी पृथक् हो गया था, किंतु अधिकांश काल में यह और पश्चिम मध्यदेश सम्मिलित ही रहे। दक्षिण-मध्यदेश के विंध्यप्रदेश में अवश्य कई बार छोटे-छोटे स्वाधीन राज्य बने और बिगड़े। मालवा, जयपुर और बुंदेलखंड के समकालीन शासक कान्यकुब्ज के राजाओं के निर्बल पड़ जाने पर पृथक् हो जाते थे। कान्यकुब्ज के शक्तिशाली शासक फिर उन्हें अपने में सम्मिलित कर लेते थे। यह परिस्थिति लगभग प्रतिहार-वंश के समय तक चलती रही। इसके उपरांत दक्षिण-मध्यदेश के राजवंश स्थायी रूप से पृथक् हो गये (१००० ई०)। दक्षिण-मध्यदेश के इन मुख्य राज्यों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

शाकंभरी (साँभर, अजमेर) का चाहमान-वंश इनमें प्रमुख था। इस वंश का उल्लेख ९७३ ई० में पहले-पहल मिलता है। बारहवीं शताब्दी के आरंभ में चाहमान-शासक महाराज अजयराज ने अजयमेरु (अजमेर) नगर बसाया था। एक अन्य शक्तिशाली शासक महाराज विग्रहराज चतुर्थ अथवा वीसलदेव थे (११५३-६४ ई०)। इन्होंने ही कदाचित् दिल्ली को कान्यकुब्ज के महाराज विजयचंद्र गाहडवार से छीन कर अपने राज्य की सीमायें वहां तक बढ़ाई थीं। महाराज वीसलदेव काव्यप्रेमी भी थे। स्वयं महाराज की एक रचना हरिकेलिनाटक के कुछ भाग पत्थर पर खुदे हुए अजमेर की एक मसजिद की दीवार पर मिलते हैं। अढ़ाई दिन का झोपड़ा नाम की मसजिद महाराज द्वारा स्थापित एक विद्यापीठ थी। महाकवि सोमदेव-कृत ललित विग्रहराज के कुछ भाग भी इसी तरह मिले हैं। हिंदी का एक प्राचीन काव्य-ग्रंथ नरपतिनाल्ह-कृत वीसलदेवरासो में इन्हीं के राज्यकाल का वर्णन है। अजमेर-दिल्ली के चाहमान-वंश के अंतिम स्वतंत्र शासक महाराज पृथ्वीराज तृतीय (११७९-९२ ई०) थे। इन्हीं के दरबार में पृथ्वीराजरासो के लेखक हिंदी के आदि कवि चंद थे, ऐसी अनुश्रुति है। महाराज पृथ्वीराज ने कान्यकुब्ज के महाराज जयचंद की पुत्री संयोगिता का स्वयंवर से अपहरण किया था जिस कारण दोनों राज्यों में स्थायी वैमनस्य हो गया था। उन्होंने महोबा (बुंदेलखंड) के चंदेल-शासक राजा

परमार्दि (परमाल) पर आक्रमण करके महोबा तथा बुंदेलखंड के कई दुर्गों पर अधिकार कर लिया था। दक्षिण-पश्चिम मध्यदेश के शासक होने के कारण सिहाबुद्दीन ग़ोरी के मध्यदेश के आक्रमण की पहली चोट इन्हें ही लेनी पड़ी थी। ११९१ ई० में तरौरी के मैदान में महाराज पृथ्वीराज के द्वारा ग़ोरी की सेना की भारी हार हुई, किंतु अगले ही वर्ष ११९२ ई० में ग़ोरी अपनी सेना को फ़िर ठीक करके लौटा। महाराज जयचंद्र के अतिरिक्त पड़ोस के कई अन्य राज्यों ने भी सहायता की किंतु इस बार महाराज पृथ्वीराज को परास्त होना पड़ा। वे इस युद्ध में मारे गये और अजमेर तथा दिल्ली पर विदेशियों का अधिकार हो गया। इस प्रकार चाहमान-वंश की स्वतंत्र सत्ता समाप्त हुई।

दक्षिण-मध्यदेश में दूसरा प्रसिद्ध राज्य वर्तमान जबलपुर के निकट के कलचुरी वंश का था। इस वंश के प्रथम प्रसिद्ध शासक राजा कोकल्ल थे। एक अन्य कलचुरी शासक महाराज गांगेयदेव अत्यंत शक्तिशाली शासक थे (१०१९-१०४१ ई०)। कान्यकुब्ज के प्रतिहार वंश के समाप्त होने पर कुछ दिनों के लिए प्रयाग तथा काशी के निकटवर्ती प्रदेश पर इन्होंने अधिकार कर लिया था। दक्षिण में उत्कल तथा कुंतल (कन्नड) तक का प्रदेश इन्होंने विजय कर लिया था। अंत में राजा भोज परमार से इन्हें परास्त होना पड़ा था। 'कहां राजा भोज कहां गंगुआ तेली' की प्रसिद्ध हिंदी कहावत में राजा भोज और इन्हीं महाराज गांगेय तैलंग की कदाचित् तुलना की गई थी, जो आजतक बिगड़े रूप में चल रही है। महाराज गांगेयदेव के पुत्र महाराज लक्ष्मीकर्ण ने अपने पिता के राज्य में और भी वृद्धि की और इन्होंने कदाचित् पंजाब में काँगड़ा तक विजय-यात्रा की थी। ऐसा अनुमान होता है कि कान्यकुब्ज में गाहड़वार-वंश के उत्थान के पहले कुछ दिन समस्त पश्चिम-मध्यदेश (उत्तरप्रदेश) त्रिपुरी के कलचुरी शासकों के हाथ में चला गया था। इस समय कलचुरी राज्य लगभग समस्त मध्यदेश तथा दक्षिणापथ का साम्राज्य हो गया था। महाराज लक्ष्मीकर्ण के बाद कलचुरी-वंश की शक्ति क्षीण होती गई। पश्चिम मध्यदेश में कान्यकुब्ज के गाहड़वार-वंश की स्थापना हो चुकी थी और जेजकभुक्ति (बुंदेलखंड) में चंदेल-वंश के शासक शक्तिशाली हो गए थे।

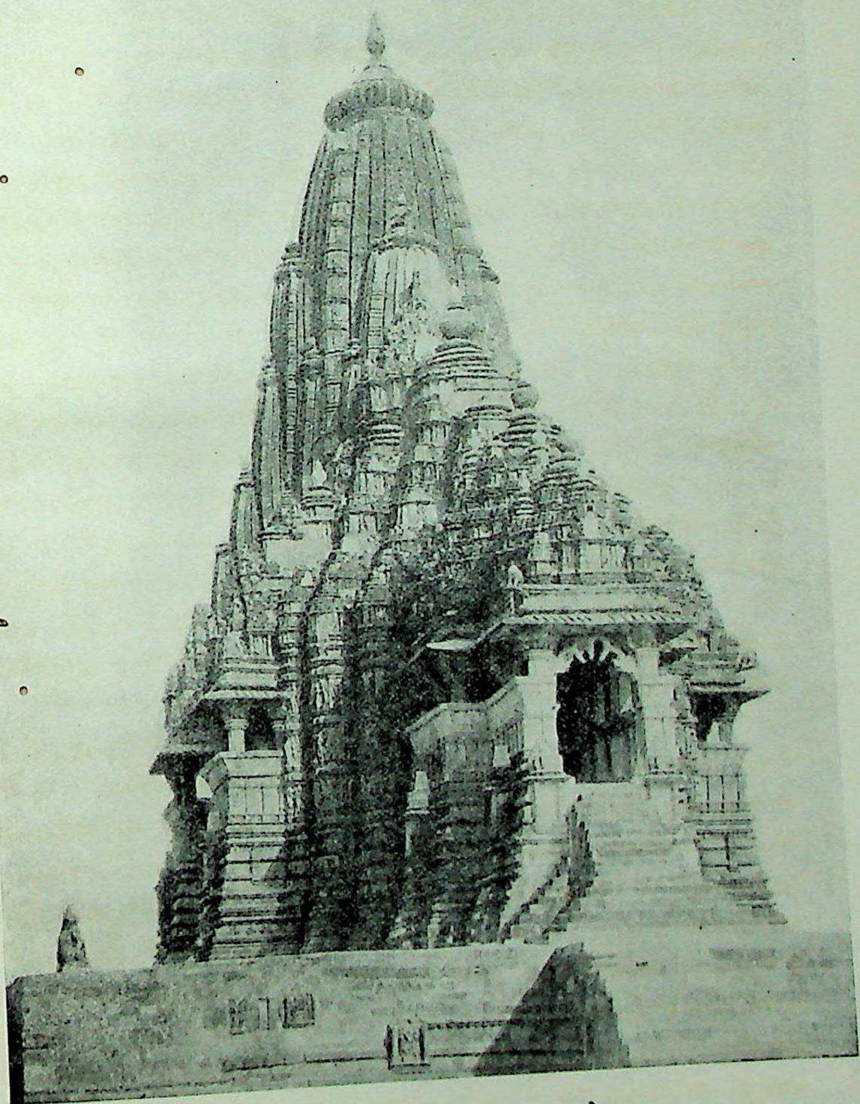
राजवंशकाल के अंतिम भाग में दक्षिण-मध्यदेश का तीसरा प्रसिद्ध राजवंश जेजकभुक्ति (बुंदेलखंड) के चँदेलों का था। एक प्रसिद्ध चंदेल शासक राजा जेजा (जयशक्ति) के नाम पर ही बुंदेलखंड का पुराना नाम जेजकभुक्ति पड़ा था। आरंभ के शासक कान्यकुब्ज के प्रतिहार राजाओं के अधीन थे। कान्यकुब्ज के महाराज यशोवर्मन् ने खजुराहो के प्रसिद्ध मंदिरों का निर्माण करवाया था। किंतु धीरे-धीरे ये स्वतंत्र हो गये। अन्य प्रसिद्ध राजाओं में धग और गंड का उल्लेख किया जाता है। इन दोनों शासकों ने सुबुक्तगीन तथा महमूद ग़ज़नवी के आक्रमणों का विरोध करने में बंगाल के शाही वंश के राजाओं को भरसक सहायता दी थी। अंतिम प्रसिद्ध चंदेल राजा परमार्द्रि या परमाल थे (११६५-१२०३ ई०), जिन्हें चाहमान महाराज पृथ्वीराज से एक युद्ध में परास्त होना पड़ा था। पश्चिम-मध्यदेश के मुसलमानों के हाथ में चले जाने के बाद राजा परमार्द्रि देव ने क़ुतुबुद्दीन ऐबक के विरुद्ध अत्यंत निर्भीकता से युद्ध किया था, किंतु अंत में

आक्रमणकारी सफल हुए। महोबा के चंदेलों की स्वतंत्रता सदा के लिए समाप्त हो गई। चंदेल राज्य के प्रसिद्ध स्थानों में राजधानी महोबा, शैव-मंदिरों के लिए प्रसिद्ध खजुराहो तथा कालंजर दुर्ग का उल्लेख किया जा सकता है।

दक्षिण-मध्यदेश का अंतिम प्रसिद्ध राजवंश मालवा (अवंति) के परमारों का था। यह वंश कदाचित् राष्ट्रकूट-वंश की शाखा थी। परमार-वंश के संस्थापक राजा उपेंद्र या कृष्णराज आरंभ में प्रतिहार-शासकों के अधीन थे किंतु कान्यकुब्ज के इन शासकों के निर्बल पड़ जाने पर मालवा के परमार राजा स्वतंत्र हो गये। (९५० ई० लगभग)। महाराज वाक्पति मुंज इसी वंश के थे (९७४-९९८ ई०)। इन्हीं के दरबार में प्रसिद्ध नाट्यशास्त्र-ग्रंथ दशरूप के लेखक धनंजय तथा दशरूपावलोक के लेखक धनिक थे। भट्ट हलायुध भी इनके दरबार में थे। महाराज मुंज के बाद अगले प्रसिद्ध परमार-शासक धारा के महाराज भोज थे। इनके समय में परमार राज्य अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच गया था और इसकी शक्ति के विस्तार के अंतर्गत लगभग समस्त दक्षिण-मध्यदेश तथा उसके निकट का दक्षिणापथ का कुछ भाग था। महाराज भोज का नाम विद्याप्रेम के लिए आजतक देश में प्रसिद्ध है। इनकी लगभग दो दर्जन संस्कृत रचनाओं का उल्लेख मिलता है, जिनमें से कुछ उपलब्ध हैं। धारा नगरी में इन्होंने एक विद्यापीठ 'भोजशाला' की भी स्थापना की थी जो बाद को मालवा के मुसलमान शासकों के समय में मस्जिद में परिवर्तित कर दी गई थी। महाराज भोज शैव-धर्मावलंबी थे। इनके बाद परमार वंश धीरे-धीरे क्षीण होता गया किंतु मालवा में इसकी सत्ता बनी रही। १३०५ ई० में दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के समय में मालवा (अवंति) मुसलमानों के हाथ में गया।

इस तरह दक्षिण मध्यदेश में जिन राजपूत राजवंशों का उदय १००० ई० के लगभग कान्यकुब्ज के प्रतिहार वंश के निर्बल होने पर हुआ था, इनका अंत विदेशी आक्रमणकारियों के हाथ से १२०० से १३०० ई० के बीच धीरे-धीरे हो गया।

द्वितीय साम्राज्य के समाप्त होने पर मध्यदेश के बाहर शेष आर्यावर्त में भी अनेक स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हुई थी। इनमें निम्नलिखित राजवंशों का संबंध इसी काल से है। उत्तरापथ में काबुल तथा पंजाब का प्रसिद्ध शाही राजवंश, काश्मीर में कर्कोटक तथा उत्पल-वंश, पूर्व आर्यावर्त में कामरूप (आसाम) के वंश, वंग (बंगाल) के पाल तथा सेनवंश और कलिंग तथा ओड्र (उड़ीसा) के राजवंश, पश्चिम आर्यावर्त में अन्हिलवाड (गुजरात) का चालुक्य (सोलंकी) वंश, सिंध के राजवंश। दक्षिणापथ में निम्नलिखित राजवंश प्रसिद्ध थे—वातापि (बदमी) के चालुक्य, मान्यखेट (मलखेद) के राष्ट्रकूट, कल्याण के पश्चिम चालुक्य, देवगिरि के यादव तथा वरंगल के काकटीय। संस्कृति की दृष्टि से मध्यदेश के राजवंशों तथा उत्तरापथ, प्राची और दक्षिणापथ के राज्यों में पूर्ण समानता थी। विवाह तथा युद्ध आदि के द्वारा इनमें घनिष्ट संपर्क भी रहा। किंतु मध्यदेश से बाहर के राजवंश होने के कारण इसका परिचय यहां नहीं दिया जाता है। इसी कारण से दक्षिण-भारत में कांची के पल्लव चोल, मदुरा के पांड्य चेल आदि राज्यों का विवरण भी यहां नहीं दिया गया है।



कंदरीय महादेव का मंदिर, खजुराहो

१०. राजवंशकालीन जीवन तथा साहित्य

संस्कृति की दृष्टि से मध्यदेश के राजवंशकाल को हम द्वितीय साम्राज्य का ही उत्तर-रूप कह सकते हैं। संस्कृति के प्रत्येक अंग की जो प्रवृत्तियां पिछले काल में प्रारंभ हुई थीं वे ही इस काल में भी चलती रहीं।

संस्कृत साहित्य के विकास के सिलसिले में हम देख चुके हैं पुराण, धर्मशास्त्र, संस्कृत काव्यसाहित्य, महाकाव्य, नाटक, गद्य आख्यान, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि की धारायें इन दोनों कालों में समान-रूप में मिलती हैं। अंतर केवल इतना दिखलाई पड़ता है कि द्वितीय साम्राज्यकाल में स्वाभाविक मौलिक साहित्य अकृत्रिम रूप में अधिक मात्रा में मिलता है किंतु राजवंशकाल में पहुँचते पहुँचते साहित्य में अलंकारिकता और कृत्रिमता की मात्रा अधिक हो जाती है। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र जैसे आलोचनात्मक ग्रंथ तथा धर्मशास्त्रों और दर्शनशास्त्रों के क्षेत्र में नवीन ग्रंथों के स्थान पर टीका साहित्य की शैली प्रधान होती गई।

जैन प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य की रचना भी इस काल में प्रचुर मात्रा में हुई। महायान के वज्रयान संप्रदाय के प्रभाव के फलस्वरूप पूर्व-मध्यदेश में सिद्धों का अपभ्रंश साहित्य (७५०-११७५ ई०) विशेष महत्वपूर्ण है। मध्यदेश की परंपरागत संस्कृत, पाली तथा प्राकृत की साहित्यिक धाराओं में इस प्रकार एक नवीन भाषाधारा---अपभ्रंश---का विकास इस काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना है।

धर्म की परिस्थिति के संबंध में भी पिछले काल से तुलना करते हुये विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। वैदिक धर्मावलंबी, जो अब मीमांसक कहलाते थे, मध्यदेश में नगण्य हो गये थे। यज्ञों की अपेक्षा मीमांसा-दर्शन के समर्थन के रूप में इनकी चर्चा अवश्य अधिक सुनाई पड़ती है। सम्राट् हर्षवर्धन के समय में अंतिम बार कुछ सम्हल कर बौद्धधर्म मध्यदेश से धीरे-धीरे लुप्त होता गया। पिछले काल के समान ही शासक तथा प्रजा प्रधानतया पौराणिक वैष्णव और शैव संप्रदायों की ही उपासक थी। इस दृष्टि से इस काल को उत्तरपौराणिक-काल भी कह सकते हैं। पूर्व-मध्यदेश में जिस तरह हम नवीन अपभ्रंश साहित्यिक धारा का उदय इस काल में पाते हैं उसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में तांत्रिक संप्रदायों का प्रचार इसी काल में हुआ। महायान बौद्धधर्म का तांत्रिक संस्करण हम सिद्धों के संप्रदायों के रूप में पाते हैं। गोरखनाथ आदि द्वारा स्थापित सिद्ध-संप्रदाय में पंथों का उदय भी इसी समय हुआ।

वर्द्धनवंश के समय में मध्यदेश की राज्यव्यवस्था और जनता की अवस्था का विस्तृत जीता-जागता चित्र हमें चीनी यात्री यूएनच्वांग (ह्वेनसांग) के यात्राविवरण तथा बाण-कृत हर्षचरित में मिलता है। इनके आधार पर कुछ संक्षिप्त इतिवृत्त नीचे दिया जाता है। यह स्मरण

रखना चाहिए कि मध्यदेश का प्रधान नगर इस समय कान्यकुब्ज था। अलबेरूनी के भारत के विवरण में भी बहुत सी उपयोगी सामग्री है।

ह्वेनसांग का जन्म ६०३ ई० में हुआ था। २६ वर्ष की आयु में वह अपने घर से भारत की यात्रा के उद्देश्य से निकला था। मध्य-एशिया के राज्यों में होता हुआ कपिशा के बाद उसने भारत में प्रवेश किया था। अपने भ्रमण-वृत्तांत के दूसरे अध्याय में उसने भारत के नामकरण, क्षेत्रफल, जल-वायु, नाप, ज्योतिष व पंचांग, नगर और इमारतों, आसन, पहनावा, लिपि, भाषा, साहित्य, बौद्ध संस्थाओं, जातिभेद व विवाह, सेना और अस्त्र, न्याय व व्यवहार, सभ्यता, चिकित्साशास्त्र, प्रबंध व मालगुजारी, वृक्ष, खानपान, खेती, वाणिज्य आदि का संक्षिप्त स्पष्ट परिचय दिया है।[१] इसके उपरांत पाश्चिमोत्तर सीमांतप्रदेश तथा पंजाब के जनपदों का वर्णन है।

मध्यदेश के केंद्र कान्यकुब्ज तथा वहां के शासक सम्राट् हर्षवर्द्धन के संबंध में ह्वेनसांग ने जो लिखा है उसके कुछ अंश नीचे दिये जाते हैं।

इस राज्य का क्षेत्रफल ४००० ली है। राजधानी के पश्चिम गंगा नदी है। नगर के चारों ओर एक सूखी खाई है। जिसके किनारे पर मजबूत और ऊँचे बुर्ज एक दूसरे में मिले चले गये हैं। मनोहर फल-फूलों से भरे हुए वन, उपवन और शीशे के समान स्वच्छ जल के तड़ाग और झीलें सर्वत्र वर्तमान हैं। बहुमूल्य वाणिज्य-संबंधी वस्तुओं की यहां बहुतायत है। मनुष्य सुखी और संतुष्ट तथा निवासभवन समृद्धिशाली और सुंदर हैं। प्रत्येक स्थान पर फलफूल की अधिकता है। भूमि समयानुसार बोई और काटी जाती है। प्रकृति कोमल और सुखद तथा मनुष्यों का आचरण धर्मिष्ठ और सत्यतापूर्ण है। इन लोगों की सूरत ही से भलमनसाहत और बड़प्पन प्रकट होता है। ये लोग विद्याव्यसनी तथा धार्मिक चर्चा में विशेष व्युत्पन्न हैं तथा इनकी भाषा की शुद्धता का ड़ंका चारों ओर बज रहा है। संख्या में बौद्ध और हिन्दू प्रायः बरोबर हैं। कई सौ संघाराम १०,००० भिक्षुओं के सहित हैं जिनमें हीनयान और महायान दोनों संप्रदायों के भिक्षु निवास करते हैं। लगभग दो सौ देवमंदिर हैं जिनमें कई हज़ार हिंदू उपासना करते हैं।

इस समय का राजा वैश्य (बैस) जाति का है। जिसका नाम हर्षवर्द्धन है। कर्मचारियों की समिति राज्य का प्रबंध करती है। दो पीढ़ी के अंतर में तीन राजा राज्य के स्वामी हुये। राजा के पिता का नाम प्रभाकरवर्द्धन और बड़े भाई का नाम राजवर्द्धन था। ५,००० हाथी, २०,००० घुड़सवार और ५०,००० पैदल सेना लेकर राजकुमार ने पूर्व से पश्चिम सिरे तक सब विद्रोहियों को परास्त करके अपने अधीन किया। एक दिन के लिये भी न हाथियों की गद्दियां उतारी गईं और न सिपाहियों ने अपनी कमरें खोल कर विश्राम लिया। कोई छः वर्ष के कठिन परिश्रम में उसने समस्त भारत को विजय किया। जिस प्रकार उसका राज्य विस्तृत हुआ उसी प्रकार सेना की भी संख्या बढ़ कर ६०,००० हाथी और १,००,००० घुड़सवार हो गये। तीन वर्ष के उपरांत उसने हथियार बाँधना छोड़ दिया और शांति के साथ सब ओर शासन करने लगा।

---

[१] हुएनसांग का भारतभ्रमण--अनुवादक, ठाकुरप्रसाद शर्मा।

सदाचार के नियमों को दृढता से पालन करते हुये धर्म के पौधे को परिवर्द्धित करने के लिए सम्राट् हर्षवर्द्धन इतना अधिक व्यग्र हुआ कि उसका खाना और सोना तक छूट गया। उसने आज्ञा दे दी कि समस्त भारत में कहीं भी जीवहिंसा न की जावे और न कोई व्यक्ति मांसभक्षण करे, अन्यथा प्राणदंड दिया जावेगा। भारतवर्ष के प्रत्येक बड़े नगर में उसने पुण्यशालाएं बनवाईं जिनमें खाने पीने की सब प्रकार की सामग्री प्रस्तुत रहती थी तथा वैद्य औषधियों सहित सदा तैयार रहते थे। सब स्थानों पर जहां-जहां बुद्ध भगवान् का कुछ भी चिन्ह था उसने संघाराम बनवाये। प्रत्येक पाँचवें वर्ष वह मोक्ष नामका बहुत बड़ा मेला करता था जिसमें वह अपना संपूर्ण खजाना दान कर देता था। केवल सेना के लिए हथियार शेष रहते थे जिनका दान करना न उचित ही था और न दान कर देने पर वे साधुओं के ही किसी काम के हो सकते थे।

हुएनसांग ने इसके आगे लिखा है कि सम्राट् हर्षवर्द्धन के बौद्ध हो जाने के कारण कुछ विरोधी ब्राह्मणों ने दो यत्न उसको मरवाने के किये—एक बार अग्निबाण के द्वारा और दूसरी बार छुरे के द्वारा—किंतु इसमें वे सफल नहीं हो सके। राजा ने मुखिया लोगों को दंड देकर शेष को छोड़ दिया और वे ५०० ब्राह्मण भारत की सीमा से निकाल दिये गये।

× × ×

हुएनसांग अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, बाराणसी, वैशाली आदि प्रसिद्ध बौद्धस्थानों पर भ्रमण करता हुआ मगध पहुँचा था। मगध तथा पाटलिपुत्र से संबंधित यात्रा-विवरण के कुछ अंश निम्नलिखित हैं:—

मगध देश का क्षेत्रफल लगभग ५०० ली है। बड़े-बड़े नगर विशेष आबाद नहीं हैं परंतु क़स्बों की आबादी अवश्य घनी है। भूमि उत्तम और उपजाऊ है तथा अनाज अच्छा उत्पन्न होता है। यहां पर विशेष प्रकार का चावल होता है जिसका दाना बड़ा सुगंधित और सुस्वादु होने के अतिरिक्त रंग में भी बड़ा चमकीला होता है। इसका नाम महाशालि तथा सुगंधिक बताया जाता है। अधिकतर भूमि नीची और तर है इसलिए मनुष्यों के बसने के निमित्त क़स्बे आदि ऊँची भूमि पर बसाये गये हैं। ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास के उपरांत संपूर्ण देश में पानी भर जाता है जो शरद ऋतु के द्वितीय मास तक भरा रहता है। इन दिनों लोगों का आवागमन केवल नौका द्वारा होता है। मनुष्यों का आचारण शुद्ध और सात्विक है। यहां के लोग विद्योपार्जन में बहुत दत्तचित्त रहते हैं तथा बौद्धधर्म के विशेष भक्त हैं।

गंगा नदी के दक्षिण में एक प्राचीन नगर लगभग ७० ली के घेरे में है। यद्यपि यह बहुत दिनों से उजाड़ हो गया है किंतु मकान अब भी अच्छे-अच्छे बने हुए हैं। प्राचीन काल में इस नगर का नाम कुसुमपुर था क्योंकि राजमहल में फूलों की विशेष अधिकता थी। पीछे से इसका नाम बदल कर पाटलिपुत्र हो गया। प्राचीन राजभवन के उत्तर में एक पाषाण-स्तंभ बीसियों फ़ीट ऊँचा है। तथागत के निर्वाण के सौवें वर्ष यहां पर एक अशोक नामक राजा हो गया है जो बिंबसार का प्रपौत्र था। इसने अपनी राजधानी राजगृह को बदल कर पाटलि बनाई थी। संघाराम, देवमंदिर और स्तूप जो खँडहर होकर धराशायी हो गये हैं उनकी संख्या सैकड़ों है।

केवल दो या तीन कुछ अच्छी दशा में वर्तमान हैं——प्राचीन राजभवन के दक्षिण-पश्चिम में एक छोटा पहाड़ है। उसकी घाटियों और चट्टानों में पचासों गुफाएं हैं, जिन्हें अशोक ने उपगुप्त तथा अन्यान्य अर्हतों के लिये बनवाया था।

हुएनसांग के यात्रा विवरण में इसके उपरांत बुद्ध भगवान् से संबंधित मगध के अन्य स्थानों, जैसे राजगृह, गृद्धकूट, नालंद आदि का वर्णन है। आगे चलकर चंपा, पुंड्र, कामरूप, समतट, ताम्रलिप्ति, उड्र आदि पूर्वी आर्यावर्त के जनपदों का वर्णन है। इसके बाद हुएनसांग दक्षिणी भारत, मध्यभारत तथा पश्चिमी भारत होता हुआ मध्य-एशिया के स्थलमार्ग से ही अपने देश को वापस गया। मार्ग के प्रसिद्ध जनपदों, विशेषतया बौद्धधर्म से संबंधित स्थानों, का संक्षिप्त वर्णन है।[1]

बाण भट्ट का हर्षचरित इतिहासमूलक गद्यकाव्य है। इससे सम्राट् हर्षवर्द्धन तथा उनके समय के जीवन का काव्यमय परिचय प्राप्त होता है। इसमें केवल आठ उच्छ्वास हैं। प्रथम दो उच्छ्वासों में बाण ने अपने वात्स्यायन-वंश का तथा शिविर में सम्राट् हर्षवर्द्धन के साथ प्रथम भेंट का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। अश्वशाला और गजशाला में होते हुये वह उस मण्डप के निकट पहुँचा जहां भोजन के बाद राजाओं को दर्शन देने के लिए सम्राट् बैठा करते थे।

द्वारपाल के बताये रास्ते से हज़ारों भूपालों से भरे तीन आँगनों को पारकर चौथे में भुक्तास्थान मंडल के सामने एक छोटे आँगन में चक्रवर्ती हर्ष को देखा। दूर पर सीधे खड़े लंबे कर्णीकार फूल के समान गोरे, व्यायाम से दृढ हुए शरीरवाले, शस्त्रधारी, पुश्तैनी, पंक्तिबद्ध परिचारकों से, मानो सोने के खंभों से, वह घिरे थे। उनके समीप में बड़े-बड़े और अपेक्षित लोग बैठे हुए थे। वे हरिचंदनरस से धुले, हिमकणों की भाँति शीतल, हाथीदाँत के बने उजले पाँववाले, मोतियों के पहाड़ से बने आसन पर, मानो चद्रमय शयन पर बैठे हुए थे।

आसन के किनारे में आरोपित भुजा पर समूचे शरीर का भार दिये हुये थे। जिसके पाद-पल्लव अरुण थे, जिसकी मन्थर जाँघें सुगत (बुद्ध) थीं, जिसके कठोर हाथ वज्रायुध (इंद्र) थे, जिसके कंधे वृष (धर्म) के सदृश थे, जिसके अधर बिंब भास्कर (सूर्य) थे, जिसका अवलोकित प्रमत्त था, जिसका मुख चद्रमा के समान था, ऐसे शरीर से वह मानो सभी देवताओं का अवतार था।

धनों ने उसे स्नेह-रहित, दोषों ने असेवनीय, इंद्रियों ने संयमी, कलियुग ने दुरुपसर्प (पहुँच क बाहर), व्यसनों ने नीरस, और अयश ने भीरु समझा। कामदेव ने समझा कि उसकी चित्तवृत्ति दुर्ग्रह है। सरस्वती ने समझा कि वह स्त्रीपर है, दूसरों की स्त्रियों ने उसे नपुंसक, यतियों ने श्रेष्ठ मुनि, वेश्याओं ने धूर्त्त, मित्रों ने परवश, विप्रों ने भृत्य और शत्रु योद्धाओं ने अच्छे सहायकों से संपन्न समझा। इस तरह एक होने पर भी वह अनेक प्रकार से समझा गया।

वह शन्तनु से बढ़कर महावाहिनी (गंगा) पति था, भीष्म से अधिक विजयी (जितेंद्रिय) था, उसकी धनुष की लालसा द्रोण से अधिक थी, उसके तीर अश्वत्थामा से अधिक अचूक थे, वह

---

[1] हुएनसांग का भारत-भ्रमण——अनुवादक, ठाकुरप्रसाद शर्मा।

कर्ण से अधिक मित्र (सूर्य) प्रिय था, युधिष्ठिर से अधिक क्षमा (पृथ्वी) वान् था, हजारों हाथियों के बल में वह भीम से बढ़ा हुआ था, महाभारत-युद्ध के लिए वह अर्जुन से अधिक योग्य था।

सम्राट् ने पर्वत की गुहा में स्थित सिंह के गर्जन के समान गंभीर स्वर से आकाश को भरते हुए पूछा--"क्या यही वह बाण है?" द्वारपाल ने निवेदन किया--"देव की जैसी आज्ञा हो। यह वही है।"

तीसरे उच्छ्वास से हर्षचरित प्रारंभ होता है।

श्रीकंठ (कुरु) नामक एक देश है। वह पुण्यवान् व्यक्तियों की निवास-भूमि है, पृथिवी पर मानों स्वर्ग का अवतार है। वहां ब्राह्मण आदि वर्णों के आचार-व्यवहार सदा शुद्ध रहते हैं और सतयुग की व्यवस्था है। हलों से खेत जोते जाने के समय स्थलकमलों की अधिकता के कारण हलमुखों से मृणालों के उखाड़े जाने से मधुकर कोलाहल करते हैं, जैसे वे हल मेदिनी के उत्कृष्ट गुणों का गान करते हों। क्षीरसागर का पयपान करनेवाले मेघों से पटाये गये पुंड्र जाति के ऊखों के घेरों से वह देश भरा रहता है। प्रत्येक दिशा में अपूर्व पर्वतों के सदृश शस्य-पुंजों से, जो एक-दूसरे से खलिहानों के स्थानों द्वारा विभक्त होते हैं, वहां के सीमांत स्थान भरे रहते हैं। चारों ओर यंत्र कलसों से सींचे जाते जीरों के पौधों से वहां की भूमि उलझी रहती है। धान के उपजाऊ और उत्तम खेतों से वह देश अलंकृत है। वहां की ऊंची जमीन पर गेहूं के खेत हैं। भैंस की पीठ पर बैठे हुये गोपाल गीत गाते हुये गौओं को चराते हैं। गले में लगे हुए घंटारूपी क्षुद्र घंटिकाओं के निनाद से वे गाएं रमणीय लगती हैं। जंगल में घूमती हुई वे दूध चुआती हैं। वे कोमल तृणों से तृप्त रहती हैं और विपिन को धवल कर देती हैं।

ऐसे देश में स्थाणीश्वर (थानेसर) नामक एक नगर है। उस स्थाणीश्वर को मुनियों ने तपोवन, वेश्याओं ने काममंदिर, नर्तकों ने संगीतशाला, शत्रुओं ने यमनगर, प्रार्थियों ने चिन्तामणि भूमि, शस्त्र से जीनेवालों ने वीरों का क्षेत्र, विद्यार्थियों ने गुरुकुल, गायकों ने गंधर्व-नगर, विज्ञानियों ने विश्वकर्मा का मंदिर, व्यापारियों ने लाभभूमि, भाटों ने जुआघर, सज्जनों ने साधु-समागम, शरणागतों ने वज्रपंजर, विलासियों ने विलाससमाज, पथिकों ने पुण्यपरिणाम, धातुवाद के आचार्यों ने खान, शांति के उपासकों ने बौद्ध आश्रम, कामीजनों ने अप्सराओं की पुरी, चारणों ने महोत्सव-समाज और विप्रों ने धनप्रवाह समझा। यहां कालक्रम से प्रभाकर वर्धन नामक राजाधिराज, जिसका दूसरा विख्यात नाम प्रतापशील था, उत्पन्न हुआ, वह हूणरूपी हरिण के लिए सिंह था, सिंधुराज के लिए ज्वर था, गुर्जर के लिए प्रजागर (नींद न देनेवाला) था, गांधार राजरूपी गंधहस्ती के लिए कूट-पाकल (हाथी का ज्वरविशेष) था, लाटों की निपुणता का चोर था, और मालव की लक्ष्मीलता के लिए कुठार था। उसकी यशोवती (या यशोमती) नाम की महारानी थी।

इसके उपरांत महाराज प्रभाकरवर्धन के दोनों पुत्र राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन तथा कन्या राज्यश्री के जन्म का वर्णन है। इनके बड़े होने पर राज्यश्री का विवाह महाराज ने कान्यकुब्ज के महाराज ग्रहवर्मा से किया।

इसके अनंतर एकबार राजा ने राजवर्द्धन को बुलाया, जो कवच पहनने के वयस का हो गया था और जैसे सिंह अपने बच्चे को हरिण मारने के लिए भेजता है वैसे ही उसने कुमार को अपरिमित सेना का नायक बनाकर पुराने अमात्यों और अनुरक्त महासामंतों के साथ हूणों को मारने के लिए उत्तरापथ भेजा, उसके प्रयाण करने पर देव हर्ष घोड़ों के साथ कुछ दूर तक उसके पीछे-पीछे गया। बड़े भाई ने कैलास की प्रभा से भासित प्रदेश में प्रवेश किया किंतु वह मृगलोचन (छोटा भाई), जो पराक्रम की रुचि के पीछे चलनेवाले वयस में था, बाघ, सिंह, शरभ शूकरों से भरे हिमाचल के अंचल में शिकार खेलता हुआ कुछ दिनों तक बाहर ही ठहर गया।

इस प्रकार कथा आगे चलती है। महाराज प्रभाकरवर्धन की मृत्यु दाहज्वर से ही जाती है। रानी यशोवती सती हो गई। कुमार हर्षवर्धन तथा कुमार राज्यवर्धन लौटते हैं। इसी बीच समाचार आया कि मालवराज ने उनके बहनोई देव ग्रहवर्मा को मार डाला, राज्यश्री को कारा-वास में डाल दिया और वह स्थाणेश्वर पर आक्रमण करने का विचार कर रहा है। ऐसा जान दस हज़ार घुड़सवारों के साथ राज्यवर्धन ने मालवराज के विरुद्ध प्रयाण किया। अनंतर भाई के इस प्रकार चले जाने पर, पिता के स्वर्गीय होने पर, बहनोई के प्राणों का प्रवास होने पर, माता के मरने पर, बहन के क़ैद होने पर अपने झुंड से भटके हुए बनैले हाथी के समान देव हर्ष अकेला ही समय बिताने लगा। यद्यपि राज्यवर्धन ने मालव-सेना को अनायास ही हरा दिया तथापि गौड़ाधिप ने मिथ्या उपचार से उसका विश्वास उत्पन्न किया और अपने ही घर में उस एकाकी और विश्रब्ध को मार डाला। यह सुन हर्ष ने गौड़ाधिप से बदला लेने के लिए प्रयाण किया। किंतु मार्ग में सेनापति भंडि ने बताया कि उनकी बहिन राज्यश्री कारागार से निकल विंध्यवन की ओर चली गई हैं। हर्ष ने भंडि को गौड़ की ओर बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं राज्यश्री की खोज में विंध्यवन की ओर चला। राज्यश्री को हर्ष ने अग्नि प्रवेश से तो बचा लिया किंतु उसने भिक्षुणी होने का निश्चय कर लिया।

ललित गद्यकाव्य ग्रंथ होते हुये भी हर्षचरित में इतिहास की रूपरेखा और समकालीन जीवन की स्पष्ट पृष्ठभूमि है। इसमें सांस्कृतिक सामग्री तो प्रचुरमात्रा में है।[1]

इस बात का उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है कि अलबेरूनी का संबंध महमूद ग़ज़नी के दरबार से था। उसका भारत पर ग्रंथ अत्यंत परिश्रम से लिखा हुआ गैज़ेटियर अथवा विश्वकोष से समान है जिसमें भारत के धर्म तथा धार्मिक विश्वास, वर्ण व्यवस्था, साहित्य (वेद, पुराण, व्याकरण, छंद आदि), ज्योतिष व नक्षत्रविद्या, परिमाण (नाप-तोल), लिपि, गणित, मंत्रतंत्र, भूगोल, सृष्टि-रचना के सिद्धांत आदि का वर्णन है। अलबेरूनी की दिलचस्पी भारतीय ज्योतिषशास्त्र और भौगोलिक सिद्धांतों के संबंध में विशेष थी। मध्यदेश के संबंध में उसके ग्रंथ से कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं :—

---

[1] हर्षचरित—अनुवादक सूर्यनारायण चौधरी।
हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन—वासुदेवशरण अग्रवाल।

भारत का मध्य कन्नौज के इर्दगिर्द का देश है जिसे कि वे मध्यदेश अर्थात् राज्यका मध्य-भाग कहते हैं, भूगोलविद्या की दृष्टि से यह मध्य या केंद्र है क्योंकि यह पर्वतों और समुद्र के ठीक मध्य में, शीत और उष्ण प्रांतों के बीच में, और भारत के पूर्वी और पश्चिमी सीमांत प्रदेशों के मध्य में स्थित है। परंतु यह राजनीतिक केंद्र भी है क्योंकि पूर्व समयों में उनके बहुत प्रसिद्ध शूरवीर और राजागण यहां ही निवास करते थे। कन्नौज गंगा के पश्चिम में एक बहुत बड़ा शहर है परंतु राजधानी के यहां से उठकर बारी नगर में चले जाने से, जो कि गंगा के पूर्व में है, अब इसका एक बहुत बड़ा भाग खंडहर पड़ा है। इन दो शहरों के बीच तीन या चार दिन का रास्ता है।

जिस प्रकार कन्नौज पांडुपुत्रों के कारण प्रसिद्ध हो गया है उसी प्रकार मथुरा नगरी वासुदेव के कारण विख्यात है। यह यमुना नदी के पूर्व में स्थित है। मथुरा और कन्नौज के बीच २८ फ़र्सख़ का अंतर है! थानेश्वर दो नदियों के बीच कन्नौज और मथुरा दोनों के उत्तर में कन्नौज से कोई ८० फ़र्सख़ और मथुरा से कोई ५० फर्सख के अंतर पर स्थित है।

गंगा नदी का स्रोत उन पर्वतों में है जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। इसका स्रोत गंगाद्वार कहलाता है। इस देश की अन्य बहुत सी नदियों के स्रोत भी उन्हीं पर्वतों में हैं जिनका उल्लेख हम उचित स्थल पर पहले कर आये हैं।

इसके उपरांत कन्नौज से चारों ओर के प्रसिद्ध नगरों की दूरी का उल्लेख है, जैसे पूर्व में प्रयाग, बनारस पाटलिपुत्र, मुंगेर, चंपा तथा गंगासागर।[1]

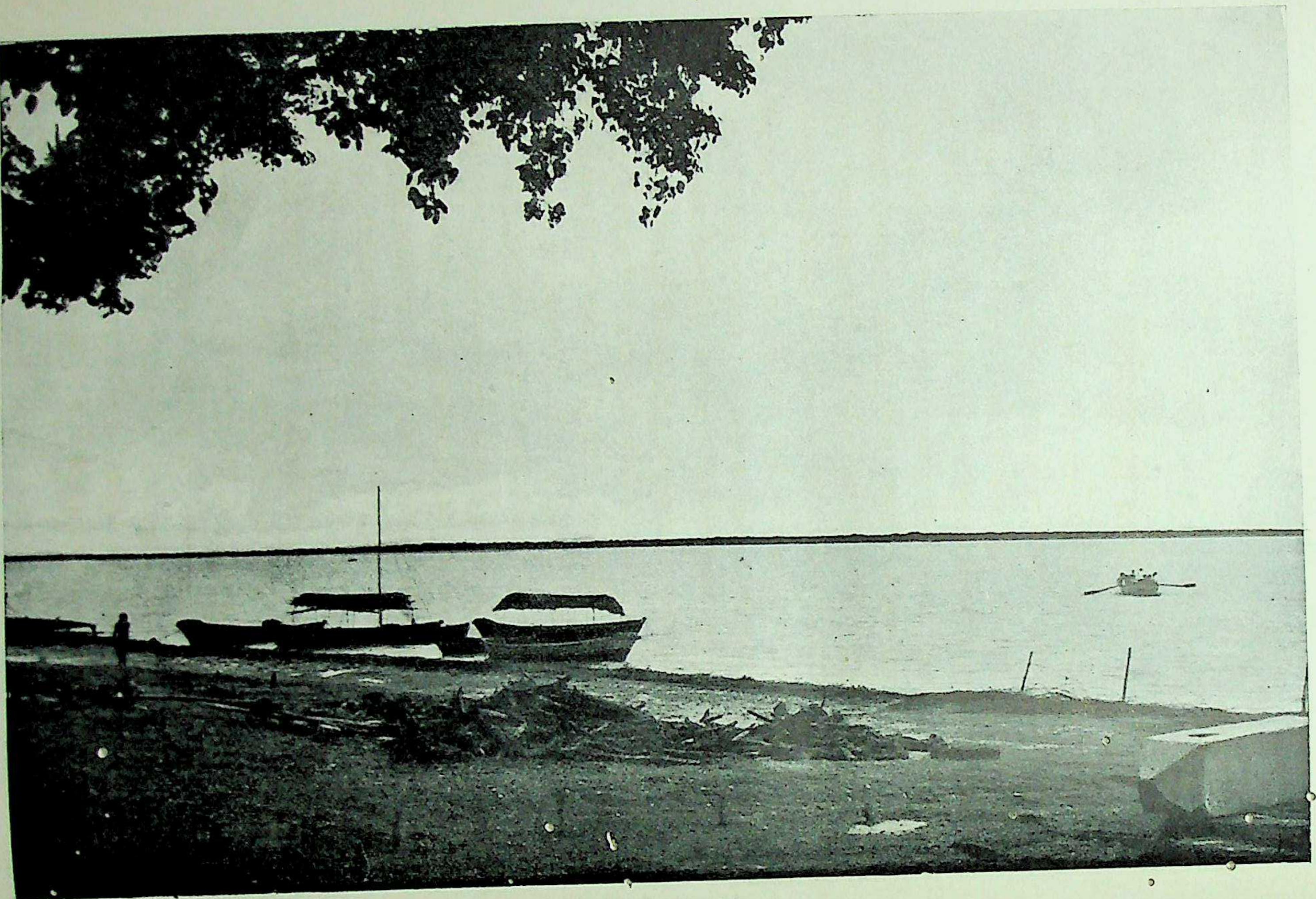
मध्यदेश की समृद्धावस्था इस समस्त काल में बनी रही। कान्यकुब्ज का विशाल राज्य ही लगभग ६०० वर्ष तक चलता रहा था। छोटा हो जाने पर भी यह वर्तमान उत्तरप्रदेश के बराबर तो बना ही रहा। उत्तरप्रदेश यूरोप के फ्रांस या इंगलैंड जैसे देशों के लगभग बराबर ठहरता है। राजवंशों के परिवर्तन का प्रभाव देश की समृद्धि या शांति पर विशेष नहीं पड़ता था। फिर एक-एक राजवंश प्रायः सौ डेढ़ सौ वर्ष तक बना रहा तुलना के लिए अंग्रेज़ी राज्य मध्यदेश में लगभग डेढ़ सौ वर्ष रहा। सब से बड़ी बात यह है कि यद्यपि मध्यदेश की जनता का हाथ देशकी शासनव्यवस्था में सीधा नहीं रह गया था, अतः राजनीतिक क्षेत्र में पूर्णतया स्वाभाविक परि-स्थिति नहीं थी, तो भी सर्वसाधारण का जीवन सुखी तथा संपन्न था। उनके अपने ही देशवासी तथा उन्हीं की संस्कृति के पोषक क्षत्रिय वंशों के हाथ में देश का शासन था।

---

[1] अलबेरूनी का भारत--अनुवादक, संतराम।

विदेशी संघर्ष-युग

(१२०० ई०—१९४७ ई०)



प्रयाग में गंगाजी

११. प्रथम विदेशी-संघर्ष

मध्यदेश के इतिहास में सुलतानों और मुग़लों का आक्रमण तथा उनके सामने राजवंश के पराजित होने के कारण विदेशी शासन में देश का जाना मध्यदेश के इतिहास में एक असाधारण तथा युग-परिवर्तक घटना थी। यह विदेशी आक्रमण पिछले आक्रमणों से बिल्कुल ही भिन्न श्रेणी का था। पिछले आक्रमणकारी संस्कृति की दृष्टि से या तो मिलते-जुलते थे अथवा उनकी कोई विशेष विकसित संस्कृति नहीं थी। फलस्वरूप आक्रमणकारियों ने शीघ्र ही मध्यदेशीय संस्कृति ग्रहण कर ली। ये नये आक्रमणकारी एक बिल्कुल भिन्न अरबी-सामी (सेमिटिक) संस्कृति के आदर्शों तथा धार्मिक प्रचार की भावना को लेकर प्रविष्ट हुए। अतः मध्यदेशवासी अनेक कारणों के फलस्वरूप पराजित हो जाने के उपरांत इन्हें न तो समझ ही सके और न पचा ही सके। अतः देश के इतिहास में पहली बार स्वदेश की परंपरागत भारतीय आर्यसंस्कृति तथा एक बिल्कुल भिन्न आदर्शोंवाली विदेशी संस्कृति में भारी संघर्ष प्रारंभ हुआ।

जिस सेमिटिक संस्कृति और इस्लामधर्म से भारतीय आर्यसंस्कृति और धर्म को टक्कर लेनी पड़ी उसका मूलस्थान अरब में था। यह हज़रत मूसा की यहूदी संस्कृति तथा एक यहूदी सुधारक ईसा मसीह के चलाये आंदोलन की परंपरा से संबंध रखती थी। यही कारण है कि यहूदी, ईसाई और मुसलमान तीनों अपने को एक दूसरे के अधिक निकट समझते हैं और भारतीय हिंदू इन सब से पृथक् सा दिखलाई पड़ता है। जिस समय मध्यदेश में सम्राट् हर्षवर्द्धन का राज्य था लगभग उसी समय अरब में एक नये सुधारक हज़रत मुहम्मद (५७०-६३२ ई०) ने इस्लामधर्म की नींव डाली। इस्लाम को केवल धर्म मानना भारी भूल है। यह वास्तव में सेमिटिक संस्कृति का एक समकालीन सुधरा हुआ रूप था, जिसमें धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों के साथ-साथ राजनीतिक और धार्मिक विजय की भावना उत्कट रूप में विद्यमान थी और है। इस्लाम के फलस्वरूप अरबवासियों में एक नई स्फूर्ति आ गई और उन्होंने पड़ोस की अन्य समस्त संस्कृतियों और धर्मों को स्थानापन्न करने का बीड़ा उठाया। मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद अरब की इस संस्कृति ने धीरे-धीरे मेसोपोटेमिया, सीरिया, ईरान, उत्तर अफ्रीका, तुर्की तथा यूरोप में बालकन प्रदेशों और स्पेन को पराजित कर इस्लामी-दीक्षा दी।

बग़दाद के अब्बासीय खलीफ़ाओं के समय में (७४९-१२५६ ई०) अरब की इस्लाम संस्कृति पर ईरानी-आर्यसंस्कृति की छाप लगी। इन्हीं के समय में भारतवर्ष में इस्लाम का स्थायी रूप से प्रवेश हुआ। भारतवर्ष पर पहला आक्रमण सिंध प्रदेश पर अरबी ओमय्यद खलीफ़ाओं के एक सिपहसालार मुहम्मद बिन क़ासिम ने ७१२ ई० में किया था। गांधार (अफ़ग़ानिस्तान) के बौद्ध शाही शासकों ने आत्मरक्षा के लिये सातवीं से नवीं शताब्दी तक निरंतर युद्ध

किया, किंतु सिंध आक्रमण के १५८ वर्ष बाद ८७० ई० में काबुल तुर्की मुसलमानों के हाथ में चला गया और तब शाही शासकों को अपनी राजधानी पंजाब में, भटिंडा में, हटाकर लानी पड़ी। किंतु तुर्की मुसलमान आक्रमणकारियों ने इनका यहां भी पीछा न छोड़ा। काबुल के अमीर सुबुक्तगीन ने पंजाब पर प्रथम आक्रमण किया था, तथा उसकी मृत्यु के बाद उसके बेटे महमूद ग़ज़नवी ने भी पंजाब पर कई आक्रमण किये।

१०१४ ई० में मध्यदेश पर महमूद ग़ज़नवी का प्रथम आक्रमण हुआ था और थानेसर मुसलमानों के हाथ में चला गया था। इस संस्कृति का प्रथम परिचय मध्यदेशवासियों को १०१८ ई० में मिला था जब कि कान्यकुब्ज के प्रतिहारशासक महाराज राजपाल के निर्बल होने के कारण महमूद ग़ज़नवी की सेनाएं मध्यदेश में घुस पड़ी थीं। इसी मुसलमानी आक्रमण में पहली बार मध्यदेश के प्रसिद्ध नगर मथुरा, कन्नौज आदि का धन-जन लुटा था और प्राचीन भवन और मंदिर नष्ट-भ्रष्ट किये गये थे। महमूद ग़ज़नवी का गुजरात के प्रसिद्ध सोमनाथ के मंदिर के लूटने का इतिहास (१०२५-१०२६ ई०) प्रसिद्ध ही है। महमूद के दरबार से ही फ़ारसी के प्रसिद्ध महाकाव्य शाहनामा के लेखक फ़िरदौसी (६५०-१०२० ई०) और भारत-यात्रा विवरण के लेखक अलबेरूनी (६७३ ई०) का संबंध था। महमूद ग़ज़नवी के समय में ही अफगानिस्तान पर मुसलमानों का क़ब्ज़ा हो जाने के बाद, १०२६ ई० में, पंजाब में मुसलमानों का पैर जमा और वह ग़ज़नवी-वंश के शासन में चला गया। मध्यदेश पर इस समय तथा बाद को भी कुछ भयंकर आक्रमण तो हुये किंतु मुसलमानों का राज्य वहां लगभग दो सौ वर्ष बाद मुहम्मद ग़ोरी के समय में हो सका। इस प्रकार भारत के प्रथम मुसलमान आक्रमण और उत्तर-भारत की विजय में मुसलमान आक्रमणकारियों को लगभग ५०० वर्ष (७००-१२०० ई०) लगे। भारतीयों के विरोध की उग्रता इससे बहुत कुछ स्पष्ट होती है। इसकी तुलना में ईरान, अफ्रीका और यूरोप में स्पेन आदि की विजय खिलवाड़ मालूम होते हैं।

ऊपर इस बात का उल्लेख हो चुका है कि मुहम्मद ग़ोरी न अजमेर-दिल्ली के चाहमान-शासक महाराज पृथ्वीराज को ११६२ ई० में परास्त किया था। मुहम्मद ग़ोरी इसके बाद ग़ज़नी वापिस चला गया था और भारत में अपनी सेना का संचालन अपने गुलाम सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक को सौंप गया था। कान्यकुब्ज के गाहडवार-शासक महाराज जयचंद्र ने (११६४ ई०) .कुतुबुद्दीन ऐबक की सेना से टक्कर ली किंतु इनके भी परास्त होने और मारे जाने के बाद काशी तक के मध्यदेश के समस्त प्रदेश का शासन स्थायी रूप से मुसलमानों के हाथ में चला गया मुहम्मद ग़ोरी के एक दूसरे सेनापति मुहम्मद-बिन-बख्तियार ने ११६७ ई० में मगध के पाल-शासक को परास्त कर पूर्व-मध्यदेश पर क़ब्ज़ा किया। ११६६ ई० में बंगाल का सेनवंश भी इन आक्रमणकारियों से पराजित हुआ। १२०२ ई० में .कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा जेजकभुक्ति के चुंदेल-वंश की स्वतंत्रता छिनी। इस तरह १० वर्ष के अंदर मध्यदेश ही क्या बल्कि समस्त आर्यावर्त के प्रमुख राजवंशों के राज्य एक-एक करके समाप्त हो गये और मध्यदेश में प्रथम बार विदेशी

शासन की स्थापना हुई। दक्षिण-मध्यदेश में मालवा का राज्य अवश्य इसके बाद भी लगभग १०० वर्ष तक स्वतंत्र बना रहा था।

मुसलमान बादशाहों का दिल्ली (कुरु) से शासन लगभग ६०० वर्ष तक चला। इस बीच कई विदेशी-वंशों के हाथ में भारत के शासन की बागडोर गई। इनमें मुख्य ग़ुलाम वंश (१२०६ से १२९० ई०), खिलजी वंश (१२९० से १३२० ई०), तुग़लक वंश (१३२० से १४१२ ई०), सैयद और लोदी वंश (१४१२ से १५२६ ई०), सूर वंश (१५२६ से १५५६ ई०) तथा मुग़ल वंश (१५५६ से १८०० ई०) थे। इन विदेशी शासकों का शासन प्रधानतया फ़ौजी राज्य कहा जा सकता है। भारत के भिन्न भिन्न प्रदेशों के नगरों पर इनका अधिकार रहता था। साधारण जनता का जीवन अलग चलता था। जनता से कर मिलता रहना ही इन विदेशी शासकों का प्रायः मुख्य ध्येय था। मुसलमान बादशाहों का यह सैनिक अधिकार कई बार बढ़कर लगभग समस्त भारतवर्ष में फैल गया था। किंतु दक्षिण मध्य देश के राजपूत राज्यों, पूर्व और पश्चिम आर्यावर्त के प्रदेशों और दक्षिणापथ के राज्यों ने लगातार विद्रोह किये और कई बार ये दिल्ली के विदेशी केंद्रीय शासन से मुक्त भी हो गये। स्वयं मध्यदेश में भी लगातार विद्रोह हुए किंतु विदेशी सेनाओं से अपने को मुक्त करने में इन्हें स्थायी सफलता नहीं मिल सकी।

इस प्रथम विदेशी संघर्ष के संबंध में दो प्रधान राजनीतिक समस्यायें सामने आती जो अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। पहली समस्या तो यह है कि राजवंशों की सैनिक शक्ति विदेशी आक्रमणकारियों की सैनिक शक्ति का सफल विरोध क्यों नहीं कर सकी? किंतु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण समस्या दूसरी है। वह यह है कि राजवंशों की सेनाओं के हार जाने पर ६०० वर्ष तक विदेशी सैनिक शक्ति मध्यदेश में कैसे टिक सकी, दूसरे शब्दों में मध्यदेश की जनता सफल विद्रोह करके इस सैनिक शक्ति को हटाने में और स्वतंत्र होने में क्यों सफल नहीं हो सकी? इन दोनों समस्याओं को एक में उलझा देना भारी भूल होगी क्योंकि दोनों के कारण अलग-अलग हैं।

सैनिक हार का प्रधान कारण राजवंशों की आपस की क़लह बताना पूर्ण सत्य नहीं है। यह सच है कि समस्त राजवंशों की सेनाओं के सम्मिलित रूप से विरोध करने से भारतीय सैनिक शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती, यद्यपि साथ ही उसका उचित रूप से संचालन करना भी कठिन हो सकता था। सच तो यह है कि देश के राजवंशों में एक से अधिक राजवंश ऐसे शक्तिशाली थे कि जिनकी अकेली सेना विदेशी सेना को हराने में सफल हो सकती थी। अतः इस सैनिक हार का मुख्य कारण आपस की कलह न होकर सैनिक संगठन और सेना-संचालन की त्रुटि समझना चाहिए। मुसलमानों की सेना के सैनिक दृष्टिकोण से अधिक सुसंगठित होने के अतिरिक्त उनके सिपाही इस्लाम प्रचार की भावना तथा लूट द्वारा धन-प्राप्ति की आशा से भी प्रेरित थे। देश की सेनायें राष्ट्रीय अथवा जानपदिक न होकर राजवंशों के शासकों की निजी सेनायें थीं जिनके सामने स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा की भावना मुख्य नहीं होती थी बल्कि राजवंश विशेष के राज्य और राजा की रक्षा की भावना प्रायः प्रधान होती थी। सैनिक संगठन की दृष्टि से भी, स्वदेशी सेनायें कमज़ोर पड़ती थीं। हाथियों पर भरोसा करना, तोपों का प्रयोग न सीखना

घुड़सवार सेना को उचित महत्व न देना, आदि अनेक त्रुटियां देश की सेना के संबंध में मिलती हैं।

इसके अतिरिक्त आक्रमणकारियों की संस्कृति, आदर्श तथा सैनिक संगठन की जैसी जानकारी देश के शासकों को होनी चाहिये वैसी उन्हें नहीं थी। वे इस बात का अनुभव ही नहीं कर सके कि उन्हें एक भिन्न आदर्श वाली अनार्य और अभारतीय संस्कृति से मुठभेड़ लेनी है। वे आर्य सैनिक नियमों का पालन ऐसे लोगों के साथ भी करते रहे जो इन नियमों को समझ ही नहीं सकते थे। सैनिक संचालन के पीछे शत्रु के संबंध में जिस जानकारी और राजनीतिज्ञता की आवश्यकता थी वह देश की सेनाओं को कभी प्राप्त नहीं हो सकी। भारतीय सैनिक निर्बल नहीं था, वास्तव में सेना-संचालक अकुशल था। सैनिक दृष्टि से निर्बलता का यह सबसे बड़ा कारण था। इसीलिए अनेक बार सैनिक दृष्टि से विजय पाने पर भी उससे कभी भी पूरा लाभ नहीं उठाया जा सका।

किंतु सेनायें हारती-जीतती रहती हैं। संसार के इतिहास में सब से बड़ी असाधारण घटना तो यह थी कि लगभग ६०० वर्ष तक मध्यदेश की जनता अपने को विदेशी नियंत्रण से मुक्त नहीं कर सकी। इस स्थिति के कारण सैनिक न होकर अधिक गहरे होने चाहियें। मध्यदेश की संस्कृति का विकास जिन मार्गों में हुआ वे इस विरोध के संगठन के लिए किसी प्रकार से भी सहायक नहीं थे। हम देख चुके हैं कि राजनीतिक दृष्टि से जनपदकाल के बाद जनता का हाथ देश के राज-संचालन में कम होता गया। साम्राज्यकाल और उसके बाद राजवंशकाल में देश का राजनीतिक संगठन इस प्रकार विकसित हुआ कि जनता के बीच से राजनीतिक चेतना ही उठ गई। उसने यह अनुभव करना ही भुला दिया कि देश के राजसंचालन का अंतिम उत्तरदायित्व उसका ही होना चाहिए। जबतक स्वदेशी सम्राटों अथवा राजाओं के हाथ में राज्यों की बागडोर रही तबतक इस राजनीतिक निर्बलता का पता नहीं चला, किंतु एक बार विदेशियों के देश पर अधिकार करते ही यह निर्बलता स्पष्ट हो गई। राजनीतिक चेतना-विहीन जनता की ओर से सामूहिक विरोध हो ही नहीं सकता, और यही बात हुई।

इसके अतिरिक्त देश के सामाजिक संगठन का विकास भी सफल विरोध की दृष्टि से सहायक सिद्ध नहीं हुआ। हम देख चुके हैं कि धीरे-धीरे देश में जन्म के आधार पर वर्णव्यवस्था और जाति व्यवस्था का विकास हुआ। केवल जन्म से मानेजाने वाले क्षत्रियों का ही कर्तव्य युद्ध करना समझा जाने लगा और इस तरह सैकड़ों वर्ष तक देश का सैनिक संगठन केवल एक वर्ग अर्थात् क्षत्रिय जाति के हाथ में रहा। इन क्षत्रिय-वंशों की सेनाओं के हार जाने पर ब्राह्मण, वैश्य तथा अन्य वर्णों और जातियों की जनता यह अनुभव करने में असमर्थ हो गई थी कि कम से कम आपत्ति के समय में तो देश के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए हथियार उठाना है।

देश में पिछले कालों में धार्मिक और दार्शनिक भावनाओं का विकास भी ऐसे मार्गों में हुआ कि वह संघर्षमय जीवन के लिए सहायक न था। अहिंसा और कर्मफल के सिद्धांतों का दुरुपयोग हुआ, अतः जनता मानसिक दृष्टि से भी दुर्बल चित्त की हो गई थी।

फिर मध्यदेश की भूमि इतनी उर्वरा है और जलवायु इतना अनुकूल है कि वह साधारण-तया शांति, संतोष और चिंतन की ओर ले जाने वाला है। सैकड़ों वर्षों की समृद्धि ने उच्चवर्ग को ऐश्वर्य और विलासिता की ओर झुका दिया था। संक्षेप में देश आवश्यकता से अधिक सुसंस्कृत और सभ्य हो गया था जिससे संघर्षमय संसार में जीवित रहने के लिए आवश्यक कठोरता, महत्वाकांक्षा और व्यवहारिकता की कमी हो गई थी। इन गुणों से मुक्त लोगों से टक्कर पड़ने पर इस सहज निर्बलता का पता चल सका।

पड़ोस के देशों के संबंध में जीवित राष्ट्रों का अत्यंत जागरूक रहना चाहिये यह गुण भी अपने यहां नष्ट हो गया था। अपने देश के इतिहास में हम एक भी प्रयत्न इस बात का नहीं पाते हैं कि भारत के सुदूर अथवा निकट-पश्चिम के देशों में फैलनेवाली इस नवीन सेमिटिक संस्कृति तथा इस्लामधर्म को समझने का उद्योग किया गया हो। इस्लामी साहित्य का कोई भी अनुवाद संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश में नहीं किया गया। किसी भी भारतीय यात्री का इस्लामी देशों और वहां की संस्कृति का विवरण नहीं मिलता। नवीन परिस्थितियों को समझने, उनके अनुसार अपने को पहले ही से परिवर्तित करने तथा आगे बढ़कर प्रहार करने की प्रवृत्ति और उत्साह जब समाप्त हो जाते हैं तब उत्थान और अभ्युदय के स्थान पर धीरे धीरे अज्ञान, आलस्य और पतन की ओर झुकाव हो जाता है। यह संभव है कि यदि मुसलमान आक्रमणकारियों ने भारत की ओर मुँह नहीं उठाया होता तो कदाचित् तिब्बत और चीन की तरह भारत की स्वतंत्रता भी बनी रहती। यह भी संभव है कुछ दिनों की विश्रांति और नींद के बाद जनता जगी होती और संसार की पलटी हुई परिस्थिति को देखकर इसके अनुरूप उसने अपने को सुसंगठित किया होता, जैसा कि जापान और चीन में हुआ। जो हो, मध्यदेश के प्रतिकूल सांस्कृतिक विकास के फलस्वरूप विदेशी संघर्ष होने पर जनता उसका सफल विरोध करने में इतने दीर्घकाल तक असफल रही यह स्पष्ट है।

यद्यपि देश की सैनिक पराजय हुई और राजनीतिक सफलता की दृष्टि से देश ६०० वर्ष तक सिर नहीं उठा सका किंतु साथ ही समाज, धर्म और साहित्य की रक्षा के लिए जो आयोजन देश ने सफलता के साथ किया और जिसके फलस्वरूप राजनीतिक और सैनिक पर-तंत्रता के रहते हुए भी देश की संस्कृति की रक्षा ६०० वर्ष तक हो सकी यह भी संसार के इतिहास में एक अत्यंत असाधारण घटना है। सेमिटिक इस्लामी आक्रमण के फलस्वरूप इराक़, ईरान अफ़ग़ानिस्तान, तुर्की, मिस्र आदि अनेक देशों की समस्त जनता ने इस्लामी धर्म, भाषा और संस्कृति को ग्रहण कर लिया था, किंतु ६०० वर्ष तक स्वयं मध्यदेश में इस्लामी शासन रहने पर भी कठिनाई से ६ प्रतिशत जनता मुसलमान हुई और शेष ९१ प्रतिशत जनता आज भी देश की संस्कृति को पकड़े हुये है। यह भी एक अत्यंत महत्वपूर्ण सत्य है। विदेशी संघर्ष के इस पहलू के कारणों पर आगे विचार किया गया है।

१२. नवीन धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था तथा साहित्य

देश की संस्कृति के रक्षक राजवंशों के हट जाने और विदेशी शासन के हो जाने पर यद्यपि मध्यदेश की जनता राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में असमर्थ रही किंतु उसने देश की संस्कृति की विदेशी धर्म और संस्कृति से रक्षा करने की दृष्टि से अपने को तुरंत ही समयानुसार सुसंगठित किया। यहां यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि अबतक देश की सामाजिक व्यवस्था की रक्षा और संचालन का उत्तरदायित्व बहुत कुछ देश के शासकों के हाथ में था, किंतु विदेशी शासकों के हो जाने पर अब यह संभव नहीं था, अतः समाज को यह कार्य अपने हाथों में लेना पड़ा। भारतीय समाज की अवस्था मैदान में पड़ी हुई उस सेना के समान थी जिसका सेना नायक मारा गया हो और इसलिए प्रत्येक टुकड़ी के नायक पर अपनी टुकड़ी की रक्षा का भार आ पड़ा हो।

फलतः हम यह पाते हैं कि देश के परंपरागत भौगोलिक विभागों और उनके अंतर्गत पेशों के श्रेणी-विभागों के हाथ में संगठन और रक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व आ गया, अर्थात् प्रत्येक जनपद के भिन्न-भिन्न पेशों की पंचायतों के हाथ में संपूर्ण सामाजिक अधिकार चला गया। इसी कारण इस काल में जनपद अथवा प्रदेशों के अनुसार "हिंदू" समाज में पृथक् पृथक् उपजातियों अथवा विरादरियों का संगठन और विकास हुआ। उदाहरण के लिए मथुरा प्रदेश (शूरसेन जनपद) के ब्राह्मणों या कायस्थों की, अथवा कान्यकुब्ज प्रदेश (पंचाल जनपद) के ब्राह्मण, कायस्थ या अन्य वैश्य वर्गों की पृथक्-पृथक् उपजातियां बन गईं। केवल अपने प्रदेश की अपनी उपजाति ही ठीक ठीक देख-रेख कर सकती थी और प्रादेशिक उपजाति विशेष पर दबाव डाल सकती थी।

सामाजिक नियम तोड़नेवालों को दंड देने का अधिकार अभी तक राजा को प्राप्त था। अब विदेशी शासकों के होने के कारण यह दंड विधान भी समाज को अपने हाथ में लेना पड़ा। छोटा अपराध करने पर उपजाति की पंचायत, साथ का खाना-पीना बंद करके अपराधी व्यक्ति को आगाह करती थी। बड़ा अपराध करने पर विवाह संबंध विच्छेद कर के उस व्यक्ति अथवा परिवार को समाज से बिल्कुल पृथक् कर देती थी। वर्तमान हिंदू जातियों तथा उपजातियों के अंदर रोटी बेटी का बंधन और महत्व इसी प्रकार इस काल में विकसित हुआ और इसी कारण रोटी-बेटी संबंध की सीमा साधारणतया प्रत्येक जनपद तथा प्रदेश की एक एक पेशेवाली जनता तक सीमिति रही, जैसे माथुर ब्राह्मणों का रोटी बेटी संबंध केवल माथुर ब्राह्मणों तक, माथुर कायस्थों का रोटी-बेटी संबंध केवल माथुर कायस्थों तक, इत्यादि।

अंतरंग रक्षा के इस प्रबंध के साथ-साथ विदेशियों के साथ सामाजिक असहयोग का ऐसा विराट् आयोजन किया गया कि जिसके आगे आधुनिक काल का राजनीतिक क्षेत्र से संबंधित असहयोग आंदोलन खिलवाड़ दिखलाई पड़ता है। आक्रमणकारी विधर्मियों अथवा उनका धर्म और संस्कृति ग्रहण कर लेनेवाले भारतीयों से अपने को पृथक् रखने का यत्न किया गया, यहां तक कि मृत्यु या जन्म आदि के अवसरों पर भी आने-जाने आदि किसी भी प्रकार का संबंध नहीं रक्खा जाता था। जो भारतीय विदेशी शासन में साधारणतया सहयोग देते थे या किसी तरह उनकी संस्कृति का अनुकरण करते थे उनको भी नीची दृष्टि से देखा जाता था। मध्यदेश के काश्मीरी ब्राह्मण और कायस्थों को हिंदू समाज इसी कारण शंका की दृष्टि से देखती थी।

इस दोहरी व्यवस्था के फलस्वरूप लगभग ६०० वर्ष तक समाज ने आत्मरक्षा की, और मुसलमानी शासन के समाप्त होने पर भी जीवित बनी रही। हिंदू समाज की जातिव्यवस्था की जहां निंदा की जाती है वहां उसका उपर्युक्त दूसरा ऐतिहासिक और व्यवहारिक पहलू भी है। यह सामाजिक व्यवस्था आत्मरक्षा के लिए तो अत्यंत सफल सिद्ध हुई—इसी के लिए इसका निर्माण ही किया गया था—किंतु सुसंगठित होकर आक्रमण करने तथा स्वतंत्र होने की शक्ति इससे नहीं पैदा हो सकती थी। किंतु इस असाधारण काल में जब कि संस्कृति के जीवित रख सकने की समस्या सबसे महत्वपूर्ण समस्या थी यह दूसरा दृष्टिकोण महत्व नहीं रखता था। दोनों कार्यों को साथ-साथ चलाना असंभव था। मुसलमानी विदेशी शासन ऐसा उदार नहीं था जिसमें केवल सामाजिक संगठन की शक्ति से सफलता मिल सकती। वह तो सैनिक शासन था। ईसाई-यूरोपीय आदर्शोंवाले बाद के विदेशी शासन का वातावरण इससे बहुत भिन्न, उदार और सभ्य था। ऐतिहासिक तुलनाओं से ही वास्तविक तथ्य का पता चलता है।

आत्मरक्षा की दृष्टि से ही संरक्षक पति के न रहने पर विधवा के सती हो जाने की प्रथा को समाज ने देशकाल की दृष्टि से बुरा नहीं समझा। राजपूतों की जौहर की प्रथा भी इसी का एक प्रकार का सामूहिक रूप था। रक्षा के उत्तरदायित्व को बाँटने की दृष्टि से कन्याओं का विवाह धीरे-धीरे छोटी अवस्था में होने लगा। मां बाप तथा अभिभावक लड़कियों की रक्षा के उत्तरदायित्व से घबड़ाते थे और इससे शीघ्र से शीघ्र मुक्त हो जाना चाहते थे। इसी कारण उस समय के धर्मशास्त्रों में भी इस संबंध में नियम बनाये गये अथवा पुराने धर्मशास्त्रों या उनकी टीकाओं में आवश्यक परिवर्द्धन तथा परिवर्तन किये गये। यह भय यहां तक अति को पहुँचा कि कुछ परिवारों में कभी-कभी लड़की को जन्म होते ही मार डाला जाता था। इसी कारण मध्यदेश में उच्च परिवारों में या नगरों में, जहां विधर्मी अधिक संख्या में बसते थे, स्त्रियों को घर से बाहर कम से कम निकलने दिया जाता था। पर्दे के रिवाज का एक सहायक कारण विदेशियों का अनुकरण भी हो सकता है क्योंकि इनमें स्त्रियों को परदे में रखने का रिवाज था। जो हो इन सब कारणों के फलस्वरूप हिंदू समाज के उच्चवर्ग में इस काल में स्त्रियों का स्थान निम्नतम कोटि पर पहुँच गया और प्राचीन आदर्श बहुत सी बातों में भुला दिये गये। यों परिवार के अंदर साधारणतया स्त्री के प्रति, विशेषतया उसके माता के पद के संबंध में, मान की भावना थी और उसके अधिकार

बहुत-कुछ सुरक्षित रहे, यद्यपि परिस्थितियों के फलस्वरूप वे बहुत-कुछ विकृत भी अवश्य हो गये थे।

देश और जनता के नाम में भी प्रथम विदेशी संपर्क के फलस्वरूप परिवर्तन हुआ। क्योंकि मुसलमान पहले पहल सिंधु प्रदेश में आये थे, जिसे वे हिंदु कहते थे, फलतः आगे चलकर उत्तर-भारत और विशेषतया मध्यदेश में आने पर उसे भी ये लोग हिंद या हिंदुस्तान नाम से पुकारने लगे। इस तरह से समस्त भारतवर्ष का ही हिंद या हिंदुस्तान नाम पड़ गया। यूरोपीय नाम इंडिया ईरानी हिंद का विकृत रूप है। भारतीयों को ये विदेशी हिंदू कहते थे। धीरे धीरे हिंदू शब्द भारतीय संस्कृति और धर्म के अनुयायी के लिए प्रयुक्त होने लगा। विदेशी शासकों के प्रभाव के फलस्वरूप इन शब्दों का देश की जनता में भी धीरे-धीरे प्रचार हुआ। इसी प्रकार क्योंकि उत्तर-भारत में जनता को तुर्की आक्रमणकारियों के संपर्क में आना पड़ा था इसलिए सब विदेशी मुसलमानों के लिए तुर्क या तुरुक शब्द का प्रयोग होता था और इसके विरोध में भारतीय संस्कृति और धर्म का अवलंबी हिंदू कहलाता था। हिंदू वास्तव में किसी धर्म विशेष का नाम नहीं है। यह परंपरागत भारतीय संस्कृति और धर्म का प्रतीक है। यों साधारणतया समस्त हिंद वासियों को हिंदी कहा जाता था जैसे तुर्की मुसलमान, हिंदी मुसलमान। मध्यदेश की समकालीन प्रधान भाषा को हिंदुई या हिंदवी या हिंदी नाम से विदेशी पुकारते थे। इस शब्द का यह अंतिम हिंदी रूप मध्यदेश की आधुनिक भाषा के लिए अपना लिया गया। हिंदुस्तान शब्द के आधार पर हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग विशेषतया यूरोपीय लेखकों ने प्रारंभ किया था। हिंदी भाषा की फ़ारसी-गर्भित साहित्यिक शैली के लिए उर्दू शब्द का प्रयोग बाद को गढ़ा गया, यद्यपि अब तो यह इस अर्थ में रूढ़ि हो गया है। इस प्रकार देश के लिए हिंद या हिंदुस्तान, देशवासियों के लिए हिंदू, तथा भाषा के लिए हिंदी ये सब के सब शब्द इस प्रथम विदेशी संपर्क की देन हैं। इनमें पहले दो शब्द तो समस्त भारत के लिए तथा परंपरागत संस्कृति पर सुदृढ़ रहने वाले समस्त भारतीयों के लिए प्रयुक्त होने लगे हैं। अंतिम शब्द अधिक सीमित अर्थ में मध्यदेश की आधुनिक प्रधान आर्यभाषा के अर्थ में रूढ़ि हो गया है।

बौद्धधर्म, जो इस काल के आरंभ में मगध के बौद्ध भिक्षुओं और विद्या पीठोंमें अबतक चल रहा था, विदेशी आक्रमणकारियों ने आमूल नष्ट कर दिया। जैन धर्म के केंद्र पहले ही हट कर राजस्थान तथा गुजरात की ओर चले गये थे। वे वहां बने रह सके। पौराणिक कालीन देवताओं के विशाल वैष्णव और शैव-मंदिर, जो इस समय मथुरा, कान्यकुब्ज, काशी, अयोध्या उज्जैन आदि मध्यदेश के प्रधान नगरों की शोभा बढ़ाते थे, सब के सब नष्ट कर दिये गये और प्रायः इनके स्थान पर मसजिदें बना दी गईं जो आजतक मौजूद हैं। इसी कारण मुसलमानों के आक्रमण के पहले के मंदिर केवल दक्षिण भारत में या कुछ छोटे मंदिर राजस्थान या बुंदेलखंड आदि के प्रदेशों में बचे रह गए हैं। गंगा की घाटी के नगरों में इनमें से एक भी बचा नहीं रह सका।

नवीन परिस्थिति के फलस्वरूप परंपरागत पौराणिक धर्म के रूप में परिवर्तन आवश्यक हो गया। यह हम संत-संप्रदायों और भक्ति-संप्रदायों के रूप में पाते हैं। इनका विकास भी लगभग

विदेशी आक्रमण के दो तीन शताब्दी बाद धीरे-धीरे मध्यदेश में हो सका। संत संप्रदायों में कई धार्मिक भावनाओं का संमिश्रण हुआ। मगध के सिद्धों द्वारा चलाये हुए नाथ-संप्रदाय से संत संप्रदायों ने योग और तपश्चर्या का सिद्धांत अपनाया, उपनिषदों की परंपरा,वेदांत तथा ईरान के सूफ़ी मुसलमान फ़क़ीरों से, जो इस समय बहुत बड़ी संख्या में यात्रा करने लगे थे या जगह जगह बस गये थे, इन्होंने एकेश्वरवाद का आदर्श लिया। स्वयं सूफ़ियों ने भी यह सिद्धांत भारतीय उपनिषद् और वेदांत के प्रभाव के फलस्वरूप सीखा था। दक्षिण भारत के वैष्णव आचार्यों के आंदोलन से प्रभावित होकर संतसंप्रदायों में भक्ति की भावना आई। परंपरागत बौद्ध और जैनधर्मों तथा इस्लाम से प्रभावित होकर इन्होंने समाज में ऊँच-नीच की भावना मिटाने का संदेश अपनाया। इस खिचड़ी से जो धार्मिक संप्रदाय बने वे संत-संप्रदाय या पंथ कहलाए, जिनमें कबीर संप्रदाय, नानक संप्रदाय, दादूपंथ, मलूकदासी आदि मुख्य हैं। इन संप्रदायों का प्रभाव प्रायः समाज के निम्न वर्ग तक सीमित रहा। ऊँचे वर्ग इनमें विदेशीपन की गंध अनुभव करते थे।

ऊंचे वर्गों ने संत-संप्रदायों के स्थान पर भक्ति-संप्रदायों को अपनाया जो कि परंपरागत राम, कृष्ण अथवा शिव की उपासना को आधार मान कर चलते थे। इन पौराणिक देवताओं की साधारण पूजा के स्थान पर इनके प्रति भक्ति या पूर्ण आत्म-समर्पण अथवा उत्कट प्रेम की भावना इस समय प्रमुख हो गई थी। इस दृष्टिकोण का प्रारंभ दक्षिण भारत में हुआ था। १२ वीं शताब्दी के लगभग दक्षिण के चार वैष्णव आचार्यों ने वैष्णव भक्ति को शास्त्रीय रूप दिया और फिर इनके द्वारा स्थापित संप्रदायों के प्रभाव के फलस्वरूप यह संदेश उत्तर भारत में आया और बहुत शीघ्र लोकप्रिय हो गया।

मध्यदेश में इसके प्रचार का श्रेय रामानुज की शिष्य-परंपरा से संबंध रखनेवाले स्वामी रामानंद को है। इन्होंने रामभक्ति का प्रचार किया और राम के जन्मस्थान के निकटवर्ती प्रदेश में इसका स्वाभाविकतया विशेष प्रचार हुआ। इसी आंदोलन के फलस्वरूप अयोध्या, चित्रकूट आदि रामचंद्र जी से संबंध रखने वाले स्थानों का जीर्णोद्धार हुआ और रामनाम और राम-महिमा का जनता में प्रचार हुआ। पश्चिम मध्यदेश, विशेषतया मथुरा, गोकुल, वृंदावन, कृष्णभक्ति का केंद्र बना और इसका विशेष प्रचार महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके द्वारा स्थापित पुष्टिमार्ग या वल्लभ-संप्रदाय के द्वारा हुआ। बाद को राधावल्लभी संप्रदाय, हरिदासी संप्रदाय आदि और भी अनेक छोटे-छोटे संप्रदाय स्थापित हुए। इन वैष्णव भक्ति संप्रदायों के साथ साथ शिवभक्ति तथा शक्ति की पूजा भी चलती रही, किंतु इस काल का प्रतिनिधि धार्मिक आंदोलन संत संप्रदाय तथा वैष्णव भक्ति-संप्रदाय ही कहे जावेंगे।

इन भक्ति-संप्रदायों के लोकप्रिय होने के अनेक कारण थे। साहित्यिक दृष्टि से गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी की तरह संतों तथा वैष्णवों ने जनता की भाषा को अपनाया। गीति-काव्य के माध्यम का कारण भी यही था। फलस्वरूप सर्वसाधारण तक इनके संदेश की पहुँच हो सकी और शीघ्रता से इसका प्रचार हो सका। इसके अतिरिक्त वैदिक या पौराणिक धर्मों की अपेक्षा इन संप्रदायों ने सामाजिक उदारता का संदेश दिया, किसी न कम और किसी ने अधिक।

इस बात में भी यह संप्रदाय बौद्ध और जैन सुधारों से मिलते-जुलते थे। धार्मिक दृष्टि से इनका रूप कम से कम प्रारंभ में, अत्यंत सरल था—न अधिक धन की अपेक्षा रखनेवाले जटिल कर्मकांड की इनमें आवश्यकता पड़ती थी और न किसी ऊँचे दार्शनिक ज्ञान की ही। संभव है कि राजनीतिक दृष्टि से असहाय अवस्था ने भी किसी इष्टदेव के प्रति आत्मसमर्पण और पूर्ण श्रद्धा के इस संदेश को अधिक लोकप्रिय बना दिया हो। जो हो, १४वीं, १५वीं शताब्दी से प्रारंभ होकर यह भक्ति-संप्रदाय बहुत शीघ्रता से मध्यदेश की जनता में फैल गये और आज तक चल रहे हैं। बौद्ध और जैनधर्म के समान इनके प्रवर्तक भी व्यक्तिविशेष थे और इनकी गुरु शिष्य-परंपरा चलती है। इसी कारण इनमें गुरु का महात्म्य विशेष हुआ। अहिंसात्मकता, कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत तथा पौराणिक कथानकों का आधार इन्होंने देश की परंपरागत धार्मिक विचारावली से ज्यों का त्यों ले लिया।

इस काल में पहुँचते-पहुँचते वैदिक धर्म से जनता बिल्कुल अपरिचित हो गई थी यद्यपि वेद के नाम के प्रति आदर की भावना अब भी चल रही थी। वैदिक कर्मकांडी तथा दार्शनिक मीमांसक तो काशी, मिथिला आदि प्राचीन केंद्रों में इने-गिने ब्राह्मण पंडितों तक सीमित रह गये थे।

विदेशी शासकों का इस्लामधर्म इस समय राजधर्म था। उसके प्रचार के संबंध में शासकों ने हर तरह का निरंतर उद्योग किया। हिंदूओं पर विशेष टैक्स—जज़िया—लगाया गया। धर्म-परिवर्तन करने पर टैक्स हटा लिया जाता था। मुसलमान हो जाने पर विशेष मान और अधिकार दिये जाते थे। अपराध करने पर धर्म-परिवर्तन से व्यक्ति दंड से मुक्त कर दिये जाते थे। लगभग ६०० वर्ष तक इस प्रकार के अनेकों उद्योग करने पर भी अंत में मध्यदेश में इस्लाम ग्रहण करने वाले वक्तियों की संख्या नौ-दस प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकी। इनमें कदाचित् एक प्रतिशत से भी कम बाहर से आने वाले मुसलमान होंगे। इसके विपरीत पंजाब तथा बंगाल में इनकी संख्या ५० प्रतिशत से भी अधिक हो गई जिसके फलस्वरूप आधुनिक समय में ये भाग पाकिस्तान के नाम से पृथक् हो गये।

यद्यपि दिल्ली-आगरा के विदेशी शासकों की राजभाषा फ़ारसी थी और आगे चलकर खड़ीबोली की फ़ारसी मिश्रित एक नवीन शैली हिंदवी अथवा उर्दू विकसित हुई किंतु भाषा और साहित्य के ये विदेशी रूप केवल मुट्ठी भर विदेशी शासकों और शासन से संबंध रखनेवाले नागरिकों तक ही सीमित रहे। जनता की भाषाओं में साहित्य-रचना स्वतंत्र रूप से प्रवाहित होती रही। वास्तव में हिंदी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं और साहित्यों का विकास इसी काल में हुआ।

नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में हम पूर्व मध्यदेश में सिद्धों और नाथों की अपभ्रंश-मिश्रित रचनायें पाते हैं तथा दक्षिण-मध्यदेश और गुजरात की ओर जैन कवियों की प्राकृत और अपभ्रंश रचनाओं में भाषा का पुट पाने लगते हैं। पश्चिम मध्यदेश में इस समय आधुनिक भाषा की क्या स्थिति थी इसका ठीक पता नहीं चलता। कन्नौज में जयचंद्र के दरबार में

मान्य साहित्यिक भाषा संस्कृत ही थी यद्यपि कुछ भाषाकवियों और उनकी रचनाओं के भी उल्लेख मिलते हैं।

बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (११५०-१२०० ई०) से हिंदी की तीन कृतियों का संबंध जोड़ा जाता है—(१) नाल्ह-कृत वीसलदेवरास (अजमेर), (२) चंद-कृत पृथ्वीराजरासो (दिल्ली), तथा (३) जगनिक कृत आल्हखंड (महोबा)। इन तीनों रचनाओं का विषय इसी काल से संबंध रखता है तथा प्राचीनतम रूप भी कदाचित् इसी काल में प्रारंभ हो गया था, किंतु मौखिक परंपरा से अनेक शताब्दियों तक चलते रहने के कारण इन तीनों में बहुत परिवर्तन और परिवर्द्धन हुये। दोनों रासो ग्रंथों को १५ वीं, १६ वीं शताब्दी के लगभग और आल्हखंड को १९ वीं शताब्दी में लिपिबद्ध किया गया। इन ग्रंथों के अंतिम परिवर्द्धित रूप ही अब उपलब्ध हैं।

मध्यदेश में १२०० से १४०० ईसवी तक की प्रामाणिक साहित्यिक सामग्री अभी विशेष उपलब्ध नहीं हो सकी है। १४०० ई० के उपरांत संत तथा भक्ति संप्रदायों की परंपरा प्रारंभ हुई जिसके फलस्वरूप कबीर आदि निर्गुण भक्त तथा गोस्वामी तुलसीदास तथा सूरदास जैसे रामभक्त और कृष्णभक्त कवियों का आविर्भाव हुआ। एक अन्य धारा सूफ़ी मुसलमान कवियों की थी जिसमें प्रमुख नाम जायसी का है।

संतों का साहित्य प्रायः खड़ीबोली के मिश्रित रूप में है। रामचरितमानस और प्रेमाख्यान-काव्य अवधी में लिखे गये। कृष्णकाव्य ने ब्रजभाषा को अपनाया। ब्रजभाषा ही इस काल में मध्यदेश की जनता की प्रतिनिधि साहित्यिक भाषा कही जा सकती है। मध्यदेश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं में पश्चिम राजस्थान की डिंगल (मध्यकाल की साहित्यिक मारवाड़ी) और उत्तर-बिहार की मैथिली का उल्लेख किया जा सकता है। दक्खिन में इसी समय हिंदवी (पुरानी खड़ीबोली) विकसित हो रही थी।

उपर्युक्त समस्त साहित्यिक परंपरायें चलती रहीं, किंतु सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में हिंदू नरेशों के दरबार में साहित्यिक ब्रजभाषा में रीति-ग्रंथों के लिखने की परंपरा चली। इनमें काव्य के भिन्न भिन्न अंगों की परिभाषायें तो प्रायः इन विषयों के संस्कृत ग्रंथों के आधार पर दी गई हैं किंतु उदाहरण के अंशों में विशेषतया शृंगाररस से संबंधित मौलिक मुक्तक रचनायें मिलती हैं। केशव, बिहारी, भूषण, मतिराम आदि कवि इसी परंपरा से संबंध रखते हैं। ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति-साहित्य का यह दरबारी शृंगारी रूप कहा जा सकता है। इस साहित्य में कला और शैली का विशेष चमत्कार है।

प्रथम विदेशी संघर्षकाल का उपर्युक्त हिंदी साहित्य यद्यपि अपने सीमित क्षेत्रों में अत्यंत उत्कृष्ट है किंतु उसके साथ उसकी परिधि अत्यंत संकीर्ण है। संस्कृत नाटकों की परंपरा का इसमें अभाव है। गद्यसाहित्य का अभाव है। शिक्षा के अभाव के कारण उपयोगी विषयों पर ग्रंथ-रचना बिलकुल नहीं हुई। वैदिक संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्यों का पठन पाठन न होने के कारण इन साहित्यों से भी इस काल के हिंदी साहित्य को विशेष प्रेरणा नहीं मिल सकी। फ़ारसी को

छोड़ कर किसी अन्य विदेशी साहित्य के संपर्क में भी हमारे लेखक नहीं आ सके, जिससे उन्हें नवस्फूर्ति मिल सकती।

इन्हीं शताब्दियों में यूरोप के स्वतंत्र देशों के साहित्य, जैसे फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेज़ी आदि अपने ललित और उपयोगी साहित्य का नवनिर्माण कर रहे थे, जबकि मध्यदेश के कवि और लेखक केवल भक्ति और शृंगार संबंधिनी रचनाओं के निर्माण में संलग्न थे। इसके मूल में प्रधान कारण-स्वरूप कदाचित् देश की राजनीतिक परतंत्रता थी।

अंत में इस काल के साहित्य से दो तीन कम परिचित उद्धरण उदाहरण-स्वरूप दिए जा रहे हैं। महाराज पृथ्वीराज की राजधानी दिल्ली के संबंध में कवि चंद की कल्पना कुछ इस प्रकार की है:—

उस समय दिल्ली नगर साक्षात् इंद्र की पुरी के समान शोभायमान था। राजद्वार पर निरन्तर नाना प्रकार के मनहरण स्वरमय सुंदर बाजे बजा करते थे और साक्षात् कामदेव की कलाओं के से अवतार आठ सौ मतवाले हाथी सदा डयोढ़ी पर झूमा करते थे। नगर के बाहरी प्रांत में जमुना के किनारे पर स्थित निगमबोध स्थान की बहार तो कथन शक्ति से बाहर थी। वहां पर बारहों मास बसंत ऋतु का वास रहता था। जहां-तहां भिन्न-भिन्न प्रकार की क्यारियों में भाँति-भाँति के तरु-लता और गुल्म लहलहाते थे। शीतल, मंद सुगंध त्रिविध बयार बहती थी। केसर, कुंकुम, जाति, मालती, गुलाब, चंपा, चमेली, कुंद, कदंब आदि के मधु की सोंधी सुगंधि से समस्त वायुमंडल सुवासित रहता। अनार, दाख, बादाम, श्रीखंड, पिंडखजूर, आम, अनन्नास, जिमूर, बिजारे, शहतूत, अखरोट, लीची, नारियल आदि नाना प्रकार के फलमय वृक्ष भी संपत्ति के भार से नम्र होकर सदा मतवारों की तरह झोंका लिया करते थे।

वसंत ऋतु के दिनों में प्रातःकाल के समय महाराज पृथ्वीराज का दरबार खास प्रायः इसी स्थान पर हुआ करता था, जिसमें नाना प्रकार के मधुर स्वरवाले बाजे बजते थे और गायकगण समयोचित स्वर से उत्तमोत्तम राग-रागनियों की अलापचारी करते थे। अबीर और गुलाल के झोकों से सर्वत्र लाली छा जाती थी। बीचोबीच महाराज पृथ्वीराज का सिंहासन लगता और आसपास उसके सखा-सामंत लोग बैठते थे। राजा के सिर पर आच्छादित रत्नजटित छत्र और अगल-बगल ढुरते हुए मोरछल ऐसे भले मालूम देते थे जैसे साक्षात् मधुमास ही राजा पर छाया किये हो। पृथ्वीराज के वाम पार्श्व में गोंइंदराय, निड्डुर और सलख प्रमार बैठते और दाहिने में सोमेश्वर के सगे भाई कान्ह चौहान बैठते थे, जिसकी आँखों पर सदा पट्टी चढ़ी रहती थी। गादी के पीछे साक्षात् ब्रह्मा के समान विद्वान् गुरुराम पुरोहित का आसन रहता और सम्मुख कवि चंद बैठता था। इसके सिवाय चंदपुंडीर, चामंडराय, लक्खन बघेला आदि सामंत लोग यथास्थान अपने अपने आसन पर अदब से आसीन रहते थे।

पृथ्वीराजरासो का ६१ वां कनवज्ज समय मुख्य है, जिसमें संयोगिता हरण की कथा है। इसके अनुसार महाराज पृथ्वीराज ग्यारह सौ सवार साथ में लेकर कन्नौज के लिए रवाना हुये। इनमें इनके चुने हुये सौ सामंत भी थे जिनमें से ६४ संयोगिताहरण के

युद्ध में मारे गये और केवल ३६ सामंत मुहम्मद ग़ोरी से देश की रक्षा के लिए युद्ध करने को बच सके। वेश बदल कर महाराज पृथ्वीराज महाकवि चन्द के साथ कन्नौज नगर देखने के लिए निकले। उस स्थल पर किये गये इस नगर के वर्णन का एक अंश नीचे दिया जाता है:—

उस पट्टनपुर की शोभा का क्या कहना है जहां पर सैकड़ों करोड़पति महाजन निवास करते थे। उन करोड़पति महाजनों और राजाओं के महल भी जहाँ-तहाँ सुशोभित थे। उन महाजनों और राजाओं के निवासस्थानों से आती हुई केसर, उसीर और मृगमद की सुगंधि से सारा वायु-मंडल सुवासित हो रहा था। वहाँ की सजावट, बनावट और सफ़ाई देखकर शृंगार रस के नेता घनश्याम तथा कामदेव का भी मोहित होना संभव था। कहीं पर गुणी गायकगण राग-रागनियों को गाते और उपंग, वीणा आदि बजाते थे। कहीं पर अंग-अनंग के रंग से भरी गरवीली गणिकायें कलकंठ से मंगलगीत गाती और हावभाव बताती हुईं नाना भाँति की कलायें कर-कर नृत्य करती थीं। इसी तरह और भी सब प्रकार महल प्रति महल आमोद-प्रमोदमय चहल-पहल की कहल सुनकर ऐसा मालूम होता था मानो यहां घर-घर इंद्रासन और इंद्र बिराजते हैं। ऐसे आनंदमय नगर पट्टनपुर के प्रत्येक महल और हवेली पर सोने के कलस चढ़े हुये थे और द्वारों पर मोतियों के झालरदार जड़ाऊ तोरण बँधे हुये थे। उज्वल स्वर्ण की जगमगाहट के कारण समस्त पट्टनपुर में दिन-रात दिन-सा फूला हुआ दिखाई पड़ता था।

आगे बाजार में जाइए तो कुछ और ही आनंद था, कहीं तमोलियों की दूकानों पर छैल-छबीले ज्वान खड़े पान खा रहे थे। कहीं पर मालिनें बेला, चमेली, चंपा, सेवती आदि सुगंधित पुष्पों के अच्छे-अच्छे लच्छेदार हार गूँथ कर खड़े मोल पैसा देनेवालों के गले में पहिना रही थीं। कहीं पर दो-चार यार दोस्त जुट कर वीणा पखावज आदि बजाते और मनमानी अलापचारी करके मन की मौज उड़ाते थे। कहीं पर विद्वान् पंडित कथा-पुराण कहते और कहीं पर दस-पाँच समझदार जुट कर ज्ञान चर्चा उच्चार किया करते थे। बजाज लोग अपनी अपनी दूकानों पर सजे-बजे बैठे-बैठाए नाना भाँति के बहुमूल्य और कम मूल्यवाले पदार्थ क्रय विक्रय करते थे। एक तरफ आटे, दाल, घी, चीनी, चावल, चना, चूरा आदि परचून के अटंब लगे थे। एक ओर सूती, ऊनी, रेशमी, पशमीनी, जरदोजी, जड़ाऊ, लदाऊ और मखमली आदि भाँति-भाँति के बहुमूल्य और आबदार वस्त्रों की दूकानें थीं। एक ओर जौहरी बाजार में हीरा, मोती, माणिक, मूंगा, पन्ना, पुखराज, फ़ीरोजा, गोमेदक, लहसुनियां आदि नाना प्रकार के रत्नों से जटित सोने-चाँदी के बहुमूल्य गहने बिक रहे थे। वे जड़ाऊ गहने ऐसे आबदार, उज्ज्वल और प्रभामय थे कि उनकी और सूरज की ज्योति एक हो रही थी। एक ओर जड़िया लोग डाक पर नग को टाँक कर किनारे के कुंदन को ओच रहे थे, और एक ओर सुनार जंत्री में से तार खींच रहे थे। जौहरी लोग तकिया से टिके बैठे ऐसे नाना भांति के गहने कटिया पर जोख कर महाजनों को देते थे और उनसे ढेर की ढेर जमा गिना कर घर में धर लेते थे। इस तरह माल बाजार का

आनंद लेता हुआ कवि चंद तथा महाराज पृथ्वीराज जयचंद के महलों के दरवाजे जा पहुँचे।[१]

उपर्युक्त अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन में उस समय के वैभव और विलास के वातावरण की कल्पना है। ऐसा वातावरण कठिन विदेशी संघर्ष के लिए नितांत अनुपयुक्त सिद्ध हुआ इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिये।

सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक बनारसीदास जैन कवि हुये हैं। इन्होंने अपनी पूर्वार्द्ध जीवनी अर्द्धकथा नाम से लिखी है। यह रचना उस समय के वास्तविक जीवन के वर्णन की दृष्टि से अनोखी और रोचक है। ये जौनपुर के रहनेवाले थे। अकबर की मृत्यु का समाचार पाकर जौनपुर के निवासियों की क्या अवस्था हुई इसका आँखों देखा अत्यंत सजीव चित्र निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है:—

संवत सोलह सै बासठा। आयो कातिक पावस नठा।
छत्रपत अकबर स्याह जलाल। नगर आगरै कीनौ काल।।
आई खबर जौनपुर मांहि। प्रजा अनाथ भई बिनु नाह।
पुरजन लोग भये भयभीत। हिरदै ब्याकुलता, मुष पीत।।
अकस्मात बानारसी, सुनि अकबर को काल।
सीढ़ी पर बैठ्यो हुतों, भयो भरम चित चाल।।
आय तिवाला गिर पर्‌यो, सक्या न आपा राषि।
फूटि भाल, लोही चल्यौ, कह्यौ देव मुष साषि।।
लगी चोट पाषान की, भयौ गहंगण लाल।।
हाय हाय सब कर उठे, मात तात बेहाल।।
गोद उठाय माय नै लियो। अंबर फारि घाव मैं दियो।
षाट बिछाइ सुनायो बाल। माता रुदन करै अरु हाल।।
इस ही बीच नगर में सोर। भयौ उदंगल चारौ ओर।
घर घर देइ दीये हैं कपाट। हटवानी नहिं बैठे हाट।
भले वस्त्र अरु भूषण भले। सो सब घर मैं बांध कै धरे।
हडवाई गाड़ी कहुं और। नगदी माल बिभरमी ठौर।।
घर घर सबनि बिसाहे सस्त्र। लोगन पहिरे मोटे वस्त्र।
ऊढ़े कंबल अथवा षेस। नारिन पहिरे मैले भेस।।
ऊँच नीच की नहिं पहिचान। धनी दलिद्री भये समान।
चोर धारि कहूं दीसै नाहि। यौं ही अपभय लोक डराय।।

---

१ पृथ्वीराज रासो : रासोसार।

धाय धाय दिन दस रही, बहुरो बरती सांति।
चीठी आई सबनि कै, समाचार इस भांति॥
प्रथम पातस्याही करी, बावन बरस जलाल।
अब सोलह सै बासठै, कातिक हूवो काल॥
अकबर कौ नंदन बड़ौ, साहिब स्याह सलेम।
नगर आगरे में तषत, बैठो अकबर जेम॥
नांव धरायो नूरदीं, जिहांगीर सुलतान।
फिरी दुहाई जगत मैं, बरती जहं तहं आन॥
इस बिधि चिट्ठी मैं लिखी, आई घर घर बार।
फिरी दुहाई जौनपुर, भयो जु जै जै कार॥

१३. द्वितीय विदेशी संघर्ष तथा स्वतंत्रता-प्राप्ति

अंतिम मुसलमान मुग़लवंश के शासकों का उत्कर्ष-काल १०० वर्ष भी नहीं रहा। १६५० ई० के बाद मुग़लवंश के शासकों की शक्ति क्षीण होती गई। इस समय देश की स्वतंत्रता का उद्योग द्विगुणित उत्साह के साथ फिर प्रारंभ हुआ। गंगा के मैदान में सुसंगठित सेनाओं से टक्कर लेना तो संभव नहीं था, किंतु दक्षिण के पहाड़ी प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से इस कार्य के लिए अधिक उपयुक्त थे। बुंदेलखड में महाराज चंपतराय तथा उनके पुत्र महाराज छत्रसाल ने सब से पहले स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न प्रारंभ किया (१६५९-१७०० ई०) और बुंदेलखंड लगभग अर्द्धस्वतंत्र हो गया। आगरा के निकट ही मथुरा प्रदेश में जाटों ने विद्रोह प्रारंभ किया और अंत में उनके नेता भरतपुर का राज्य स्थापित करने में सफल हुए। राजस्थान में मेवाड़ के राजवंश के साथ लगभग ३० वर्ष तक युद्ध चलता रहा और अंत में राजपूताना के सभी राजपूत राज्य, जिनमें मारवाड़, मेवाड़ और आमेर (जयपुर) प्रमुख थे, दिल्ली के नियंत्रण से स्वतंत्र हो गये।

मध्यदेश के बाहर हिंदुओं को संगठन का अधिक अवसर प्राप्त था क्योंकि मुगल शक्ति के केंद्र अर्थात् दिल्ली आगरा उनसे दूर थे। विशेषतया दक्षिण में विंध्य की पहाड़ी भूमि इस प्रकार के छापामार युद्ध के लिए अत्यंत उपयुक्त थी। महाराज शिवाजी (१६२७-१६८० ई०) के नेतृत्व में महाराष्ट्र ने सुसंगठित होना प्रारंभ किया और-धीरे धीरे समस्त दक्षिणापथ स्वतंत्र हो गया। आगे चल कर मध्यदेश के भी बहुत से भागों पर इन्होंने अधिकार कर लिया, जिनके अवशेष इंदौर तथा ग्वालियर के राज्य थे। नागपुर, झाँसी तथा ललितपुर के राज्य तो सन् १८५७ तक समाप्त हो गये थे। दिल्ली के अंतिम मुग़ल बादशाह तक मराठा शक्ति के अधीन हो चुके थे और लगभग समस्त पश्चिम-मध्यदेश उनकी शक्ति की परिधि के अंदर पहुँच चुका था। इस प्रकार दक्षिणापथ के इतिहास में प्राचीन सातवाहन, राष्ट्रकूट तथा विजयनगर के साम्राज्यों के भग्नावशेष पर एक नए शक्तिशाली साम्राज्य—महाराष्ट्र साम्राज्य—की नींव पड़ी। उधर पंजाब में गुरु नानक द्वारा स्थापित सिक्ख-संप्रदाय ने मुगलों के अत्याचारों से तंग आकर गुरु गोविंद सिंह के नेतृत्व में खालसा नाम से सैनिक संगठन करना आरंभ किया और पंजाब में मुग़ल सैनिक शक्ति को चैन नहीं लेने दिया। अंत में खालसा सिक्खों के प्रयत्न से पंजाब मुगलों के पंजे से मुक्त हो गया और वहां स्वतंत्र सिक्ख-राज्य की स्थापना हो गई। उत्तर में नैपाल का स्वतंत्र राज्य भी इसी समय स्थापित हुआ। इस प्रकार आर्यावर्त में स्वतंत्रता की आग फिर जगह जगह जलने लगी, यद्यपि यह वैसी सुसंगठित नहीं हो पाई थी जैसा उसे होना चाहिये था।

इस समय दो ओर से फिर नये विदेशी आक्रमण मध्यदेश पर प्रारंभ हुये। मुगलों के निर्बल

होने पर अफ़गानिस्तान स्वतंत्र मुसलमानी राज्य हो गया था। १७३६ ई० में वहां के शासक नादिरशाह ने पंजाब पर आक्रमण किया और दिल्ली तक लूट और क़त्ल अपने साथ ले कर आया। लाखों की हत्या करके और लगभग ७० करोड़ की संपत्ति लूटकर वह वापिस गया। कुछ दिन बाद अफ़गानिस्तान के एक दूसरे बादशाह अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब पर आक्रमण आरंभ किये। उसका विचार दिल्ली में एक नये मुसलमान राजवंश की स्थापना करने का कदाचित् था। उधर मराठा शक्ति का दाँत भी मध्यदेश पर था। १७६१ ई० में मध्यदेश के सीमाप्रदेश कुरुक्षेत्र के निकट पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली तथा मराठों की सेना में भयंकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में मराठा सेना को भारी धक्का लगा किंतु साथ ही अफ़गानिस्तान में कुछ झगड़े उठ खड़े होने के कारण अहमदशाह अब्दाली को वापिस जाना पड़ा। फलस्वरूप अफ़गानिस्तान की पहाड़ियां की रक्षा के लिए नये भारतीय साम्राज्य की संभावना को अहमदशाह अब्दाली ने अपने हाथ से खो दिया।

दूसरी विदेशी शक्ति अंग्रेजों की थी। साम्राज्यकाल में प्राचीन यूरोप की यूनानी जाति के संपर्क में उत्तरापथ का प्रदेश आया था। उसके बाद रोम साम्राज्यों के समय में भी भारत और यूरोप का संबंध व्यापार के नाते थोड़ा बहुत बना रहा। रोम साम्राज्य के क्षीण हो जाने पर उत्तर यूरोप की कुछ बर्बर जातियां, जो रोम की आर्यसंस्कृति के संपर्क से कुछ कुछ सभ्य हो गई थी, धीरे धीरे शक्तिशाली होतीं गईं। आगे आर्य-यूनानी संस्कृति के संपर्क से इनमें नवीन सांस्कृतिक जीवन आया। रोम साम्राज्य के समय में ही इनमें धर्म-परिवर्तन होने लगा था और इन्होंने धीरे-धीरे यहूदी सुधारक ईसामसीह के चलाये ईसाईधर्म को ग्रहण कर लिया था। १५ वीं शताब्दी के लगभग यूरोप के नये राज्य, जिनमें इटली के अतिरिक्त फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन, डच, जर्मन और इंगलैंड प्रमुख थे नवजीवन और नवीन स्फूर्ति से प्रेरित हुये। यूरोप और भारत के बीच पश्चिम-एशिया का मार्ग मुसलिम राज्यों के कारण बंद हो गया था अतः यूरोप में समुद्र के मार्ग से भारत पंहुँचने के यत्न प्रारंभ हुये। इसी उद्योग के फलस्वरूप १४९२ ई० में कोलंबस ने स्पेन के लिए संयोग से उत्तर अमरीका को खोज निकाला। १४९८ ई० में पुर्तगाली वास्को डि गामा ने भारत के समुद्री मार्ग का पहले-पहल पता लगाया और अपने देश के व्यापार की नींव यहां डाली। इसके उपरांत १६०१ ई० में डच लोगों ने भारत तथा पूर्वी टापुओं के साथ नियमित रूप से व्यापार प्रारंभ किया। इसी समय पुर्तगाल और स्पेन के इंगलैंड द्वारा पराजित हो जाने पर भारत के व्यापार के लिए अंग्रेज़ों ने ईस्ट इंडिया कंपनी क़ायम की (१६०० ई०)। उत्तर भारत इस समय मुगल वंश के अधीन था और उनकी शक्ति अपने चरम उत्कर्ष पर थी। लगभग एक शताब्दी तक अंग्रेज़ी व्यापार का काम चलता रहा। १६४२ ई० के बाद फ्रांस ने भी इस व्यापार में हाथ बंटाने के लिए कंपनियां क़ायम कीं और इस कारण फ्रांसीसी और अंग्रेज़ों में खींचतान शुरू हुई।

मुग़ल शासकों की शक्ति के क्षीण हो जाने पर १७०० ई० के बाद अंग्रेज़ी तथा फ्रांसीसी व्यापार-कंपनियों ने देश की राजनीति में हस्तक्षेप करना शुरू किया। इस महत्वाकांक्षा के कारण दक्षिण-भारत में दोनों में विशेष संघर्ष हुआ जिसमें अंग्रेज़ी कंपनी सबल सिद्ध हुई। उधर उत्तर-

भारत में बंगाल के नवाब दिल्ली के मुग़ल बादशाहों के नियंत्रण से स्वतंत्र हो गये थे किंतु उनकी आंतरिक अवस्था बहुत अच्छी नहीं थी। इस निर्बलता से अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कंपनी ने लाभ उठाया। १७५७ ई० के पलासी के युद्ध के फलस्वरूप बंगाल पर ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रभुत्व हो गया और वहां के नवाब नाममात्र के शासक रह गये। इस सरल विजय से अंग्रेजों की महत्वाकांक्षा बढ़ती गई और उनकी दृष्टि मध्यदेश के दिल्ली के अवशिष्ट साम्राज्य की ओर गई। १६६४ ई० में बिहार में (ज़िला शाहाबाद) बकसर का प्रसिद्ध युद्ध हुआ जिसने मध्यदेश के राजनीतिक भाग्य का निर्णय किया। इसमें एक ओर मध्यदेश के पुराने मुसलमान शासकों की सेनायें थीं अर्थात् दिल्ली के मुग़ल तथा अवध के नवाब-वज़ीर की और उनके साथ बंगाल के नवाब की भी और दूसरी ओर बढ़ती हुई नवीन विदेशी अंग्रेज़ी शक्ति की सेनायें थीं। इस युद्ध में विजय के फलस्वरूप पूर्व-मध्यदेश का बिहार प्रदेश अंग्रेजों के अधिकार में पहुँच गया। बक्सर युद्ध के तीन ही वर्ष पूर्व १७६१ ई० में पानीपत का एक दूसरा भाग्य निर्णायक युद्ध हो चुका था जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

पश्चिम मध्यदेश (वर्तमान उत्तरप्रदेश) पर अधिकार करने के लिये अब दक्षिणापथ की मराठा शक्ति और अंग्रेज़ों में संघर्ष आरंभ हुआ। दक्षिण-मध्यदेश अर्थात् बुंदेलखंड तथा राजपूताना के हिंदी राजवंशों में इतनी शक्ति नहीं थी कि वे पश्चिम मध्यदेश की स्वतंत्रता के लिए आगे बढ़ सकते। उमड़ती हुई नवीन मराठा शक्ति के सामने ये राज्य वृद्ध और जर्जर हो चुके थे। इस बीच अंग्रेज़ी कंपनी ने अवध के नवाब से रोहिलखंड (उत्तर पंचाल) और गोरखपुर (काशी जनपद) के ज़िले ले लिये थे। अब अंग्रेज़ी और मराठा शक्ति की मुठभेड़ अनिवार्य हो गई। १८०२ ई० से मराठा और अंग्रेज़ों का संघर्ष प्रारंभ हुआ। १८०३ ई० सिंधिया और अंग्रेज़ी फ़ौजों के बीच अलीगढ़ के निकट युद्ध हुआ जिसमें सिंधिया की सेना पराजित हुई और इसके फलस्वरूप पश्चिम-मध्यदेश पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया।

इसके बाद (१८१४-१६ ई०) नैपाल के गोरखों से भी अंग्रेज़ों का युद्ध हुआ किंतु इस प्रदेश को लेना सरल तथा लाभप्रद न समझ कर गोरखों से कंपनी ने संधि कर ली और केवल तराई, कुमायूं तथा गढ़वाल के प्रदेश कंपनी के हाथ आये। दक्षिणापथ में स्वतंत्र मराठा शक्ति अग्रज़ों के हाथ से १८२७-३० ई० के द्वितीय मराठा युद्धों के फलस्वरूप समाप्त हुई और मराठा साम्राज्य के प्रतिनिधि अंतिम पेशवा कानपुर के पास बिठूर में पेंशिन देकर रख दिये गये। १८२६ ई० में भरतपुर का घेरा भी एक उल्लेखनीय घटना थी। ग्वालियर के सिंधिया पर अंग्रेज़ों का पूर्ण अधिकार १८४३ ई० के युद्ध के बाद हो सका। मध्यदेश पर पूर्ण अधिकार हो जाने के बाद कंपनी की लालच भरी दृष्टि उत्तरापथ में पंजाब पर पड़ी जहां महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु (१८३६ ई०) के कारण अव्यवस्था थी। १८४५ ई० और १८४८ ई० के युद्धों में सिक्ख बहुत बहादुरी से लड़े किंतु अंत में सफल न हो सके और पंजाब पर भी कंपनी का अधिकार हो गया।

मध्यदेश में १८५३ ई० में झाँसी का मराठा राज्य कंपनी ने ले लिया। १८५४ ई० में नागपुर का भोंसला राज्य कंपनी के हाथ आया और इस प्रकार वर्तमान मध्यप्रांत की नींव पड़ी।

अवध की नवाबी अब तक भी नाममात्र को चल रही थी, किंतु १८५६ ई० में इसका भी अंत हो गया और अवध कंपनी के सीधे शासन में आ गया। इस प्रकार १७६४ ई० में बकसर के युद्ध से आरंभ होकर १८५६ ई० तक मध्यदेश के अधिकांश भाग पर अंग्रेज़ी कंपनी का राज्य स्थापित हो गया। इसका सूत्रपात तो पलासी के युद्ध के फलस्वरूप १७५७ ई० में हो गया था। लगभग १०० वर्ष के संघर्ष के फलस्वरूप अंग्रेज़ों के हाथ में मध्यदेश का शासन आ गया, किंतु दक्षिण मध्यदेश का अधिकांश भाग अब भी सीधे कंपनी के शासन में नहीं था। राजस्थान तथा मध्यभारत में प्राचीन राज्यवंश तथा नवीन मराठा राज्य अब भी अवशिष्ट थे। उन्हें अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, किंतु यों अंतरंग प्रबंध की दृष्टि से ये अब भी स्वतंत्र थे।

किंतु अंग्रेज़ों की इस बढ़ती हुई शक्ति के विरुद्ध मध्यदेश के प्रत्येक वर्ग में असंतोष था, विशेषतया वे पुराने शासक-वर्ग अंदर ही अंदर कुढ़ रहे थे जिनके राज्यों को छीन कर अंग्रेज़ों ने अपने अधिकार में कर लिया था। इनमें मुख्य दिल्ली के मुग़ल सम्राट्, अवध के नवाब और रोहिलखंड के नवाव के वंशज थे। इनके साथ समान आपत्ति के कारण सहानुभूति रखने वालों में मराठा थे, जिनमें झांसी की रानी तथा बिठूर (कानपुर) में रहनेवाले पेशवा प्रमुख थे। यह असंतोष की आग धीरे-धीरे सुलगती रही और अंत में १८५७ ई० में प्रसिद्ध विप्लव के रूप में यकायक भड़की।

सन् १८५७ ई० का विप्लव यों तो मध्यदेश के हिंदुस्तानी (ब्राह्मण और राजपूत) सिपाहियों के विद्रोह के रूप में प्रारंभ हुआ किंतु इसको विशेष प्रोत्साहन उपर्युक्त मुसलमानों और मराठा शासकों द्वारा मिला। इसके अतिरिक्त जनता भी नये विदेशी ईसाई शासकों की नीति से सशंकित थी। इस विद्रोह के संबंध में यह भी भ्रम है कि यह समस्त भारतवर्ष से संबंध रखनेवाला विप्लव था। किंतु विद्रोह के प्रधान केंद्रों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका संबंध केवल मध्यदेश हिंदी प्रदेश से था। ग़दर के प्रधान स्थान मेरठ, दिल्ली, बरेली, कानपुर, इलाहाबाद, झाँसी, लखनऊ, बनारस और पटना थे। इस विद्रोह को अंग्रेज़ों ने मध्यदेश के पड़ोसी प्रांतों की सेनाओं की सहायता से दबाया जिनमें मुख्य पंजाब के सिक्ख, दक्षिण की मद्रासी पलटन और नैपाल की गुरखा पलटन थी। पड़ोस के कुछ मराठा और राजपूत राज्यों ने भी अंग्रेज़ों को सहायता दी। इसी समय से अंग्रेज़ों की भारतीय सेना में मध्यदेश के लोग, विशेषतया ब्राह्मण और राजपूत, शंका की दृष्टि से देखे जाने लगे थे और-धीरे धीरे इनकी पलटनें तोड़ दी गई थीं। सुसंगठित केंद्रीय यत्न के अभाव में यह विद्रोह सफल नहीं हो सका। इसके शांत होने पर भारत का शासन ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से हट कर सीधे इंगलैंड के राजा और पार्लीमेंट के हाथ में चला गया।

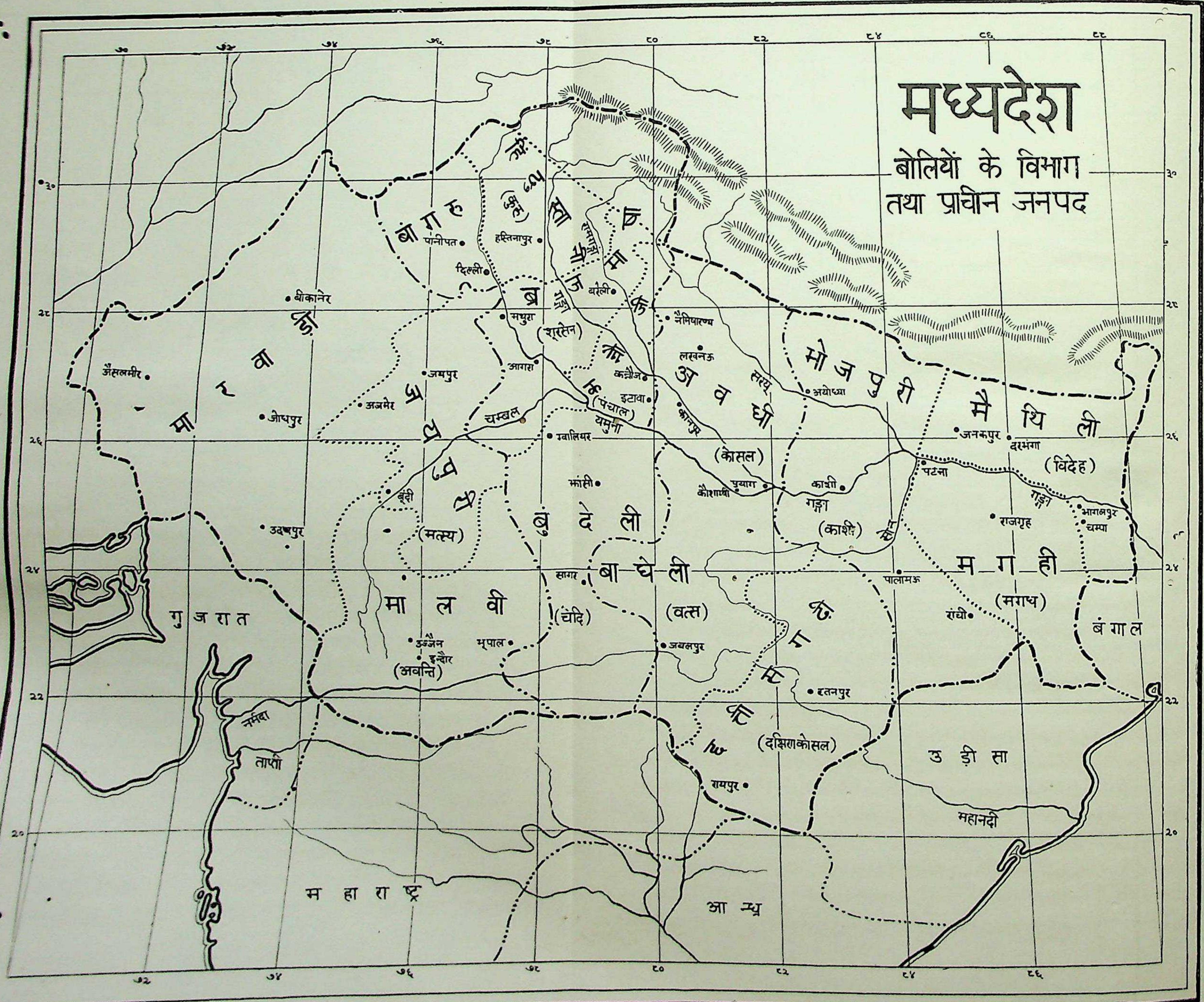
अब स्वतंत्रता के आंदोलन ने दूसरा रूप पकड़ा। १८७८ ई० में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई जिसका प्रारंभ में उद्देश्य भारत के शासन में कुछ सुधार करवाना मात्र था। धीरे-धीरे यह राष्ट्रीय महासभा बल पकड़ती गई। यूरोपीय दृष्टिकोण की राष्ट्रीयता की भावना बंगाल में सब से अधिक बलवती थी क्योंकि यह प्रदेश अंग्रेज़ी शासन में दीर्घकाल तक रह चुका था। १९०५ ई० में बंगाल जब दो टुकड़ों में बाँटा गया तो वहां के लोगों ने यह अनुभव किया कि

उनकी सामूहिक शक्ति को छिन्न-भिन्न किया जा रहा है। फलतः बंग-भंग का आंदोलन आरंभ हुआ जिसमें स्वदेशी के प्रचार और विदेशी वस्तुओं के बायकाट पर विशेष ज़ोर दिया गया। १९०७-८ ई० में इसी ने क्रांतिकारी रूप लिया। यह आंदोलन बंगाल तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि भारतव्यापी हो गया। १९११ में वंग-विच्छेद रद्द कर दिया गया।

कांग्रेस महासभा की स्थापना तथा संचालन में केवल अंग्रेज़ी पढ़े लिखे उच्च वर्ग के लोगों का हाथ था। वंग-भंग के आंदोलन के फलस्वरूप राजनीतिक जागृति समाज के मध्यवर्ग में पहुँची। किंतु स्वतंत्र भारत के संदेश को जनसाधारण तक पहुंचाने का श्रेय महात्मा गांधी को है। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८ ई०) के बाद महात्मा गांधी ने कांग्रेस महासभा की संरक्षिता में असहयोग आंदोलन (१९१८-२० ई०) प्रारंभ किया और उसके लगभग दस दस वर्ष बाद दो अन्य आंदोलन चलाये, जिन्हें सत्याग्रह आंदोलन (१९३०-३२) तथा स्वतंत्रता-संबंधी विद्रोह (१९४२-४३) कहा जा सकता है। इस लगभग तीन वर्ष के देशव्यापी राजनीतिक आंदोलन तथा संगठन के फलस्वरूप १५ अगस्त १९४७ ई० को अंग्रेज़ी विदेशी शासक भारत छोड़ कर चले गये और देश का राजनीतिक शासन लगभग सात-आठ सौ वर्ष बाद देशवासियों के हाथ में लौटा। अंग्रेज़ी कुचक्रों के फलस्वरूप भारत दो खंडों में अवश्य बँट गया।

महात्मा गांधी का राजनीतिक संदेश संक्षेप में निम्नलिखित था:--(१) जनसाधारण के हाथ में राजनीतिक शक्ति को लौटाना, (२) राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के लिए सामूहिक त्याग और तपस्या का आदर्श उपस्थित करना, तथा (३) अहिंसा और सत्य के नैतिक सिद्धांतों का राजनीतिक के क्षेत्र में सफल प्रयोग करके दिखला देना।

स्वतंत्र भारत का विधान बन गया है तथा देश का नवीन शासन इस विधान के अनुसार चलने लगा है। अनुभवों के फलस्वरूप शासनव्यवस्था में कदाचित् अनेक परिवर्तन करने पड़ें। एक जीवित राष्ट्र के प्रारंभिक काल में ऐसा होना स्वाभाविक है। यह वास्तव में जीवन का लक्षण है। भारतीय शिक्षा-प्रणाली प्राप्त पीढ़ियों के हाथ में जब शासन की बागडोर पहुँचेगी तब देश के विधान और शासन को स्थायी रूप मिल सकेगा। तब तक के काल को परिवर्तन अथवा संधि काल कहा जा सकता है।



मध्यदेश
बोलियों के विभाग
तथा प्राचीन जनपद
बांगरू
पानीपत
हस्तिनापुर
दिल्ली
(कुरु)
ब्रज
मथुरा
(शूरसेन)
आगरा
बरेली
नैमिषारण्य
कन्नौज
इटावा
(पंचाल)
लखनऊ
अवधी
(कोसल)
अयोध्या
कानपुर
सरयू
भोजपुरी
मैथिली
जनकपुर
दरभंगा
(विदेह)
पटना
काशी
(काशी)
प्रयाग
कौशाम्बी
गङ्गा
राजगृह
भागलपुर
चम्पा
मगही
(मगध)
पालामऊ
रांची
बंगाल
बीकानेर
जैसलमीर
जोधपुर
मारवाड़ी
अजमेर
जयपुर
चम्बल
यमुना
ग्वालियर
झांसी
बूंदी
(मत्स्य)
उदयपुर
बुंदेली
बाघेली
सागर
(चेदि)
(वत्स)
जबलपुर
मालवी
उज्जैन
भूपाल
इन्दौर
(अवन्ति)
गुजरात
नर्मदा
ताप्ती
रतनपुर
(दक्षिणकोसल)
रायपुर
उड़ीसा
महानदी
महाराष्ट्र
आन्ध्र

१४. सांस्कृतिक नवचेतना तथा पुनरुत्थान

उन्नीसवीं शताब्दी में देश में नवचेतना का आरंभ केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं हुआ, बल्कि वह संस्कृति के समस्त अंगों से संबंध रखता है।

पौराणिक सनातनधर्म का वर्तमान रूप पढ़े-लिखे भारतीय को संतोष देने में असमर्थ था, फलस्वरूप अनेक धार्मिक सुधार-आंदोलन देश के शिक्षित वर्ग में प्रारंभ हुये, जैसे बंगाल में ब्रह्मसमाज, दक्षिण-भारत में थियासोफ़ी तथा महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज। इन सब की प्रेरणा के मूल स्रोत वेदांत, उपनिषद्, गीता, अंग्रेजी शिक्षा तथा ईसाई धर्म के भ्रातृभाव के सिद्धांत कहे जा सकते हैं। मध्यदेश पर विशेष प्रभाव डालने वाले आंदोलनों में स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा स्थापित आर्यसमाज मुख्य था। स्वामी दयानंद सरस्वती अंग्रेजी पढ़े विद्वान् नहीं थे। वे संस्कृत के पंडित थे। उन्होंने मध्ययुगीन पौराणिक परंपराओं को हटाकर प्राचीन मध्यदेश के वैदिक आर्य आदर्शों की ओर समाज को मोड़ना चाहा। फलस्वरूप इन आदर्शों की प्रचारक संस्था का नाम इन्होंने आर्यसमाज रक्खा। वैदिक भाषा और साहित्य के अध्ययन, गुरुकुल की शिक्षा-प्रणाली, कर्मप्रधान वर्णधर्म की व्यवस्था तथा आश्रमधर्म आदि का संदेश उन्होंने दिया। वे केवल प्रतिक्रियावादी नहीं थे, बल्कि स्वराज्य, स्वदेश तथा स्वभाषा आदि के महत्व पर भी बराबर बल देते थे। वे विदेशी शासन के ही विरोधी नहीं थे, बल्कि विदेशी धर्म, विदेशी भाषा और विदेशी संस्कृति का भी मूलोच्छेदन करना चाहते थे। किंतु साथ ही उन्होंने पौराणिक-कालीन धार्मिक भावनाओं, साहित्य तथा संस्कृति का भी विरोध किया है। स्वामी जी की सुधार-योजना केवल धर्म तक सीमित नहीं थी बल्कि उसके अंतर्गत समाज सुधार, शिक्षा-सुधार, तथा राजनीतिक सुधार भी सम्मिलित था। आर्यसमाज का सीधा प्रभाव पंजाब तथा मध्यदेश की नागरिक जनता पर विशेष पड़ा, साथ ही उसने सर्वसाधारण के पौराणिक विचारों को भी परिवर्तित तथा प्रेरित करने में सहायता पहुँचाई। विदेशी इस्लाम और ईसाई धर्मों के प्रचार को रोकने में भी आर्यसमाज का आंदोलन बहुत सहायक सिद्ध हुआ। भारत में विदेशी धर्मों की समस्या को आर्यसमाज शुद्धि के द्वारा स्थायी रूप में सुलझाने के पक्ष में रहा।

मध्यदेश से संबंध रखनेवाला दूसरा धार्मिक सुधार आंदोलन राधास्वामी संप्रदाय का कहा जा सकता है। इसकी विचारधारा का संबंध संत-परंपराओं से है, जिनमें हमें साधना और भक्ति का मिश्रण मिलता है। राधास्वामी-संप्रदाय ने नवीन औद्योगिक आवश्यकताओं पर भी बल दिया, जिसके फलस्वरूप आगरा के निकट इस संप्रदाय का प्रधान केंद्र दयालबाग में बना। राधास्वामी संप्रदाय का मध्यदेश पर वैसा व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा है जैसा आर्यसमाज का पड़ा है।

जनसाधारण का धर्म अभी भी पौराणिक सनातनधर्म है, जिसके अंतर्गत अनेक वैष्णव, शैव और शाक्त संप्रदाय चल रहे हैं। गंगा जी का महात्म्य, तीर्थ स्थानों का महत्व, गोरक्षा की भावना, श्राद्ध तथा धार्मिक व्रत-उत्सवों आदि का मनाना इसके मुख्य बाहरी लक्षण हैं। आस्तिकता की भावना, पुनर्जन्म तथा कर्मफल में विश्वास और जन्मगत बिरादरी, व्यवस्था इसके मौलिक सिद्धांत कहे जा सकते हैं। धर्मग्रंथों के रूप में गीता, उपनिषद्, भागवत तथा तुलसीकृत रामायण का पाठ पढ़े लिखे लोगों में होता है। वेदों में आस्था केवल मौखिक है। सर्वसाधारण में इन सबका स्थान सत्यनारायण की कथा और कीर्तन ने ले लिया है। सनातनधर्म को नवीन रूप देने और उसमें नवचेतना उपस्थित करने का प्रयास हो रहा है। अभी कोई ऐसा बड़ा व्यक्तित्व पैदा नहीं हुआ है जो प्राचीन नींव पर जनता के धर्म के मंदिर का नवयुग के अनुरूप उचित निर्माण कर सके।

समाज के सीमित वर्गों में जैनधर्म चल रहा है। विदेशी धर्मों में इस्लाम तथा ईसाई धर्म मिलते हैं, किंतु विदेशी राज्यों की समाप्ति के बाद इनकी प्रेरणाशक्ति समाप्त हो गई है।

समाज सुधार की ओर भी सुधारकों का ध्यान गया। जहांतक सनातनधर्मी तथा मुसलमान और ईसाई वर्गों के आपस के संबंधों की समस्या का प्रश्न है उसे अभी तक सुलझाया नहीं जा सका है। मुसलमान और ईसाई केवल धर्म नहीं हैं, बल्कि सर्वांगीण विदेशी संस्कृतियां हैं, अतः इनके साथ समझौता करने में स्वदेशी समाज असमर्थ है। आर्यसमाज की शुद्धि-योजना को राजनीतिक स्वतंत्रता आंदोलन के कारण स्थगित कर देना पड़ा था। हिंदू-मुस्लिम समस्या को सुलझाने का महात्मा गांधी का हृदय-परिवर्तन संबंधी उपचार सफल सिद्ध नहीं हुआ। पाकिस्तान बन जाने पर भी यह समस्या अभी भी क़ायम है। यदि विदेशी धर्मावलंबी संस्कृति के अन्य अंगों की दृष्टि से भारतीय बनाये जा सकें तो यह समस्या बहुत कुछ सुलझ सकती है।

हिंदू समाज में अछूतों की समस्या पर स्वामी दयानंद सरस्वती तथा महात्मा गांधी दोनों ने अपने अपने ढंग से बल दिया था और फलस्वरूप यह बहुत कुछ सुलझने के निकट दिखलाई पड़ रही है। समाज में बिरादरी-व्यवस्था भोजन में तो अब उतने संकीर्ण रूप में नहीं दिखलाई पड़ती है, किंतु विवाह संबंध के क्षेत्र में उसमें अभी भी विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। आर्यसमाज का कर्मगत वर्णव्यवस्था का सिद्धांत व्यवहार में उसी प्रकार सफल नहीं हो सका जिसप्रकार इस संबंध में बौद्ध और जैन सुधार तथा संत-संप्रदाय सफल नहीं हो सके थे। जिस ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक स्तर पर इस मौलिक समस्या को सुलझाने की आवश्यकता है वैसा प्रयास इस संबंध में अभी नहीं हुआ है।

प्रथम विदेशी संघर्ष के फलस्वरूप स्त्रियों का स्थान समाज में अत्यंत निम्न हो गया था। योरोपीय सामाजिक आदर्शों तथा आर्यसमाज द्वारा प्रचारित वैदिक आदर्शों का प्रभाव स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर विशेष पड़ा। स्त्री-शिक्षा, पर्दे के रिवाज का उठ जाना, सामाजिक क्षेत्रों में स्त्रियों का सहयोग, बाल विवाह का कम हो जाना आदि स्त्री-सुधार आंदोलन के स्पष्ट फल हैं। किंतु भारतीय समाज में और परिवार में स्त्रियों का स्थान क्या हो तथा पति-पत्नी के संबंध का रूप क्या होना चाहिये इस विषय में अभी भी विचारों में स्थिरता नहीं आ सकी है।

शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेज़ी शासकों ने इस देश में अंग्रेज़ी शिक्षा प्रणाली प्रारंभ की और इसके फलस्वरूप यूरोपीय दृष्टिकोण से ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का प्रारंभ अंग्रेज़ी माध्यम के द्वारा हुआ। बहुत बड़ी संख्या में अंग्रेज़ी स्कूल, कालेज और यूनिवर्सिटियां स्थापित हुईं। यदि देश में अंग्रेज़ी शासन नहीं भी होता तो भी उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव देश पर पड़ता, जैसे जापान, तुर्की, ईरान, चीन आदि अन्य स्वतंत्र देशों की शिक्षा-प्रणाली पर पड़ा। अंतर केवल इतना होता कि उस अवस्था में ज्ञान-विज्ञान की नींव भारतीय होती और शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषायें होतीं। फलस्वरूप गत सौ सवा सौ वर्ष में प्रचुर उपयोगी साहित्य बन गया होता, शिक्षित वर्ग और जनसाधारण के बीच उतना भेद नहीं दिखलाई पड़ता, तथा शिक्षित जनता का प्रतिशत आज से बहुत अधिक होता।

शासन के संरक्षण के अभाव में आर्यसमाज द्वारा संचालित गुरुकुल, तथा कांग्रेस आंदोलन की प्रेरणा द्वारा स्थापित विद्यापीठ अधिक सफल नहीं हो सके। महामना मालवीय जी द्वारा स्थापित हिंदू विश्वविद्यालय भी एक ऐंग्लो-इंडियन संस्था ही बन कर रह गई। अलीगढ़ की मुस्लिम यूनिवर्सिटी ऐंग्लो-मुस्लिम शिक्षित वर्ग बनाने के लिए अंग्रेज़ी शासकों ने स्थापित की थी। इसमें वे सफल हुये। महात्मा गांधी की प्रेरणा से बेसिक शिक्षा-संबंधी प्रयोग हुये। जो हो, आधुनिक शिक्षा प्रणाली तथा ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी मध्यदेश के इतिहास में असाधारण महत्व रखती है। यदि गत डेढ़-सौ वर्ष में विदेशी शासन देश में न होता तो देश ने इस क्षेत्र में इतनी उन्नति कर ली होती जितनी यूरोप के स्वतंत्र देश गत ३००-४०० वर्षों में कर सके। स्वदेशी शिक्षाप्रणाली की भावी रूपरेखा स्थायी रूप से स्थिर करने के प्रयास प्रारंभ हो गये हैं, जिनमें निकट भविष्य में सफलता की संभावना है। इस संबंध में एक मौलिक सिद्धांत यह होना चाहिये कि शिक्षा का संचालन शिक्षाविज्ञों के हाथ में पूर्णतया दे दिया जावे, शासन को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। न्याय तथा उच्च शिक्षा को शासन के नियंत्रण से मुक्त रखना देश के हित के लिए नितांत आवश्यक है।

कलाओं, जैसे संगीत, चित्रकला, वास्तुकला, शिल्पकला आदि के क्षेत्रों में नवचेतना का प्रारंभ बंगाल तथा महाराष्ट्र के केंद्रों से प्रारंभ हुआ था और अब धीरे-धीरे यह मध्यदेश में फैल रही है। प्रथम विदेशी संघर्ष के काल में यहां की कला की परंपराएं बहुत कुछ नष्ट तथा विकृत हो गई थीं, किंतु इनका जीर्णोद्धार असंभव नहीं है। कत्थक नृत्य शैली, हिंदुस्तानी संगीत, राजपूत तथा पहाड़ी चित्रकला आदि के रूप में अभी भी मध्यदेशीय परंपरायें सुरक्षित हैं जिन्हें परिष्कृत करके आसानी से विकसित किया जा सकता है। इसी प्रकार गृह निर्माण, पहिनावे, भोजन आदि में भी प्राचीन परंपराओं के आधार पर सुधार संभव है।

आर्थिक दृष्टि से अंग्रेज़ी शासनकाल भारत तथा मध्यदेश के इतिहास में अत्यंत दुरवस्था का काल कहा जा सकता है। कृषि के क्षेत्र में नवीन उन्नत उपायों का उपयोग न करने, प्राचीन उद्योग-धंधों के नष्ट कर देने, नवीन उद्योग-धंधों को आरंभ न करने तथा विदेशी, विशेषतया अंग्रेज़ी, माल की खपत के कारण देश जितना इस काल में निर्धन हुआ वैसा कभी नहीं हुआ था।

मुस्लिम विदेशी शासकों ने मध्यदेश में अपना घर बना लिया था अतः देश का अधिकांश धन यहां ही व्यय होता था। अंग्रेज़ी शासक इंगलैंड में बैठ कर ही शासन करते रहे, अतः देश की संपत्ति निरंतर बाहर खिंचती रही। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अपना शासन आर्थिक सुधार के संबंध में विशेष जागरूक है। देश की अधिकांश योजनाओं का उद्देश्य आर्थिक स्थिति में सुधार करना है।

दीर्घकालीन विदेशी शासन के कारण देश को जो सब से अधिक क्षति पहुँची वह जनता के नैतिक स्तर से संबंध रखती है। स्वतंत्र देशों की तुलना में देशवासियों का नैतिक स्तर साधारणतया चरम पतन को पहुँच गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक सुधार आंदोलनों तथा महात्मा गांधी के राजनीतिक आंदोलन ने नैतिक स्तर को ठीक करने की ओर बराबर ध्यान दिया, किंतु इसमें अभी भी पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। नैतिक निर्बलता के कारण देश के पुनर्निर्माण में पग-पग पर कठिनाइयां पड़ रही हैं। नैतिक स्तर को ठीक करने में धार्मिक शिक्षा एक बहुत बड़ा साधन है, जिसका अभी उचित प्रयोग नहीं हो सका है।

संक्षेप में मध्यदेशीय जीवन के प्रत्येक अंग में नवचेतना और पुनरुत्थान के लक्षण उन्नीसवीं शताब्दी में ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे थे। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ये अधिक अग्रसर हुये। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इनके पूर्ण विकास में अब कोई बाधा ही नहीं रह गई है, बल्कि देश की संपूर्ण शक्ति इसमें सहायक हो सकेगी। अतः यह निश्चित है कि देश के दीर्घकालीन इतिहास में एक नवीन युग—नवचेतना और पुनरुत्थान का युग—प्रारंभ हो चुका है। यह युग मध्यदेश के प्राचीन जनपद-युग का आधुनिक रूप होगा, ऐसी संभावना दिखलाई पड़ती है।

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

[सूचना--इस विषयानुक्रमणिका में अंक पृष्ठों के द्योतक हैं।]


राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
विभाग G-2
पुस्तक मान संख्या 52
State Museum Library, Lucknow

